आचार्य तुलसी की साहित्य सम्पदा

(भाग-१)

समणी कुसुमप्रज्ञा

आचार्य तुलसी की साहित्य सम्पदा

समणी कुसुमप्रज्ञा

जैन विश्व भारती प्रकाशन

प्रकाशक :
जैन विश्व भारती
लाडनूं (राजस्थान)

ISB No. 81-7195-034-5

प्रियधर्मी स्वर्गीय पूज्य पिताश्री नाथुलालजी तातेड़ (धानीन) की
पुण्य स्मृति में श्रीमती पानीदेवी शांतिलाल एवं पौत्र दिलीप
रजनीश तातेड़ द्वारा एस. सी. ज्वेल्लर्स, एम. जी. रोड़,
तुलसी भवन, घाटकोपर (वेस्ट) बम्बई-86
के सौजन्य से

प्रथम संस्करण : सन् १९९४

पृष्ठ : २८०

मूल्य : ४०.०० रुपये

मुद्रक :
जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनूं

राष्ट्रपति
भारत गणतंत्र
PRESIDENT
REPUBLIC OF INDIA

संदेश

आचार्य तुलसी का अणुव्रत आंदोलन व्यक्ति की नैतिक शक्ति को सुदृढ़ करके उसकी सृजनात्मक क्षमता के विकास का आंदोलन है। इस आंदोलन में व्यक्ति और राष्ट्र दोनों का हित निहित है।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि समणी कुसुमप्रज्ञा ने आचार्य तुलसी के विचारों को सूचीबद्ध किया है। इससे उनके साहित्य पर शोध का सरल मार्ग प्रशस्त हो सकेगा।

इस कार्य के लिए मेरी शुभकामनाएं।

शंकर दयाल शर्मा

(शंकर दयाल शर्मा)

नई दिल्ली
24 फरवरी, 1994

सत्यम्

साहित्य एक ऐसी विधा है, जिस पर जितना श्रम किया जाए उतना ही लाभ है। स्वयं का ही नहीं, दूसरों का लाभ इसमें ज्यादा निहित है, पर श्रम करना कितना कठिन है ! वह भी पूरे मनोयोग से करना और भी कठिन है। मैंने अपना साहित्य लिखा या लिखाया, उस समय ऐसी कोई कल्पना नहीं की थी कि इस साहित्य का इतना मंथन किया जाएगा, पर नियति है कि इस साहित्य पर इतना मंथन हुआ है।

समणी कुसुमप्रज्ञा दुबली-पतली है, पर बड़ी श्रमशील है। वह श्रम करती अघाती ही नही, करती ही चली जाती है। उसने कुछ ऐसे अपूर्व ग्रन्थ तैयार कर दिए हैं, जो युग-युगान्तर तक लाखों-लाखों लोगों के लिए लाभकारी एवं उपयोगी सिद्ध हो सकेंगे। 'एक बूंद : एक सागर' (पांच खंडों में) एक ऐसा ही सूक्ति-संग्रह है, जिसकी मिशाल मिलना मुश्किल है। यह दूसरा ग्रन्थ तो और भी अधिक श्रमसाध्य है। इसमें समूचे साहित्य का अवगाहन कर उसका सार प्रस्तुत कर दिया है। इसके माध्यम से सैकड़ों शोध-विद्यार्थी आसानी से रिसर्च कर सकते है।

समणी कुसुमप्रज्ञा श्रम के इस क्रम को चालू रखे। केवल यही नही, अध्यात्म के क्षेत्र में जितनी गहराई में उतर सके, उतरने का प्रयत्न करे। हमारे धर्मसघ की सेवा का जो अपूर्व अवसर मिला है, उससे वह स्वय लाभान्वित हो तथा दूसरो को भी लाभान्वित करे। समणी उभयथा स्वस्थ रहे, यही शुभाशसा है।

जयपुर
२५-३-९४ शुक्रवार

अणुव्रत अनुशास्ता गणाधिपति तुलसी

शिवम्

'अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य तुलसी' यह नाम किसी व्यक्ति का वाचक नही, व्यापक धर्म की अवधारणा का प्रतिनिधि है। अणुव्रत अनुशास्ता ने धर्म को व्यापक बनाकर उसे सत्य के सिंहासन पर आसीन किया है।

'वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी' यह नाम विशाल ज्ञान-राशि का प्रतिनिधि है। जो कहा, वह श्रुत बन गया। जो लिखा, वह वाङ्मय बन गया।

दृष्ट, श्रुत और अनुभूति की संयोजना का एक दीर्घकालिक इतिहास है। समणी कुसुमप्रज्ञा ने विशाल ज्ञानराशि की संकेत पदावलि को प्रस्तुत पुस्तक में संदर्शित करने का प्रयास किया है। इससे पाठक को उस विशाल श्रुत से परिचित होने का अवसर मिलेगा। समणी कुसुमप्रज्ञा का प्रयास अपने आप में अर्थवान् है।

वनीपार्क, जयपुर
१९-३-९४

आचार्य महाप्रज्ञ

सुन्दरम्

गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी तेरापंथ धर्मसंघ के आचार्य रूप में जितने प्रख्यात हुए हैं, 'अणुव्रत अनुशास्ता' के रूप में उससे भी अधिक प्रसिद्धि आपने अर्जित की है। आपका कर्तृत्व अमाप्य है। उसे मापने का कोई पैमाना दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है। आपके कर्तृत्व का एक घटक है—आपका साहित्य। हिन्दी, राजस्थानी और संस्कृत में आप द्वारा लिखे गए गद्यात्मक और पद्यात्मक ग्रंथ साहित्य-भंडार की अमूल्य धरोहर हैं।

हिन्दी भाषा में आपके प्रवचनों और निबन्धों की बहुत पुस्तकें है। विषयों की दृष्टि से वे बहुआयामी है। उनका अनुशीलन किया जाए तो बहुत ज्ञान हो सकता है। अहिंसा, आचार, धर्म, अणुव्रत आदि सैकड़ों विषयों मे आपके अनुभव और चिन्तन ने विचारों के नए क्षितिज उन्मुक्त किए है। कोई शोधार्थी किसी एक विषय पर काम करना चाहे तो विकीर्ण सामग्री को व्यवस्थित करना बहुत श्रमसाध्य प्रतीत होता है। समणी कुसुमप्रज्ञा ने इस क्षेत्र में एक नया प्रयोग किया है। निष्ठा और पुरुषार्थ को एक साथ संयोजित कर उसने आचार्य तुलसी के साहित्य का एक व्यवस्थित पर्यवेक्षण किया है और प्रायः सभी पुस्तकों के लेखों एवं प्रवचनों को विषयवार प्रस्तुति देनें का कठिन काम किया है। इसके साथ कुछ परिशिष्ट जोड़कर शोध का मार्ग सुगम बना दिया है। उसके द्वारा की गई साहित्य की मीमासा भी पठनीय है। समणी कुसुमप्रज्ञा का श्रम पाठकों और शोध विद्यार्थियों के श्रम को हल्का करेगा, ऐसी आशा है।

जयपुर
२४-३-९४

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

प्रकाशकीय

गणाधिपति तुलसी वहुआयामी साहित्य के सृजनकार है। अणुव्रत आदोलन के प्रवर्त्तक तुलसीजी एक महान् साधक एवम् आध्यात्मिक युगपुरुप भी है। अपने साहित्य के माध्यम से वे मानवीय मूल्यों के प्रति जन-चेतना का सृजन अनेक वर्षो से अपनी लेखनी एवम् व्यवहार द्वारा कर रहे है। यहा तक कि उनका डायरी-लेखन भी उनके आत्मवादी विचार-दर्शन का सागोपाग अभिलेख है।

उनके व्यापक साहित्य का पर्यवेक्षण करना कोई सहज कार्य नही है, वल्कि अत्यन्त दुष्कर भी है। आदरणीया समणी कुसुमप्रज्ञाजी ने गणाधिपति तुलसीजी के साहित्य का पर्यवेक्षण कर एक वड़ी उपलव्धि प्राप्त की है। उनकी इस प्रस्तुति से अध्यात्म एव साहित्यजगत् समग्र रूप से उपकृत होगा, इसमे कोई सन्देह नही है। जैन विश्व भारती इस कृति का प्रकाशन कर गौरव की अनुभूति कर रही है।

लाडनू (राजस्थान)
दि० ५-४-१९९४
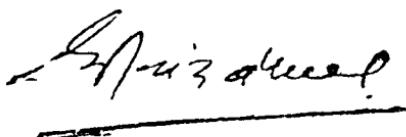
श्रीचन्द वैगानी
अध्यक्ष
जैन विश्व भारती

भूमिका

भारत के धर्म-पुरुषो मे आचार्य तुलसी का अप्रतिम स्थान है। वे "तेरापन्थ सघ" के शलाका पुरुष है। उनका सम्पूर्ण जीवन त्याग और तपस्या से ओतप्रोत रहा है। ग्यारह वर्ष की अल्पायु मे साधु बने और किशोर होते-होते बाईस वर्ष की अवस्था मे संघ के आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित हो गए। आज वे अस्सी पार कर चुके है, किंतु उनका चैतन्य और उनकी कर्मठता किसी युवक को भी लजा सकती है।

आचार्यश्री बड़े मेधावी हैं। उनकी बुद्धि बचपन से ही प्रखर रही है। उन्होने जैन वाङ्मय का ही नही, भारतीय वाङ्मय का गहन-गम्भीर अध्ययन किया। उनकी प्रज्ञा उत्तरोत्तर विकसित होती गई। उन्होंने अपने संघ को अद्भुत गरिमा प्रदान की और उसके पटल को बहुत ही व्यापक बनाया।

आचार्यश्री ओजस्वी वक्ता है। जब वे बोलते हैं तो हजारो नर-नारियो की भीड़ उन्हे मत्र-मुग्ध होकर सुनती है। अपने प्रवचनों मे वे धर्म के गूढ तत्त्वो की ही चर्चा नही करते, उन्हें इतना बोधगम्य बना देते हैं कि उनकी बात सहज ही सामान्य-से-सामान्य व्यक्ति के गले उतर जाती है।

आचार्यश्री जितने प्रभावशाली वक्ता हैं, उतने ही प्रभावशाली लेखक भी हैं। उनके लेखन की सबसे बडी विशेषता यह है कि उन्होने लिखने के लिए कभी कुछ नही लिखा। उनका जीवन लोक-मगल के लिए समर्पित है। इसलिए उनका लेखन भी एक ऊचे ध्येय से प्रेरित है।

आज से लगभग चालीस वर्ष पूर्व आचार्य विनोबा भावे ने भूदान आदोलन का सूत्रपात किया था। उसी काल में आचार्य तुलसी ने अणुव्रत-आदोलन का प्रवर्तन किया। अणुव्रत-आंदोलन को जन-जन तक पहुंचाने के लिए उन्होने पूरे देश की परिक्रमा की और पन्द्रह-सोलह वर्ष उस अनुष्ठान की पूर्ति मे लगा दिए। मनुष्य अच्छा मनुष्य बने, उसके अन्दर मानवीय गुणो का विकास हो, अपने कर्त्तव्य को वह जाने और निष्ठापूर्वक उसका पालन करे, समष्टि के हित मे वह अपना हित अनुभव करे, यह अणुव्रत का अभिप्रेत था। इसके लिए उन्होने घर-घर अलख जगाया। आज तो अणुव्रत के साथ मानव-जीवन के परिशोधन के लिए और भी कई आयाम जुड़ गए है, जिनमे

प्रेक्षा-ध्यान तथा जीवन-विज्ञान प्रमुख है। अणुव्रत का कमल अव अपनी पूरी आभा के साथ खिलने लगा है।

आचार्यश्री ने असख्य प्रवचन दिए है, साथ ही विपुल साहित्य की रचना की है। उस अनन्त भण्डार की जानकारी पाठको को हो सके, इस दृष्टि से उनकी एक अनुक्रमणिका चार विशाल खडो मे प्रकाशित हुई है। उससे पाठको को अनुमान हो सकता है कि आचार्यश्री ने कितने वडे परिमाण मे पाठको को जीवनोपयोगी साहित्य उपलब्ध कराया है।

उस साहित्य महोदधि मे आचार्यश्री की अन्तेवासिनी शिष्या विदुषी समणी कुसुमप्रज्ञा ने गहरी डुबकी लगाकर वडे ही मूल्यवान रत्न निकाले है और आचार्यश्री के साहित्य का प्रामाणिक रूप मे मंथन करके उसका नवनीत पाठकों को दिया है।

साहित्य का प्रयोजन क्या है, साहित्य की कसौटी क्या है, साहित्य के भेद क्या हैं, इन सव पर प्रकाश डालते हुए लेखिका ने साहित्य की विधाओं मे निवध, कथा, संस्मरण, जीवनी, पत्र, डायरी, सदेश, गद्य-काव्य, भेट-वार्ता, यात्रा-वृत्त आदि का विवेचन किया है और आचार्यश्री के सपूर्ण साहित्य को उसकी कसौटी पर कसा है।

उसके वाद आता है आचार्यश्री का प्रवचन-साहित्य। उसकी गुणवत्ता के मूलभूत सिद्धात क्या हैं, इसका उन्होने विशद विवेचन किया है। तत्पश्चात् प्रवचनो की विषय-वस्तु, वैशिष्ट्य, मनोवैज्ञानिकता, नवीन-पुरातन का संगम, आस्था और तर्क का समन्वय, धर्म और विज्ञान, सस्कृति आदि-आदि की गहरी मीमासा की है। "चिन्तन के लिए" क्षितिज के अन्तर्गत, अहिसा के सैद्धातिक तथा व्यावहारिक पहलुओ पर आचार्यश्री के प्रवचनो तथा लिखित साहित्य का सागोपांग अनुशीलन किया है। उसके वाद "धर्म चिन्तन" खण्ड में धर्म और विज्ञान, धर्म और सम्प्रदाय, धर्म के मूलभूत सिद्धांत, धार्मिक विकृतिया, धर्म और अणुव्रत, धर्म-क्रांति आदि के सन्दर्भ मे आचार्यश्री के साहित्य का विवेचन किया है।

अनतर राष्ट्र-चिन्तन और समाज-दर्शन की भूमि पर आचार्यश्री के साहित्य पर विचार किया है और अन्त में उनके साहित्य की विशेषताओ पर विहगम दृष्टि डाली है। वह कहती हैं, "आचार्य तुलसी की पुस्तको का सवसे वडा वैशिष्ट यह है कि वे वृहत्तर मानव-समाज की चेतना को झकृत करके उसमे सांस्कृतिक मूल्यो को सम्प्रेषित करने मे शत-प्रतिशत सफल हुए है। इसके अतिरिक्त विचारो की नवीनता के विना कोई भी कृति अपनी अहमियत स्थापित नही कर सकती। आचार्य तुलसी ने लगभग सभी विपयो पर अपना मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया है, अतः उनके द्वारा लिखित पुस्तको के अक्षरो के भीतर जो तथ्य उद्‌गीर्ण हुए है, उन्हे काल की अनेक परतें भी

आवृत्त या धूमिल नही कर सकती ।"

लेखिका ने स्थान-स्थान पर आचार्य तुलसी के प्रवचनो अथवा पुस्तको में उद्धरण देकर उसके महत्त्व को दर्शाया है । व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा विश्व की शायद ही कोई समस्या हो, जिस पर आचार्यश्री तुलसी ने अपने विचार प्रकट न किए हो । लेखिका की मूल प्रवृत्ति एक शोध-कर्त्री की रही है । यही कारण है कि वह आचार्य तुलसी के साहित्य के अनन्त भण्डार का इतनी गहराई से पर्यालोचन और मूल्याकन कर सकी है ।

आचार्य तुलसी का एक विशिष्ट योगदान यह भी रहा है कि उन्होंने हिन्दी साहित्य की प्रत्येक विधा को अपनी लेखनी द्वारा समृद्ध किया है । उनके विपुल साहित्य से निश्चय ही मां-भारती के भडार की श्री-वृद्धि हुई है ।

इसमे कोई सन्देह नही कि आचार्य तुलसी की अब तक प्रकाशित समस्त कृतियो और प्रवचनो पर समणी कुसुमप्रज्ञा ने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक प्रस्तुत पुस्तक की रचना की है । इससे एक ही स्थान पर न केवल आचार्यश्री की रचनाओ का परिचय तथा सम्यक् विवेचन प्राप्त होता है, अपितु उनके मूल्यांकन पर भी प्रकाश पड़ता है ।

मेरी निश्चित मान्यता है कि यह पुस्तक एक बडे अभाव की पूर्ति करती है । आलोचना साहित्य मे इस पुस्तक को ऊचा स्थान प्राप्त होगा, ऐसा मेरा विश्वास है । मै इस मूल्यवान् कृति के लिए लेखिका को हार्दिक साधुवाद देता हूं ।

—यशपाल जैन

सस्ता साहित्य मडल,
एन-७७, कनाट सर्कस,
नई दिल्ली-११०००१
दिनांक १७ जून, १९९४

स्वकीयम्

'साहित्य आत्मा की अनुभूतियो का रहस्य खोलने वाली अद्भुत कुजी है।' जयशंकर प्रसाद का उपरोक्त कथन सत्य ही नही, अक्षरश सत्य हैं। साथ ही युगधारा को मोडने तथा सभ्यता-सस्कृति को प्राणवान् बनाए रखने मे भी साहित्य का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। जिस समाज व राष्ट्र का साहित्य जितना विशद एव समृद्ध होता है, वह समाज एवं देश उतना ही प्रकाशमान होता है। पाठक की अन्तश्चेतना को झकझोरने वाला ही महान् साहित्यकार होता है। प्रेमचन्द ने साहित्यकार को दीपक की उपमा दी है। जो स्वयं तप्त होकर भी दूसरो को निष्पृह एव निर्लिप्त भाव से प्रकाश देता है।

आचार्य तुलसी एक ऐसे सृजनधर्मा साहित्यकार है, जिन्होंने सामयिक सत्य को त्रैकालिक समस्याओ के समाधान के रूप में अनुष्ठेय बनाकर जन-कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया है। सत्य की साधना उनके साहित्य के कण-कण मे प्रतिबिम्बित है, इसलिए यह साहित्य समाज और राष्ट्र की चेतना को झकझोर कर उसे नया आलोक देने मे समर्थ है। निराशा, कुंठा एव नकारात्मक भावो से तो उनका दूर का भी रिश्ता नही है, बल्कि वे तो विधेयक भावो के पुरस्कर्ता है। यही कारण है कि उनके साहित्य के कल्पवृक्ष की सघन-शीतल छाया मे बैठकर सुख, शांति और आनद की अनुभूति की जा सकती है। उस छाया के स्नेहिल और शीतल स्पर्श से अशान्ति, उन्माद, दुःख और त्रास जैसे तत्त्व विलीन हो जाते है।

उनका साहित्य जितना सरल एव सुबोध है, व्यक्तित्व उतना ही अगम्य, अकथ्य, अलौकिक एव अनिर्वचनीय है। लाखों लोगो की भक्तिभरी श्रद्धा प्राप्त करने पर भी वे स्वय को मानव ही मानते है तथा मानव को सही मानव बनने का उपदेश देते है।

उनकी यह उदग्र अभीप्सा है कि भारत फिर एक बार विश्व गुरु के रूप मे प्रतिष्ठित हो। प्राचीन काल की भाति पुन· अध्यात्म की दीक्षा प्राप्त करने विदेशी यहां आएं और प्रेरणा प्राप्त करे। इसके लिए वे भारतीय जनो को प्रेरणा देते रहते है—'अणुव्रतों के द्वारा अणुबमों की भयकरता का विनाश हो। अभय के द्वारा भय का विनाश हो और त्याग के द्वारा संग्रह का ह्रास हो। ये घोष सभ्यता, सस्कृति और कला के प्रतीक बने और इस कार्य मे

सबका सहयोग जुड़े तो जीवन की दिशा बदल सकती है।' आचार्य तुलसी उन महापुरुषों की शृंखला में है, जो स्वयं युग की धारा मे नही बहे, किन्तु अपने कर्तृत्व, नेतृत्व एवं विचारों से युग की धारा को मोटकर अपने साथ कर लिया।

सेमुअल स्माइल्स कहते थे—"बुरी पुस्तकें एक विष होती है; जो समाज मे बुराई के बीज डालती है। इन पुस्तको के लेखक अपनी कब्रो मे भी भावी पीढियो की हत्या करते रहते है।" आचार्य तुलसी ने विकृत साहित्य की बढती संख्या को देखकर उसके सामने आदर्श की एक मशाल प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, जिससे लोगो के मस्तिष्क की धुलाई हो सके।

आचार्य तुलसी के विशाल वाङ्मय को विषयों में वर्गीकृत करने का एक सकल्प जागा और वह 'आचार्य तुलसी साहित्य : एक पर्यवेक्षण' के रूप में सम्पन्न हो गया। उसके साथ 'गद्य साहित्य . पर्यालोचन और मूल्यांकन' नाम से एक भूमिका भी जोड़ी गयी। यह भूमिका इतनी विस्तृत हो जाएगी, ऐसी कल्पना नही थी। किन्तु सहज रूप से, किसी अदृश्य प्रेरणा से लेखनी चलती रही, जिसे रोकना सभव नही था। लिखते समय एक प्रेरणा यह भी कार्य कर रही थी कि जिस साहित्य के स्वाध्याय ने मुझे अनिर्वचनीय, अनुत्तर आनन्द की अनुभूति मे तदात्म किया है, उसकी अनुभूति दूसरों को कराने का सामर्थ्य मेरे मे न होते हुए भी, उसके कुछ अश का अनुभव कराने का असफल-सफल प्रयास मुझे करना चाहिए। यदि कुछ चेतनाए भी इस उपक्रम से स्पदित होगी तो इसमे लगे श्रम की सार्थकता है। मैं निःसंकोच भाव से कहना चाहती हू कि वहुत कुछ लिख दिए जाने पर भी मुझे ऐसा महसूस हो रहा है कि सागर से कुछ वूदे निकालने का कार्य ही सम्पन्न हो सकता है। राम के सेतुबंध के अवसर पर गिलहरी ने जिस श्रम का अनुदान दिया, वैसा ही मेरा यह कार्य है। अभी तो वहुत कुछ शेष है। उस शेष को निःशेष करने के लिए अनेक सशक्त अंगुलियो का श्रम अपेक्षित ही नही, अनिवार्य भी है।

भूमिका के रूप मे लिखी गयी 'गद्य साहित्य : पर्यालोचन एवं मूल्याकन' के वारे में अनेक लोगो का सुझाव था कि इसे स्वतन्त्र रूप से प्रस्तुत किया जाए तो इसकी उपयोगिता अधिक रहेगी। इसी सुझाव का प्रतिफल है—आचार्य तुलसी की साहित्य-सम्पदा, भाग-१।

तुलसी और सूर ने राम और कृष्ण के जीवन-चरित्र को लिखकर उन पर कोई अहसान या विनिमय नही चाहा, वरन् अपने समर्पण एव श्रद्धा को सजीव अभिव्यक्ति दी। आचार्य तुलसी की साहित्य-सम्पदा के कुछ रत्न प्रस्तुत करने में लगे मेरे श्रम के पीछे भी गुरु के प्रति मेरी श्रद्धा एवं समर्पण की अनुभूति ही काम कर रही है, अन्य कोई कामना नही।

मेरी अगली साहित्यिक यात्रा का पथ अभी गुरुदेव के इगित की प्रतीक्षा मे है। उनके द्वारा सौंपा हुआ निर्युक्ति एवं भाष्य की सपादित प्राचीनतम विशाल श्रुतराशि अभी अप्रकाशित पड़ी है। फिर भी इतना मानसिक सकल्प है कि अवकाशप्राप्त क्षणो मे आचार्यवर के गद्य-साहित्य की भाति पद्य-साहित्य का विवेचन, विश्लेषण एवं समालोचन भी जनता के समक्ष प्रस्तुत करू। यह कहना कोई अत्युक्ति नही होगी कि गद्य की अपेक्षा उनका पद्य अधिक सहज, सरल, सशक्त, प्रभावी, मार्मिक एव हृदयग्राही है।

अनेक वार मेरे समक्ष यह चिंतन उपस्थित किया गया कि कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा जाना चाहिए था। इसकी क्या उपयोगिता है? पर जाने कैसी स्थिति है कि मेरे मन मे कभी स्वतंत्र रूप से कुछ लिखने की इच्छा जागती ही नही। इन पांच वर्षों में जितना भी लेखन हुआ है, वह परमाराध्य गुरुदेव के व्यक्तित्व की परिक्रमा करने वाला ही है। सैकड़ो पृष्ठ लिखने के वाद भी रह-रह कर मेरे मन मे एक वात आती है—काश! मेरे सैकड़ों-सैकड़ो हाथ होते, तव सभवत: उस विशाल एव विराट् व्यक्तित्व का कुछ अंश जनता के समक्ष प्रस्तुत कर पाती। भविष्य मे भी मेरी लेखनी गुरुदेव के महनीय व्यक्तित्व के उन गुणो को प्रस्तुत करती रहे, जो अहमहमिकया की होड़ मे है तथा जनता को जिनसे सक्रिय प्रशिक्षण मिल सकता है। महाश्रमणी साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी के शब्दो मे आचार्यश्री का कर्तृत्व धरती से उदित होकर आकाश तक पहुच गया है। उसको शब्दो मे वांधने का प्रयत्न आकाश के भुजाओं में वांधने जितना अर्थहीन है। यद्यपि आचार्य तुलसी के चरणो मे मेरी अनंत आस्था निवास करती है, पर वह रूढ़ नही है, उसमे उन्होने बुद्धि और तर्क का योग भी कर दिया है। इस ग्रन्थ को लिखते समय मेरे मानस मे आचार्य तुलसी द्वारा युवाचार्य महाप्रज्ञ को दिए गए निर्देश की पंक्तियां मार्गदर्शक थी—'तुम शिष्य हो, अनुयायी हो, अनुरागी हो, इसलिए मेरी अत्यधिक प्रशसा कर सकते हो। परन्तु मैं चाहता हूं, तुम मेरी जीवनी प्रशसात्मक नही, अपितु आलोचनात्मक लिखो, जिससे पढने वालो को लगे कि जीवन को यथार्थ के धरातल पर उतारा गया है।'

मैने पूरा प्रयास किया है कि भक्ति के अतिरेक मे कही ऐसा न हो कि अतिशयोक्ति हो जाए और यथार्थ पीछे छूट जाए। एक समालोचक अध्येता की भाति मैंने उनके सम्पूर्ण साहित्य का अवगाहन किया है और उसको स्वल्प प्रस्तुति दी है।

एक वात पर पाठक विशेष ध्यान देगे कि आचार्य तुलसी वर्तमान मे गणाधिपति तुलसी के रूप मे प्रतिष्ठित है। उन्होने अपने उत्तराधिकारी युवाचार्य महाप्रज्ञ को आचार्य वना दिया है। चूकि यह घटना सुजानगढ़

१९९४ के फरवरी मास मे घटित हुई और तब तक इस पुस्तक का काफी अश प्रकाशित हो चुका था ? अतः एकरूपता बनाए रखने लिए मैंने आचार्य तुलसी एव युवाचार्य महाप्रज्ञ नामों का ही प्रयोग किया है।

आचार्य तुलसी रचनात्मक श्रद्धांजलि चाहते हैं। विशेष अवसरो पर वे अनेक बार हम लोगो को प्रेरणा दे चुके हैं—'तुम लोग गीतिकाओ, भाषणों एवं शब्दचित्रो के माध्यम से मेरी प्रशस्ति करते हो, लेकिन मैं केवल प्रशस्ति सुनकर प्रसन्न नही होता। मैं चाहता हू, ऐसे अवसरो को निमित्त बनाकर साधु-साध्विया शोधपूर्ण निबध लिखें अथवा ठोस कार्य करे।' गुरुदेव की यह प्रेरणा मेरे मानस पर सदैव अंकित रहती है, इसलिए कोरी प्रशस्ति में मेरा विश्वास नही है। कुछ-न-कुछ सृजन कार्य चलता रहे और समय अप्रमत्त भाव से बीतता रहे, ऐसी भावना मानस मे सदैव तरंगित रहती है।

इस कार्य के सम्पादन मे आचार्य महाप्रज्ञजी, महाश्रमणी साध्वीप्रमुखाजी तथा महाश्रमण मुनि मुदितकुमारजी के प्रेरक मार्गदर्शन एव आशीर्वाद ने मेरे पथ को आलोकित किया है। साध्वी सिद्धप्रज्ञाजी के निष्काम सहयोग ने भी मेरे कार्य को हलका किया हैं। मुनिश्री धर्मरुचिजी तथा साध्वीश्री निर्वाणश्रीजी के अमूल्य सुझाव मेरे लिए अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुए है। प्रेस मैनेजर श्री जगदीशप्रसादजी तथा श्रीमती कमला बैद के सहयोग की स्मृति भी अपेक्षित है। गुरुदेव की सृजनधर्मी प्रेरणा एवं असीम शक्ति सप्रेषण दोनो का योग मुझे मिला है। इस योग ने ही कुछ कर गुजरने की आकाक्षा पैदा की है। अणुव्रत अनुशास्ता को राष्ट्रीय एकीकरण निमित्त 'इंदिरा गाधी पुरस्कार' मिला। समस्त भारतीय जन-मानस ने अध्यात्म के पुरोधा का इस सम्मान-प्रसंग पर पुलकित हृदय से अभिनंदन किया। इस अवसर पर मेरे मन मे भी गुरुदेव को बधाई देने की प्रबल भावना उद्भूत हुई। इसी भावना से प्रेरित उनके विचार इस कृति के रूप मे उन्ही के चरणो मे अर्पित करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता की अनुभूति हो रही है।

१९-४-९४
लाडनू

समणी कुसुमप्रज्ञा

अनुक्रम

गद्य साहित्य : पर्यालोचन और मूल्यांकन

गद्य साहित्य : पर्यालोचन और मूल्यांकन

साहित्य का स्वरूप

साहित्य मानव की अनुभूतियों, भावनाओं और कल्पनाओं का साकार रूप है। इसमें भाषा के माध्यम से जीवन की अभिव्यक्ति होती है इसीलिए मैथ्यू आर्नोल्ड आदि पाश्चात्य विद्वानों ने साहित्य को जीवन की व्याख्या एवं आलोचना माना है। जहां तक जीवन की पहुंच है, वहां तक साहित्य का क्षेत्र है। जीवन-निरपेक्ष साहित्य अपना महत्व खो देता है अतः विद्वानों ने सत्साहित्य की यही कसौटी बताई है कि वह जीवन से उत्पन्न होकर सीधे मानव जीवन को प्रभावित करता है। दो और दो चार होते हैं, यह चिर सत्य है पर साहित्य नहीं है क्योंकि जो मनोवेग तरंगित नही करता, परिवर्तन एवं कुछ कर गुजरने की शक्ति नहीं देता, वह साहित्य नहीं हो सकता अतः अभिव्यक्ति जहां आनंद का स्रोत बन जाए, वही वह साहित्य बनता है।

प्रेमचंद अपने समय के ही नहीं, इस शताब्दी के प्रख्यात कथाकारों में से एक रहे हैं। उन्होंने साहित्य का जो स्वरूप हमारे सामने प्रस्तुत किया है उसे एक अंश में पूर्ण कहा जा सकता है। वे कहते हैं—"जिस साहित्य से हमारी सुरुचि नही जागे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममें शक्ति व गति पैदा न हो, हमारा सौंदर्यप्रेम और स्वाधीनता का भाव जागृत न हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश उपलब्ध न हो, जो हममें सच्चा संकल्प और कठिनाइयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता उत्पन्न न करे, वह हमारे लिए अर्थपूर्ण नहीं है, उसे साहित्य की कोटि में परिगणित नहीं किया जा सकता।'[1] उन्होंने साहित्य को समाज रूपी शरीर के मस्तिष्क के रूप मे स्वीकार किया है।

साहित्य शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग भर्तृहरि ने नीतिशतक में किया है। साहित्य को हमारे प्राचीन मनीषियों ने सुकुमार वस्तु कहा है। रवीन्द्रनाथ टैगोर साहित्य के स्वरूप को दार्शनिक परिधान देते हुए कहते हैं—"भाव का भाषा से, प्रकृति का [illegible] से, अतीत का वर्तमान से, दूर का निकट से तथा मस्तिष्क [illegible] अंतरंग मिलन है, वही साहित्य है।" हजारी प्रसाद द्विवेदी [illegible] मनुष्य की सबसे सूक्ष्म और [illegible]

1. प्रेमचंद के कुछ

साधना का प्रकाश साहित्य है। अतः साहित्य का मर्म वही समझ सकता है, जो साधना और तपस्या का मूल्य समझे।[1] ऐसा साहित्य कभी पुराना नही हो सकता क्योकि विज्ञान, समाज तथा सास्कृतिक तत्त्व समय की गति के अनुसार बदलते है, पर साहित्य हृदय की वस्तु है। जो साहित्य नामधारी वस्तु लोभ और घृणा पर आधारित है, वह साहित्य कहलाने के योग्य नही है, वह हमे विशुद्ध आनंद नही दे सकता।

प्रसिद्ध समालोचक बाबू गुलाबराय कहते हैं—"जहा हित और मनोहरता की युति है, वही सत्साहित्य की सृष्टि होती है। "हित मनोहारि च दुर्लभ वच."— साहित्य इसी दुर्लभ को सुलभ बनाता है।"[2]

साहित्य की कसौटी

"जो साहित्य मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से न बचा सके, जो उसकी आत्मा को तेजोदीप्त न बना सके, हृदय को परदु खकातर और सवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है"—हजारीप्रसाद द्विवेदी की ये पक्तियां साहित्य की कसौटियों को समग्र रूप से हमारे सामने प्रस्तुत करती है। ये साहित्य के भावतत्त्व को प्रकट करने वाली है पर बाह्य रूप से टालस्टॉय ने तीन प्रकार के नकारात्मक साहित्य का उल्लेख किया है—

1 Borrowed—कही से उधार लिया हुआ।
2 Imitated—कही से नकल किया हुआ।
3 Countefiet - खोटा साहित्य।

इन तीनो प्रकार के साहित्य मे मौलिकता एवं प्रभावोत्पादकता नही होती अत उन्हे साहित्य की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। प्रसिद्ध साहित्यकार नवीनजी का कहना है कि मेरे समक्ष सत्साहित्य का एक ही मापदण्ड है वह यह कि किस सीमा तक कोई साहित्यिक कृति मानव को उच्चतर, सुन्दरतम, अधिक परिष्कृत एवं समर्थ बनाती है।"

वही साहित्य प्रभविष्णु हो सकता है, जिसमे निम्न चार तत्त्वो का समावेश हो—१. जीवत सत्य, २. स्वतत्रता, ३ यथार्थ ४. क्राति।

आचार्य तुलसी का साहित्य इन सभी विशेषताओ को अपने भीतर समेटे हुए है।

जीवंत सत्य

उन्होने साहित्य की सामग्री एव विषय रेक मे रखी पुस्तको से नही

---

१. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रथावली, भा० ७, पृ० १३९,१६०
२. वही, पृ० १६८

अपितु उन जीवित व्यक्तियो से ली है जो प्रतिदिन हजारों की संख्या में उनके चरणो मे उपस्थित होते हैं। यही कारण है कि उनके साहित्य मे जीवंत सत्य का दर्शन होता है। यह सत्य कभी-कभी उनकी स्वयं की अनुभूति में भी प्रकट हो जाता है—

- मैंने अपने छोटे मे जीवन मे गुस्सैल व्यक्ति बहुत देखे है पर उत्कृष्ट कोटि के क्षमाशील कम देखे हैं। गर्वित व्यक्तियो से मेरा आमना-सामना बहुत हुआ है पर विनम्र व्यक्ति कम देखे हैं। लोगो को फसाने के लिए व्यूह रचना करने वाले मायावी व्यक्ति बहुत मिले पर ऋजुता की विशेष साधना करने वाले कितने होते हैं? लोभ के शिखर पर आरोहण करने वाले अनेक व्यक्तियो से मिला हू पर सतोष की पराकाष्ठा पर पहुंचे हुए व्यक्ति कम देखे है। इसी प्रकार पढ़े-लिखे लोगो से मेरा सम्पर्क आए दिन होता है पर बहुश्रुत व्यक्तियों से साक्षात्कार करने का प्रसग कभी-कभी ही मिल पाता है।[1]
- स्याद्वाद से मै यह सीख पाया हू कि सत्य उसी व्यक्ति को प्राप्त होता है जिसके मन मे अपनी मान्यताओ का आग्रह नही होता।
- मैं आचार की समता लेकर चलता हू अतः दो विरोधी विचार भी मेरे सामने एक घाट पानी पी सकते हैं।
- अति हर्ष और विषाद, अति श्रम और विश्राम आदि अतियो से वचे रहने के कारण मैं आज भी अपने आपको तारुण्य की दहलीज पर खडा अनुभव कर रहा हू।
- विरोधो से डरने वालो को मैं उचित परामर्श देना चाहता हू कि वे एक तटस्थद्रष्टा की भांति उसे देखते रहे और आगे बढ़ते रहे, भविष्य उन्हें स्वत बतला देगा कि बढे हुए ये कदम प्रगति को किस प्रकार अपने मे समेटे हुए चलेगे।

जीवन के ये अनुभूत सत्य हर किसी को प्रेरणा देने मे पर्याप्त है।

स्वतंत्रता

साहित्य के परिवेश मे स्वतन्त्रता का अर्थ है—मौलिकता। आचार्य तुलसी के साहित्य की मौलिकता इस बात से नापी जा सकती है कि उन्होने समाज के उन अनछुए पहलुओ का स्पर्श किया है जिसकी ओर आम साहित्य-कार का ध्यान ही नही जाता। उन्होने अनेक शब्दों को नया अर्थ भी प्रदान किया है। स्वतन्त्रता का अर्थ प्रायः विदेशी सत्ता से मुक्ति या नियम की पराधीनताओ से मुक्ति माना जाता है पर उन्होने उसे एक मौलिक अर्थवत्ता प्रदान की है—

---

१. एक बूद : एक सागर, पृ० १६९१

"यदि व्यक्ति स्वतंत्र है तो किसी क्रिया की प्रतिक्रिया नही करेगा। वह एक क्षण में प्रसन्न और एक क्षण मे नाराज नही होगा, एक क्षण मे विरक्त और एक क्षण मे वासना का दास नही वनेगा।[1]

पदार्थवादी दृष्टिकोण ने व्यक्ति को इतना भौतिक और यात्रिक वना दिया है कि उसके सामने जीवन का मूल्य नगण्य हो गया है। वे वैज्ञानिक प्रगति के विरोधी नही पर विज्ञान व्यक्ति पर हावी हो जाए, इसके घोर विरोधी हैं तथा इसमें भयंकर दुष्परिणाम देखते हैं। विज्ञान पर व्यंग्य करता हुआ उनका निम्न वक्तव्य अनेक लोगो की मौलिक सोच को जागृत करने वाला है—"१० अगस्त १९८२ का धर्मयुग देखा। उसके तीसरे पृष्ठ पर एक विज्ञापन छपा है नोविनो सेल का। विज्ञापन के ऊपर के भाग मे एक आदमी का रेखाचित्र है और उसके निकट ही रखा हुआ है एक कैल्क्युलेटर। कैल्क्युलेटर सेल से काम करता है। उस रेखाचित्र के नीचे दो वाक्य लिखे हुए हैं—कैल्क्युलेटर लगातार काम करेगा इसका आश्वासन तो हम दे सकते हैं पर ये महाशय भी ऐसे ही काम करेंगे, इसका आश्वासन भला हम कैसे दे सकते हैं? एक आदमी का आदमी के प्रति कितना तीखा व्यंग्य है? कहां विद्युतघट के रूप में काम करने वाला सेल और कहा ऊर्जा का अखूट केंद्र आदमी? सेल का निर्माता आदमी है वही आदमी अपने सजातीय का ऐसा क्रूर उपहास करे, कितनी वडी विडम्वना है!"[2] युगधारा को पहचानने के कारण इस प्रकार के अनेक मौलिक चिन्तन उनके साहित्य मे यत्र-तत्र मिल जाएगे। यह वेधकता और मौलिकता उनके साहित्य की अपनी निजता है।

यथार्थ

हिंदी साहित्य मे आदर्श और यथार्थ के सघर्ष की एक लम्बी परम्परा रही है। इसी आधार पर साहित्य के दो वाद प्रतिष्ठित है—आदर्शवाद और यथार्थवाद। यथार्थवादी जीवन की साधारणता का चित्रण करता है जबकि आदर्शवादी जीवन के असाधारण व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति देता है। आदर्श केवल गुणो का चित्रण उपस्थित करता है जवकि यथार्थ गुण और अवगुण दोनो को अपने अचल मे समेट लेता है। आदर्श कही-कही अवगुण को भी गुण में परिवर्तित कर देता है। आचार्य तुलसी मे आदर्शवाद और यथार्थवाद की समन्वित छाया परिलक्षित होती है इसलिए उनके साहित्य को आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का प्रतीक कहा जा सकता है। वे इस तथ्य को मानकर चलते हैं कि यथार्थ को उपेक्षित करने वाला आदर्श केवल उपदेश या कल्पना हो सकती है, ठोस के धरातल पर उतरने की क्षमता उसमे नही होती।

१. जैन भारती, २६ जून, ५५
२. कुहासे मे उगता सूरज, पृ० ३७

आदर्श के बारे मे उनकी अवधारणा यथार्थ के निकट है पर संतुलित है—"आदर्श वह नही होता, जिसके अनुसार कोई व्यक्ति चल ही नही सके और आदर्श वह भी नही होता जिसके अनुसार हर कोई आसानी से चल सके। आदर्श वह होता है जो व्यक्ति को साधारण स्तर से ऊपर उठाकर ऊचाई के उस विंदु तक पहुंचा दे जहां सकल्प की उच्चता और पुरुषार्थ की प्रबलता से पहुचा जा सकता है।

आदर्श और यथार्थ की अन्विति होने से उनका साहित्य अधिक जनभोग्य, प्रेरक तथा आकर्षक हो गया है। जीवन के हर क्षेत्र मे यहां तक कि प्रशासनिक अनुभवो मे भी यथार्थ और आदर्श के समन्वय की पुट देखी जा सकती है। उनका कहना है—"अनुशासन एक कला है। इसका शिल्पी यह जानता है कि कब कहा जाए और कहां सहा जाए। सर्वत्र कहा हीजाए तो धागा टूट जाता है और सर्वत्र सहा ही जाए तो वह हाथ से छूट जाता है।"

क्रांति

नेपोलियन बोनापार्ट कहते थे—क्राति अति हानिकारक कूड़े के ढेर के सदृश है, जिसमे अति उत्तम वानस्पतिक पैदावार होती है। आचार्य तुलसी क्रांति को उच्छृखलता, उद्दंडता और अशांति नही मानते। उनकी दृष्टि मे इन तत्त्वों से जुडी क्राति, क्राति नही, भ्रांति है। वे क्राति का अर्थ करते है—"सामाजिक धारणाओ, व्यवस्थाओ और व्यवहारो का पुनर्जन्म। इसका सूत्र-पात वही कर सकता है जो स्वय विषपान कर दूसरो को अमृत पिलाता है।" उनके साहित्य का हर पृष्ठ बोलता है कि उनकी विचारधारा एक अहिंसक क्रातिकारी की विचारधारा है। वे स्वय अपनी अनुभूति को लिखते हुए कहते हैं—"यदि मैंने समय के साथ चलने की समाज को सूझ नही दी तो मै अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाऊगा। इसलिए समाज की आलोचना का पात्र बनकर भी मैने समय-समय पर प्रदर्शनमूलक प्रवृत्तियो, धार्मिक अधपरपराओ और अधानुकरण की वृत्ति पर प्रहार करके समाज मे क्राति घटित करने का प्रयत्न किया है।"[1]

उनके साहित्य मे मुख्यत. सामाजिक एव धार्मिक क्राति के विंदु मिलते है। सामाजिक क्राति के रूप मे उन्होने समाज की आडम्बरप्रधान विकृत प्रवृत्तियो को बदलने के लिए रचनात्मक उपाय निर्दिष्ट किए है।

दहेज प्रथा के विरोध मे युवापीढी मे अभिनव जोश भरते हुए तथा उसके प्रतिकार का मार्ग सुझाते हुए उनकी क्रांतवाणी पठनीय ही नही, मननीय भी है–अपनी पीढी की तेजस्विता और यशस्विता के पहरुए बनकर एक साथ सैकडो-हजारो युवक-युवतियां जिस दिन बुलदी के साथ दहेज के विरुद्ध

---

१. एक बूद : एक सागर, पृ० १७२७

आवाज उठाएगे, अहिंसात्मक तरीके से समाज की इन घिनौनी प्रवृत्ति पर अंगुलिनिर्देश करेगे तो दहेज की परम्परा चरमराकर टूट पड़ेगी।[1]

समाज मे क्राति पैदा करने का उनका दृढ संकल्प समय-समय पर मुखरित होता रहता है—"समाज के जिस हिस्से मे शोषण है, झूठ है, अधिकारो का दमन है, उसे मै बदलना चाहता हूं और उसके स्थान पर नैतिकता एव पवित्रता से अनुप्राणित समाज को देखना चाहता हू। इसलिए मैं जीवन भर शोषण और अमानवीय व्यवहार के विरोध मे आवाज उठाता रहूंगा।"

धर्मक्रांति का स्वरूप उनके शब्दो में इस प्रकार है—"धर्मक्रांति का स्वरूप है—जो न धर्मग्रंथो मे उलझे, न धर्मस्थानों मे। जो न स्वर्ग के प्रलोभन से हो और न नरक के भय से। जिसका उद्देश्य हो जीवन की सहजता और मानवीय आचारसहिता का ध्रुवीकरण।

धर्मक्रांति द्वारा उन्होंने धर्म को मदिर-मस्जिद के कटघरे से निकाल कर आचरण के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया है।

उन्होने धर्मक्राति के पांच सूत्र दिए हैं—

१. धर्म को अन्धविश्वास की कारा से मुक्त कर प्रबुद्ध लोक-चेतना के साथ जोड़ना।
२. रूढ़ उपासना से जुड़े हुए धर्म को प्रायोगिक रूप देना।
३. परलोक सुधारने के प्रलोभन से ऊपर उठाकर धर्म को वर्तमान जीवन की शुद्धि मे सहायक बनाना।
४. युगीन समस्याओ के सदर्भ मे धर्म को समाधान के रूप मे प्रस्तुत करना।
५. धर्म के नाम पर होने वाली लड़ाइयो को आपसी वार्तालाप के द्वारा निपटाकर सब धर्मों के प्रति सद्भावना का वातावरण निर्मित करना।[2]

तथाकथित धार्मिकों के जीवन पर व्यंग्य करती उनकी ये पक्तिया कितनी क्रातिकारी बन पडी हैं—

पानी को भी छानकर पीने वाले, चीटियो की हिंसा से भी कांपने वाले, प्रतिदिन धर्मस्थान मे जाकर पूजा-पाठ करने वाले, प्रत्येक प्राणी मे समान आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करने वाले धार्मिको को जब तुच्छ स्वार्थ मे फसकर मानवता के साथ खिलवाड करते देखता हूं, धन के पीछे पागल होकर इन्सानियत का गला घोटते देखता हूं तो मेरा अन्तःकरण बेचैन हो जाता है।[3]

---

१. अनैतिकता की धूप : अणुव्रत की छतरी, पृ० १७८
२. कुहासे मे उगता सूरज, पृ० १४६
३. एक बूद : एक सागर, पृ० १७०१

यह क्रांतवाणी उनके क्रांत व्यक्तित्व की द्योतक ही नही, वरन् धार्मिक, सामाजिक विकृतियों एव अंधरूढियो पर तीव्र कटाक्ष एवं परिवर्तन की प्रेरणा भी है। इस संदर्भ मे नरेन्द्र कोहली की निम्न पंक्तियां उद्धरणीय एवं मननीय है—"मदिरा की भांति केवल मनोरंजन करने वाला साहित्य मानसिक समस्याओ को भुलाने मे सहायता देकर मानसिक राहत दे सकता है पर इसमे उनके निराकरण के प्रयत्न की उपेक्षा होने से समस्या समाप्त नही होती, वरन् भुला दी जाती है। ······किसी की पीड़ा का उपचार इंजेक्शन देकर सुला देना नही है अतः किसी राष्ट्र मे समस्याओ की चुनौती स्वीकार करने के लिए जो क्षमता होती है—इस प्रकार के साहित्य से वह क्षीण होकर क्रमश: नष्ट हो जाती है। सक्रियता का लोप राष्ट्र मे असहायता का भाव उत्पन्न करता है, जो अंततः राष्ट्र के पतन का कारण होता है। जो साहित्य किसी राष्ट्र को महान् नही बनाता, वह महान् साहित्य कैसे माना जा सकता है ?[1]

इस प्रकार जीवंत सत्य, स्वतन्त्रता, यथार्थ एवं क्रांति इन चारों कसौटियो पर आचार्य तुलसी का साहित्य स्वर्ण की भांति खरा उतरता है॥

साहित्य का उद्देश्य

जीवन मे सत्यं, शिव और सुन्दर की स्थापना के लिए साहित्य की आवश्यकता रहती है। यद्यपि यह सत्य है कि साहित्य का उद्देश्य या संप्रेषण भिन्न-भिन्न लेखको का भिन्न-भिन्न होता है किंतु जब-जब साहित्य अपने मूल उद्देश्य से हटकर केवल व्यावसायिक या मनोरंजन का साधन बन जाता है, तब-तब उसका सौन्दर्यपूरित शरीर क्षत-विक्षत हो जाता है। साहित्य मानसिक खाद्य होता है अतः वह सोद्देश्य होना चाहिए। महावीर प्रसाद द्विवेदी साहित्य के उद्देश्य को इन शब्दो मे अंकित करते हैं—'साहित्य ऐसा होना चाहिए, जिसके आकलन से दूरदर्शिता बढ़े, बुद्धि को तीव्रता प्राप्त हो, हृदय मे एक प्रकाश की, संजीवनी शक्ति की धारा बहने लगे, मनोवेग परिष्कृत हो जाए और आत्म-गौरव की उद्भावना तीव्र होकर पराकाष्ठा तक पहुंच जाए।'

कथा मनीषी जैनेन्द्र आत्माभिव्यक्ति को साहित्य का प्रयोजन मानते हैं। उनके अनुसार विश्वहित के साथ एकाकार हो जाना अर्थात् बाह्य जीवन से अंतर् जीवन का सामंजस्य स्थापित करना ही साहित्य का परम लक्ष्य है। आचार्य शुक्ल साहित्य का उद्देश्य एकता मानते हुए लिखते हैं—'लोक-जीवन मे जहां भिन्नताएं हैं, असमानताएं हैं, दीवारे है, साहित्य वहां जीवन की एकरूपता स्थापित करता है।"

---

१. प्रेमचंद, पृ० १०-११

राष्ट्रपति डॉ० शकरदयाल शर्मा केवल विषय प्रतिपादन या तथ्यो के प्रस्तुतीकरण को ही साहित्य का उद्देश्य मानने को तैयार नही हैं। वे तो लिखने की सार्थकता तभी स्वीकारते है जब लिखे तथ्य को कोई याद रखे, तिलमिलाए, सोचने को बाध्य हो जाए, गुनगुनाता रहे तथा ऊभ-चूभ करने को विवश हो जाए। अत. साहित्य का उद्देश्य यही होना चाहिए कि यथार्थ को इतने प्रभावशाली और हृदयस्पर्शी ढंग से व्यक्त किया जाए कि पाठक उस सोच को क्रियान्वित करने की दिशा में प्रयाण कर दे। अतः साहित्य समाज का दर्पण या एक्सरे ही नही, कुशल मार्गदर्शक भी होता है। लोक-प्रवाह मे बहकर कुछ भी लिख देना साहित्य की महत्ता को सदिग्ध बना देना है। सक्षेप मे लेखन के उद्देश्य को निम्न बिदुओ मे प्रकट किया जा सकता है—

- अंधकार से प्रकाश की ओर चलने और दूसरों को ले चलने के लिए लिखा जाए।
- जडता, अंधविश्वास और अज्ञान से मुक्ति पाने के लिए लिखा जाए।
- शोषण और अन्याय के विरुद्ध तनकर खडा होने की प्रेरणा देने के लिए लिखा जाए।
- व्यक्ति और समाज को बदलने और दायित्वबोध जगाने के लिए लिखा जाए।
- अपनी वेदना को दूसरो की वेदना से जोडने के लिए लिखा जाए।
- पाशविक वृत्तियो से देवत्व की ओर गति करने के लिए लिखा जाए।

आचार्य तुलसी के साहित्य मे इन सब उद्देश्यो की पूर्ति एक साथ दृष्टिगोचर होती है क्योकि उन्होने कलम एव वाणी की शक्ति का उपयोग सही दिशा मे किया है। उनका लेखन एवं वक्तव्य लोकहित के साथ आत्महित से भी जुडा हुआ है। वे अनेक बार इस बात की अभिव्यक्ति देते हुए कहते हैं—"आत्मभाव का तिरस्कार कर यदि साहित्य का सृजन या प्रकाशन होता है तो वह मुझे प्रिय नही होगा।"[1] इन पक्तियो से स्पष्ट है कि साहित्यकार कहलवाने के लिए कोई कलात्मक चमत्कार प्रस्तुत करना उन्हे अभीप्ट नही है। यही कारण है कि उनके साहित्य मे सत्य का अनुगुजन है, मानवीय सवेदना को जागृत करने की कला है, तथा युग की अनेक ज्वलत समस्याओ के समाधान का मार्ग है। उनका साहित्य सामाजिक विसगतियो के विरुद्ध आवाज ही

1 जैन भारती, २६ जनवरी, १९६४।

नही उठाता वलिक उनका समाधान तथा नया विकल्प भी प्रस्तुत करता है, जिससे पाठक सहजतया मानवीय मूल्यो को अपने जीवन मे स्थान दे सके। बुराई को देखकर वे कही भी निर्लिप्त द्रष्टा नही बने प्रत्युत् हर त्रुटि के प्रति अंगुलिनिर्देश करके समाज का ध्यान आकृष्ट किया है। उनका साहित्य संघर्ष करते मानव मे शाति तथा न्याय के प्रति अदम्य उत्साह और उल्लास पैदा करता है। संक्षेप मे आचार्य तुलसी के साहित्य के उद्देश्यो को निम्न बिंदुओ मे समेटा जा सकता है—

- कांता सम्मत उपदेश द्वारा व्यक्ति-व्यक्ति का सुधार
- मन मे कल्याणकारी भावो की जागृति
- जीवन के सही लक्ष्य की पहचान तथा मानवीय आदर्शो की प्रतिष्ठा।
- भावचित्र द्वारा पाठक के मन मे सरसता पैदा करना।
- किसी विचार या सिद्धात का प्रतिपादन।
- पुराने साहित्य को नवीन शैली मे युगानुरूप प्रस्तुत करना जिससे साहित्य की मौलिकता नष्ट न हो, नई पीढी का मार्गदर्शन हो सके तथा स्वाध्याय की प्रवृत्ति भी वढे।
- समाज मे गति एव सक्रियता पैदा करना।
- भौतिकवाद के विरुद्ध अध्यात्म एव नैतिक शक्ति की प्रतिष्ठा।

निष्कर्षत. उनके साहित्य का मूल उद्देश्य यही है कि जन-जीवन को चरित्रनिष्ठा, पवित्रता, मानवता, सदभावना और जीवनकला का सक्रिय प्रशिक्षण मिले।

साहित्यकार

साहित्यकार किसी भी देश या समाज का अग्रेगावा होता है। वह समाज और देश को वैचारिक पृष्ठभूमि देता है, जिसके आधार पर नया दर्शन विकसित होता है। वह शब्द शिल्पी ही साहित्यकार कहलाने का गौरव प्राप्त करता है, जिसके शब्द मानवजाति के हृदय को स्पदित करते रहते हैं। साहित्यकार के स्वरूप का विश्लेषण स्वय आचार्यश्री तुलसी के शब्दो में यो उतरता है—"साहित्यकार सत्ता के सिंहासन पर आसीन नही होता, फिर भी उसकी महत्ता किसी सम्राट् या प्रशासक से कम नही होती। शासक के पास दड होता है, कानून होता है, जवकि साहित्यकार के पास लेखनी होती है और होता है मौलिक चिंतन एव पैनी दृष्टि। कहा जा सकता है कि साहित्यकार के शब्द समाज की विसगतियो एवं विकृतियो के विरुद्ध वह क्रांति पैदा कर सकते हैं, जो वड़े से वडा कुवेरपति या सत्ताधीश भी नही कर सकता। विनोवाभावे साहित्यकार को देवर्ा केष रूप मे स्वीकार करते है, जिसके

दिल मे समष्टिमात्र के प्रति प्रेम और मगलभाव भरा हुआ होता है।

पाश्चात्य विद्वान् साहित्यकार को सामान्य मनुष्य मे कुछ भिन्न कोटि का प्राणी मानते हैं। वे सच्चे साहित्यकार मे अलौकिक गुण स्वीकार करते है, जिससे वह स्वय को विस्मृत कर मस्तिष्क मे बुने गये ताने-बाने को कागज पर अकित कर देता है। युगीन चेतना की जितनी गहरी एवं व्यापक अनुभूति साहित्यकार को होती है, उतनी अन्य किसी को नही होती। अतः अनुभूति एव सवेदना साहित्यकार की तीसरी आख होती है। इसके अभाव में कोई भी व्यक्ति साहित्य-सृजन मे प्रवृत्त नही हो सकता क्योकि केवल कल्पना के बल पर की गयी रचना सत्य से दूर होने के कारण पाठक पर उतना प्रभाव नही डाल सकती। प्रेमचंद भी अपनी इसी अनुभूति को साहित्यकारो तक संप्रेपित करते हुए कहते है—"जो कुछ लिखो, एकचित्त होकर लिखो। वही लिखो, जो तुम सोचते हो। वही कहो, जो तुम्हारे मन को लगता है। अपने हृदय के सामंजस्य को अपनी रचना मे दर्शाओ, तभी प्राण-वान् साहित्य लिखा जा सकता है"[1] आर्याप्रसाद त्रिपाठी इस बात को निम्न शब्दो मे प्रकट करते है- साहित्यकार अपने समय और समाज का प्रतिनिधि होता है। उसका यह दायित्व है कि समाज और देश की नाडी को परखे, उसकी धडकन को समझे और फिर सृजन करे। सृजन की वेदना को स्वय झेले पर समाज को मुस्कान के फूल अर्पित करे[2]। विद्वानो द्वारा दी गई साहित्यकार की कुछ कसौटिया निम्न बिंदुओ मे व्यक्त की जा सकती हैं—

साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नही है। वह देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सचाई भी नही है। बल्कि उनसे भी आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सचाई है।

प्रेमचंद

सच्चे साहित्यकार का यही लक्षण है कि उसके भावो मे व्यापकता होती है। वह विश्वात्मा से ऐसी हारमनी प्राप्त कर लेता है कि उसके भाव प्रत्येक प्राणी को अपने ही भाव मालूम देने लगते हैं इसलिए साहित्यकार स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक होता है।………दुनिया के दुःख दर्द से आंख मूदने वाला महान् साहित्यकार नही हो सकता।

हजारीप्रसाद द्विवेदी

साहित्यकार की सबसे बडी कसौटी है कि वह अपने प्रति सच्चा रहे। जो अपने प्रति सच्चा रहकर साहित्य सृजन करता है, उसका साहित्य स्वतः

१. साहित्य का उद्देश्य, पृ० १४२
२. कबीर साहित्य का सास्कृतिक अध्ययन, पृ० १५

ही लोकमंगल की भावना से सलग्न हो जाता है।

जैनेन्द्र

जो अपने पथ की सभी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष वाधाओ को चुनौती देता हुआ सभी आघातों को हृदय पर झेलता हुआ लक्ष्य तक पहुचता है, उसी को युग-स्रष्टा साहित्यकार कह सकते है।

महादेवी वर्मा

"लेखको की मसि शहीदो की रक्त विन्दुओ से अधिक पवित्र है"—हजरत मुहम्मद की ये पंक्तिया ऐसे ही प्रेरक एव सजीव साहित्यकारो के लिए लिखी गयी है।

डॉ० प्रभुदयाल डी० वैश्य ने समाज की दृष्टि से साहित्यकार को तीन वर्गों मे वाटा है—१. प्रतिक्रियावादी २ सुधारवादी ३ क्रान्तिकारी।

प्रथम वर्ग का साहित्यकार समाज की सम्पूर्ण मान्यताओ एवं व्यवस्थाओ को ज्यो की त्यो स्वीकार कर लेता है। सामाजिक त्रुटि को देख कर भी उसकी उपेक्षा करना हितकर समझना है। दूसरे वर्ग के अतर्गत वे साहित्यकार आते हैं जो सामाजिक त्रुटियो को देखते/अनुभव करते हैं पर उन्हे विनष्ट न करके सुधार का प्रयत्न करते हैं। सुधार मे उनकी समझौता-वादी वृत्ति होती है। तीसरे वर्ग के अन्तर्गत वे साहित्यकार हैं जो कातद्रष्टा तथा परिवर्तनवादी हैं। वे न केवल सामाजिक विषमताओ एव त्रुटियो की तीव्र आलोचना करते है, अपितु उन्हे मिटाने का भी भरसक प्रयत्न करते हैं। ऐसे व्यक्तियो का सदा समाज द्वारा विरोध होता है[1]।

आचार्य तुलसी को तीसरी कोटि के साहित्यकारो मे परिगणित किया जा सकता है। उन्होने अपनी लेखनी से समाज मे फैले विघटन, टूटन, अनास्था एव अविश्वास के स्थान पर नया सगठन, एकता, आस्था और आत्मविश्वास भरने का प्रयत्न किया है। समाज की विकृतियो एव परम्परा पोषित अधरूढियो को केवल दर्शाया ही नही, उसे मांजकर, निखारकर परिष्कृत एव व्यवस्थित रूप देने का सार्थक प्रयत्न किया है। इस क्रातिकारी परिवर्तन के पुरोधा होने से उन्हे स्वत. युगप्रवर्त्तक का खिताव मिल जाता है।

उन्होने सामाजिक जीवन के उस पक्ष को प्रकट करने की कोशिश की है, जो नहीं है पर जिसे होना चाहिए। वे इस वात को मानकर चलते हैं कि साहित्यकार मात्र छायाकार या अनुकृतिकार नही होता है वरन् स्रष्टा होता है। स्रष्टा होने के कारण अनेक संघर्षों को झेलना भी उसकी नियति होती है। उनकी निम्न पंक्तियां इसी सचाई को उजागर करने वाली हैं—

---

१. साहित्य : समाज शास्त्रीय संदर्भ, पृ० १४५-१४६

"साहित्य-सृजन का मार्ग सरल नही, काटो का मार्ग है। आलोचना और निन्दा की परवाह न करते हुए साहित्यकार को जीवन शुद्धि के राजमार्ग पर जनता को ले जाना होता है, स्वार्थपरता, भोगलिप्सा और आडम्बर के विषैले वातावरण ने आकुल लोक-जीवन में निःस्वार्थता, त्याग और सादगी का अमृत ढालना होता है, तभी उसका कर्तृत्व, साधना और सृजन सफल है।"

आ० तुलसी की लेखनी यथार्थ का पुनर्सृजन करती हैं अतः वे क्रातद्रष्टा साहित्यकार तो है ही पर अध्यात्म-योगी एव अप्रतिबद्धविहारी होने के कारण साहित्यकार से पूर्व अध्यात्म के साधक भी हैं। इसी कारण उनके साहित्य को बहुत व्यापक परिवेश मिल गया है। आचार्य तुलसी जैसे साहित्यकार आज कम है जिनके साहित्य से भी अधिक भव्य, विशाल, आकर्षक एव तेजस्वी उनका वास्तविक रूप है तथा जो केवल अध्यात्म के परिप्रेक्ष्य मे ही सारी चर्चाए करते हैं और अध्यात्म को मध्यबिंदु रखकर ही सारा ताना-बाना बुनते है। जीवन के प्रति प्रबल आत्मविश्वास, सत्य के प्रति अटूट आस्था और निरन्तर अध्यात्म मे रहने का अभ्यास— जीवन की ये विशेषताए उनके साहित्य मे जुडने के कारण वे पठनीय एव सक्षम साहित्यकार बन गए है। प्रसिद्ध उपन्यासकार नरेन्द्र कोहली का मतव्य है कि पठनीयता के लिए लेखक की सरलता, सहजता एव ऋजुता एक अनिवार्य गुण है। यदि लेखक के मन मे ग्रथिया नही हैं, कही दुराव-छिपाव नही है, कही अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रयत्न नही है, तो निश्चित रूप से वह लेखक सहज और ऋजु होता है। पाठक उसकी योग्यता तथा ईमानदारी पर विश्वास करता है, शका बीच मे रह नही पाती अत वह उसे पढ़ता चला जाता है।[1] आचार्य तुलसी सहजता और ऋजुता के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। साहित्य सृजन उनके लिए न जीविकोपार्जन का साधन है न व्यसन बल्कि वह उसे अपनी साधना का ही एक अग मानते हैं। इसी कारण उनका साहित्य सहजता एव ऋजुता से पूरी तरह ओतप्रोत है।

वे स्वय न केवल सफल साहित्यस्रष्टा हैं बल्कि उन्होने अनेको को इस मार्ग मे प्रस्थित करके प्रेरक एव प्रभावी साहित्यकारो की एक पूरी शृखला खडी की है। जैसे पाश्चात्य जगत् मे होमर साहित्य के आदिस्रष्टा माने जाते हैं। वैसे ही तेरापंथ धर्मसंघ मे आचार्य तुलसी को हिन्दी साहित्य सृजन का आदि प्रेरक कहा जा सकता है। उनकी प्रेरणा ने साहित्य की जो अविरल धार बहाई है, वह किसी भी समाज के लिए आश्चर्य एवं प्रेरणा की वस्तु हो सकती है। आज से ४० साल पहले उठने वाला प्रश्न कि 'क्या पढें' अब 'क्या-क्या पढे' में रूपायित हो

१. प्रेमचद पृ. ३९

गया है। वे अपनी साहित्य सृजन की अनुभूति को इस भाषा मे प्रकट करते हैं "साहित्य सृजन की प्रेरणा देने मे मुझे जितना आत्मतोष होता है, उतना ह आत्मतोष नया सृजन करते समय होता है।" अपने शिष्य समुदाय क साहित्य के क्षेत्र मे नयी परम्परा स्थापित करने की प्रेरणा-मदाकिनी ू ` मुखारविंद से समय-समय पर प्रवाहित होती रहती है—"आज समाज की चेतना को झकझोरने वाला साहित्य नही के बराबर है। इस अभाव को भरा हुआ देखने के लिए अथवा साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र मे जो शुचितापूर्ण परम्पराएं चली आ रही है, उनमे उन्मेषो के नए स्वस्तिक उकेरे हुए देखने के लिए मै बेचैन हूं। मेरे धर्मसंघ के सुधी साधु-साध्वियां इस दृष्टि से सचेतन प्रयास करे और कुछ नई सभावनाओ को जन्म दे, यह अपेक्षा है।"

इसी संदर्भ में उनकी दूसरी प्रेरणा भी मननीय है - "साहित्य वही तो है जो यथार्थ को अभिव्यक्ति दे। वह कृत्रिम बनकर अभिव्यक्त हो तो उसमे मौलिकता सुरक्षित नही रहती। मैं अपने शिष्यो से यह अपेक्षा रखता हू कि वे इस गुरुतर दायित्व को जिम्मेवारी से निभायेगे।"[1]

आचार्य तुलसी एक बृहद धार्मिक समुदाय के आध्यात्मिक नेता है। उनके वटवृक्षीय व्यक्तित्व के निर्देशन मे अनेको प्रवृत्तिया चालू है अत वे साहित्य सृजन में अधिक समय नही निकाल पाते किन्तु उनके मुख से जो भी वाक्य निःसृत होता है, वह अमूल्य पाथेय बन जाता है। आचार्य तुलसी के साहित्यिक व्यक्तित्व का आकलन उनके साहित्य की कुशल सपादिका महाश्रमणी साध्वी प्रमुखा कनकप्रभाजी इन शब्दो मे करती है—"उनका कवित्व हर क्षण जागृत रहता है, फिर भी वे काव्य का सृजन कभी-कभी करते हैं। उनका लेखन हर क्षण जागरूक रहता है, किन्तु कलम की नोक से कागज पर अकन यदा कदा ही हो पाता है। इसका कारण कि वे कवि और लेखक होने के साथ-साथ प्रशासक भी है, आचार्य भी हैं।" फिर भी उन्होने सरस्वती के अक्षय भडार को शताधिक ग्रथो से सुशोभित किया है।

प्रसिद्ध साहित्यकार सोल्जेनोत्सिन साहित्यकार के दायित्व का उल्लेख करते हुए कहते है—मानव-मन, आत्मा की आतरिक आवाज, जीवन-मृत्यु के बीच सघर्ष, आध्यात्मिक पहलुओ की व्याख्या, नश्वर ससार मे मानवता का बोलबाला जैसे अनादि सार्वभौम प्रश्नो से जुडा है साहित्यकार का दायित्व। यह दायित्व अनन्त काल से है और जब तक सूर्य का प्रकाश और मानव का अस्तित्व रहेगा, साहित्यकार का दायित्व भी इन प्रश्नो से जुडा रहेगा।'

आचार्य तुलसी के साहित्यिक दायित्व का मूल्याकन भी इन कसौटियो पर किया जाए तो उपर्युक्त सभी प्रश्नों के उत्तर हमे प्राप्त हो जाते

---

१. जैन भारती, १७ सित० १९६१

है। आतरिक आवाज वही प्रकट कर सकता है जो दृढ़ मनोवली और आत्म-विजेता हो। उनकी निम्न अनुभूति हजारों-हजारो के लिए प्रेरणा का कार्य करेगी—"मेरे संयमी जीवन का सर्वाधिक सहयोगी और प्रेरक साथी कोई रहा है तो वह है—सघर्ष। मेरा विश्वास है कि मेरे जीवन मे इतने संघर्ष न आते तो शायद मैं इतना मजबूत नही वन पाता। सघर्ष से मैंने वहुत कुछ सीखा है, पाया है। सघर्ष मेरे लिए अभिशाप नही, वरदान सावित हुए हैं।[1] इसी प्रसंग मे उनका एक दूसरा वक्तव्य भी हृदय मे आध्यात्मिक जोश भरने वाला है—"मैं कहूगा कि मैं राम नही, कृष्ण नही, बुद्ध नही, महावीर नही, मिट्टी के दीए की भाति छोटा दीया हू। मैं जलूगा और अधकार को मिटाने का प्रयास करूगा।"[2]

आचार्य तुलसी ने भौतिक वातावरण मे अध्यात्म की लौ जलाकर उसे तेजस्वी वनाने का भगीरथ प्रयत्न किया है। उनकी दृष्टि मे अपने लिए अपने द्वारा अपना नियन्त्रण अध्यात्म है। वे अध्यात्म साधना को परलोक से न जोड़कर वर्तमान जीवन से जोड़ने की बात कहते हैं। अध्यात्म का फलित उनके शब्दो मे यो उद्‌गीर्ण है—अध्यात्म केवल मुक्ति का पथ ही नही, वह शाति का मार्ग है, जीवन जीने की कला है, जागरण की दिशा है और रूपांतरण की सजीव प्रक्रिया है।

कहा जा सकता है कि आचार्य तुलसी ऐसे सृजनधर्मा साहित्यकार हैं जिन्होने प्राचीन मूल्यो को नए परिधान मे प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने साहित्य सृजन के लिए लेखनी उस काल मे उठायी जव मानवीय मूल्यों का विघटन एव विखराव हो रहा था। भारतीय समाज पर पश्चिमी मूल्य हावी हो रहे थे। उस समय में प्रतिनिधि भारतीय सन्त लेखक के दायित्व का निर्वाह करके उन्होंने भारतीय सस्कृति के मूल्यो को जीवित रखने एवं स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

वे केवल अपने अनुयायियो को ही नही, सम्पूर्ण साहित्य जगत् को भी समय-समय पर सम्वोधित करते रहते हैं। आज के साहित्यकारो की त्रुटिपूर्ण मनोवृत्ति पर अंगुलि-निर्देश करते हुए वे कहते हैं—"आज के लेखक की आस्था शृगार रस प्रधान साहित्य के सृजन में है क्योकि उसकी दृष्टि मे सौन्दर्य ही साहित्य का प्रधान अंग है। लेकिन मैं मानता हूं कि सौन्दर्य से भी पहले सत्य की सुरक्षा होनी चाहिये। सत्य के विना सौन्दर्य का मूल्य नहीं हो सकता।

प्रेमचद्र ने सत्य को साहित्य के अनिवार्य अग के रूप में ग्रहण किया

१. एक वूंद : एक सागर, पृ० १७३०
२. एक वूंद : एक सागर, पृ० १७१२

है। उनकी दृष्टि मे यदि लेखक मे सत्यजन्य पीड़ा नही है तो वह सत्साहित्य की रचना नही कर सकता। आचार्य तुलसी ने भी साहित्य की गुरुता का अकन करते हुये अपने साहित्य मे सत्य और सौन्दर्य का सामंजस्य स्थापित किया है। उनकी यह प्रेरणा एव साहित्यिक आदर्श साहित्यकारो की चेतना को झंकृत कर उन्हे युगनिर्माण की दिशा में प्रेरित करते रहेंगे।

साहित्य का वैशिष्ट्य

राष्ट्र, समाज तथा मनुष्य को प्रभावित करने वाले किसी भी दर्शन और विज्ञान की प्रस्तुति का आधार तत्त्व है—साहित्य। सत्साहित्य मे तोप, टैंक और एटम से भी कई गुना अधिक ताकत होती है। अणुअस्त्र की शक्ति का उपयोग निर्माणात्मक एव ध्वसात्मक दोनो रूपो मे हो सकता है, पर अनुभवी साहित्यकार की रचना मानव-मूल्यो मे आस्था पैदा करके स्वस्थ समाज की सरचना करती है। साहित्य द्वारा समाज मे जो परिवर्तन होता है; वह सत्ता या कानून से होने वाले परिवर्तन से अधिक स्थायी होता है। अतः दुनिया को बदलने मे सत्साहित्य की निर्णायक भूमिका रही है। हजारीप्रसाद द्विवेदी तो यहा तक कह देते है कि साहित्य वह जादू की छडी है, जो पशुओ में, ईंट-पत्थरों में और पेड़-पौधो में भी विश्व की आत्मा का दर्शन करा देती है।"

सत्साहित्य की महत्ता को लोकमान्य गगाधर तिलक की इस आत्मानुभूति मे पढा जा सकता है—"यदि कोई मुझे सम्राट् बनने के लिए कहे और साथ ही यह शर्त रखे कि तुम पुस्तके नही पढ सकोगे तो मैं राज्य को तिलाञ्जलि दे दूगा और गरीब रहकर भी साहित्य पढूगा।" यह पुस्तकीय सत्य नही, किन्तु अनुभूति का सत्य है। अतः साहित्य के महत्त्व को वही आक सकता है, जो उसका पारायण करता है। फिर वह साहित्य पढे बिना वैसी ही दुर्बलता एव मानसिक कमजोरी की अनुभूति करता है, जैसे बिना भोजन किए हमारा शरीर।

साहित्य ही वह माध्यम है, जो हमारी सस्कृति की सुरक्षा कर उसे पीढी दर पीढी सक्रात करता है। महावीर, बुद्ध, व्यास और वाल्मीकि ने साहित्य के माध्यम से जिन आदर्शों की सृष्टि की, वे आज भी भारतीय सस्कृति के गौरव को अभिव्यक्त करने मे पर्याप्त हैं। जहा साहित्य नही, वहा जीवन सरस एव रम्य नही हो सकता। जीवन मे जो भी आनन्दबोध, सौंदर्यबोध और सुखबोध है, उसकी अनुभूति साहित्य द्वारा ही संभव है। साहित्य द्वारा प्राप्त आनद की अनुभूति द्विवेदीजी के साहित्यिक शब्दो मे पढ़ी जा सकती है—"साहित्य वस्तुतः एक ऐसा आनंद है जो अंतर मे अटाए नही अट सकता। परिपक्व दाड़िम फल की भाति वह अपने रग और रस को

अपने भीतर बंद नही रख पाता। मानव का अंतर भी जब रस और आनंद से आप्लावित हो जाता है तो वह गा उठता है, काव्य करने बैठता है, प्रवचन देता है तथा तथ्यात्मक जगत् से सामग्री एकत्रित करके छदो में, स्वरो मे, अनुच्छेदो मे, परिच्छेदो मे, सर्गो मे, अंको मे अपना उच्छलित आनंद भर देता है और श्रोता तथा पाठक को भी उस आनन्द में सराबोर कर देता है।" हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा अनुभूत यह आनंद आचार्य तुलसी के साहित्य मे पदे-पदे पाया जाता है। उनका काव्य साहित्य तो मानो आनद का सागर ही है जिसमे निमज्जन करते-करते पाठक अलौकिक अनुभूति से अनुप्रीणित हो जाता है।

आचार्य तुलसी ने अपने साहित्य मे ऐसे चिरन्तन सत्यों को उकेरा है, जिसके समक्ष देश और काल का आवरण किसी भी प्रकार का व्यवधान उपस्थित करने मे अक्षम और असफल रहा है। उन्होने मानव-मन और बाह्य जीवन मे बिखरे संघर्षो का चित्रण इतनी कुशलता से किया है कि वह साहित्य सार्वजनिक एवं सार्वकालिक बन गया है। विजयेन्द्र स्नातक उनके साहित्य के बारे मे अपनी टिप्पणी व्यक्त करते हुए करते हैं—'मैं निःसकोच भाव से कह सकता हू कि आचार्य श्री की वाणी सदैव किसी महत्त्वपूर्ण अर्थ का अनुगमन करती है।'[1] उनका साहित्य इसलिए महत्त्वपूर्ण नही कि वह विपुल परिमाण मे है बल्कि इसलिए उसका महत्त्व है कि मनुष्य को सच्चरित्र बनाने का बहुत बडा लक्ष्य उसके साथ जुडा हुआ है। वे ऐसे सृजन-धर्मा साहित्यस्रष्टा हैं, जिनके अंत करण में करुणा का स्रोत कभी सूखता नही। समाज को बदलकर उसे नए साचे मे ढालने की प्रेरणा उनके सांस-सांस मे रमी हुई है। समाज की विसंगतियो की इतनी सशक्त अभिव्यक्ति शायद ही किसी दूसरे लेखक ने की हो। वे इस बात में आस्था रखते हैं कि यदि समाज की बुराइयो और विकृत परम्पराओ मे परिवर्तन नही आता है तो उसमे साहित्यकार भी कम जिम्मेवार नही है।

आचार्य तुलसी ने केवल उन्ही तथ्यों या समस्याओ को प्रस्तुति नही दी है, जिसे समाज पहले ही स्वीकृति दे चुका हो। उन्होने अनेक विषयों में समाज को नया चिंतन एव दिशादर्शन दिया है अतः बार-बार पढ़ने पर भी उनका साहित्य नवीन एव मौलिक प्रतीत होता है। कही-कही तो समाज की विकृतियो को देखकर वे अपनी पीडा को इस भाति व्यक्त करते हैं कि पाठक उसे अपनी पीड़ा मानने को विवश हो जाता है—मैं बहुत बार देखता हूं कि मुझे थोडा-सा जुखाम हो जाता है, ज्वर हो जाता है, श्वास भारी हो जाता है, पूरे समाज मे चिंता की लहर दौड़

---

१. एक बूद : एक सागर, भा० १, भूमिका पृ० १८

जाती है। मेरी थोड़ी सी वेदना से पूरा समाज प्रभावित होता है। किंतु मेरे मन में कितनी पीड़ाएं हैं क्या इसकी किसी को चिन्ता है ?"[1]

वे उसी साहित्य के वैशिष्ट्य को स्वीकारते हैं जो साम्प्रदायिकता, पक्षपात एवं अश्लीलता आदि दोषों से विहीन हो। यही कारण है कि सम्प्रदाय के घेरे मे रहने पर भी उनका चिंतन कही भी साम्प्रदायिक नहीं हो पाया है। लोग जब उन्हे एक सम्प्रदाय के कटघरे मे बांधकर केवल तेरापथ के आचार्य के रूप मे देखते है तो उनकी पीड़ा अनेक बार इन शब्दों मे उभरती है—"लोग जब मुझे सकीर्ण साम्प्रदायिक नजरिए से देखते है तो मेरी अतर आत्मा अत्यंत व्यथित होती है। उस समय मैं आत्मालोचन मे खो जाता हूं—अवश्य मेरी साधना मे कही कोई कमी है, तभी तो मैं लोगों के दिलो मे विश्वास पैदा नही कर सका।"[2]

उनकी लेखनी एवं वाणी धर्म और संस्कृति के सही स्वरूप को प्रकट करने के लिए चली है। उनके सार्थक शब्द मृतप्राय: नैतिकता को पुनरुज्जीवित करने के लिए निकले हैं। उनका साहित्य समाज मे समरसता, समन्वय और एकता लाने के लिए जूझता है। सस्ती लोकप्रियता, मनोरजन एव व्यवसायबुद्धि से हटकर उन्होने वह आदर्श साहित्य-ससार को दिया है, जो कभी धूमिल नही हो सकता।

उनके साहित्य में प्रौढता एव गहनता का कारण है—गभीर ग्रथों का स्वाध्याय। वे स्वयं अपनी अनुभूति बताते हुए कहते है—"मेरा अपना अनुभव यह है कि जिसको एक बार गभीर विषयो के आनद का स्वाद आ जाए वह छिछले, विलासी एवं भावुकतापूर्ण साहित्य मे कभी अवगाहित नही हो सकता।"

काल की दृष्टि से उनके साहित्य का वैशिष्ट्य है—त्रैकालिकता। युग समस्या को उपेक्षित करने वाला, उसकी माग न समझने वाला साहित्य अनुपादेय होता है। केवल वर्तमान को सम्मुख रखकर रचा जाने वाला साहित्य युग-साहित्य होने पर भी अपना शाश्वत मूल्य खो देता है। वह जितने वेग से प्रसिद्धि पाता है उतने ही वेग से मूल्यहीन हो जाता है। इसी दृष्टि को ध्यान मे रखकर उन्होने अपने साहित्य मे युगसत्य और चिरन्तन सत्य का समन्वय करके अतीत के प्रति तीव्र अनुराग, वर्तमान के उत्थान की प्रबल भावना, भविष्य के प्रतिबिम्ब तथा उसको सफल बनाने हेतु करणीय कार्यों की सूची प्रस्तुत की है। जैसे इक्कीसवी सदी का जीवन (बैसाखियां........पृ० १५) इक्कीसवी सदी के निर्माण मे युवको की भूमिका (सफर . . १६१) आदि

---

१. आह्वान पृ० सं० २२
२. एक बूद : एक सागर पृ० १७३०

लेख भावी जीवन की रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं। यही कारण है कि ५० साल पूर्व का साहित्य भी उतना ही प्रासगिक एवं मननीय है जितना वर्तमान का। निष्कर्ष की भाषा मे कहा जा सकता है कि आचार्य तुलसी ने विनाश के स्थान पर निर्माण, विषमता के स्थान पर समता, अव्यवस्था के स्थान पर व्यवस्था, अनैक्य के स्थान पर ऐक्य, घृणा के स्थान पर प्रेम तथा भौतिकता के स्थान पर अध्यात्म के पुनरुत्थान की चर्चा की है। अतः उनके साहित्य को हर युग के लिए प्रेरणापुज कहा जाए तो अतिशयोक्ति नही होगी।

साहित्य के भेद

काल की दृष्टि से साहित्य के दो भेद किए जा सकते हैं—सामयिक और शाश्वत। सामयिक साहित्य में वार्तमानिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा धार्मिक आदि अनेक युगीन समस्याओ का चिन्तन होता है पर शाश्वत साहित्य मे जीवन की मूल वृत्तियो तथा शाश्वत मूल्यों का विवेचन होता है, जो त्रैकालिक होते हैं।

हजारीप्रसाद द्विवेदी ने विषय की दृष्टि से साहित्य के तीन भेद किये हैं[1]: १. सूचनात्मक साहित्य २. विवेचनात्मक साहित्य ३. रचनात्मक साहित्य।

१. कुछ पुस्तके हमारी जानकारी बढाती हैं। उनको पढने से हमें अनेक नई सूचनाए मिलती हैं। लेकिन ऐसे साहित्य से व्यक्ति की बौद्धिक चेतना उत्तेजित नही होती।

२. विवेचनात्मक साहित्य हमारी जानकारी बढ़ाने के साथ-साथ बोधन शक्ति को भी जागरूक एव सचेष्ट बनाये रखता है। जैसे दर्शन, विज्ञान आदि।

३. रचनात्मक साहित्य की पुस्तकें हमे सुख-दुःख, व्यक्तिगत स्वार्थ एवं संघर्ष से ऊपर ले जाती है। यह साहित्य पाठक की दृष्टि को इस तरह कोमल एवं संवेदनशील बनाता है कि व्यक्ति अपने क्षुद्र स्वार्थ एवं व्यक्तिगत सुख-दु.ख को भूलकर प्राणिमात्र के प्रति तादात्म्य स्थापित कर लेता है तथा सारी दुनिया के साथ आत्मीयता का अनुभव करने लगता है। इस साहित्य को ब्रह्मानन्द सहोदर की सज्ञा दी जा सकती है क्योकि यह साहित्य हमारे अनुभव के ताने-वाने से एक नये रसलोक की रचना करता है। इसे ही मौलिक साहित्य की कोटि मे रखा जा सकता है।

आचार्य तुलसी का अधिकांश साहित्य रचनात्मक साहित्य में परिगणित किया जा सकता है। क्योकि उनकी सत्यचेतना परिपक्व एवं संस्कृत है। उन्होने जो कुछ कहा या लिखा है वह सांसारिक क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली भाग-७ पृ० १६३-६४

होकर लिखा है अतः उनका साहित्य निर्मलता एवं प्रेरणा का स्रोत वहाता है। उन्होने भारतीय सास्कृतिक विरासत की सुरक्षा की है साथ ही प्रगतिशील विचारो का समावेश भी किया है।

साहित्यिक विधाएं

साहित्यकार के मन मे जो भाव या संवेग उत्पन्न होते है, उनकी अभिव्यक्ति नाना विधाओ मे होती है। जैसे भीतर के हर्ष को विविध अवसरो पर कभी गाकर, कभी गुनगुनाकर तथा कभी अश्रुमोचन द्वारा प्रकट किया जाता है वैसे ही भावो और मन.स्थितियो को व्यक्त करने के लिये साहित्य की विविध विधाओ का आविष्कार तथा प्रयोग किया जाता है।

हिन्दी साहित्य में मुख्यत' निम्न विधाएं प्रसिद्ध है—(१) निबन्ध (२) रेखाचित्र (३) सस्मरण (४) रिपोर्ताज (५) डायरी (६) साक्षात्कार (भेंट वार्ता) (७) गद्यकाव्य (८) जीवनी (९) आत्मकथा (१०) यात्रा-वृत्त (११) एकांकी (१२) कहानी (१३) उपन्यास (१४) पत्र आदि।

आचार्य तुलसी का साहित्य मुख्यतः निवंध, संस्मरण, डायरी, साक्षात्कार, गद्यकाव्य, जीवनी, कहानी, पत्र, आत्मकथा आदि विधाओ मे मिलता है फिर भी उनके साहित्य मे प्रवचन की गगा, निवन्धो की यमुना और काव्य की सरस्वती—यह त्रिवेणी ही अधिक प्रवाहित हुई है। आचार्य तुलसी ने अपनी प्रत्येक साहित्यिक विधा में सत्य और शिव के साथ सौन्दर्य को समाहित करने का प्रयत्न किया है। उनका साहित्य श्रोता एव पाठक को कुछ सोचने एवं करने को वाध्य करता है क्योकि उनकी अभिव्यक्ति तीखी, धारदार एवं प्रभावी है। उनकी साहित्यक विधाओ मे मानव के अन्तर्मन मे होने वाली हलचल को अभिव्यक्ति मिली है, समाज की विद्रूपता को उद्घाटित करने का सार्थक प्रयास हुआ है, परिस्थिति एवं घटना को कथ्य का माध्यम वनाया गया है तथा प्राचीन के साथ युगीन मूल्यो की प्रस्तुति हुई है। यही कारण है कि उनका विशाल साहित्य त्रैकालिक होते हुये भी उपयोगी और सामयिक बन पड़ा है। यह साहित्य सामयिक समस्याओ को छिन्न-भिन्न करने, उनको तरासने तथा व्यक्ति-व्यक्ति में अनाकुल रहकर उनको सहन करने की क्षमता पैदा करता है। उनके द्वारा प्रयुक्त कुछ साहित्यिक विधाओ का परिचय नीचे दिया जा रहा है—

निबंध

हिंदी गद्य साहित्य मे निवध का अपना एक विशिष्ट स्थान है। आधुनिक निबंध के जन्मदाता पाश्चात्य विद्वान् मोनतेन का मतव्य है कि निवध विचारों, उद्धरणो एवं कथाओ का मिश्रण है। वावू गुलावराय के शब्दों मे "निवंध वह गद्यात्मक अभिव्यक्ति है जिसमे एक सीमित आकार के भीतर

किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन किसी विशेष निजीपन, सौष्ठव, सजीवता, रोचकता तथा अपेक्षित संगति एवं संवद्धता से किया जाता है।" इस विधा में प्रतिभा निर्दिष्ट रूप से विषय के साथ बंधकर अपने विचार एवं भाव प्रकट करती है अतः विशेष रूप से बंधी हुई गद्य रचना निवध के रूप में जानी जाती है। परन्तु पाश्चात्य विद्वान् जानसन के विचार इससे भिन्न हैं। वे कहते हैं—"मुक्त मन की मौज, अनियमित, अपक्व और अव्यवस्थित रचना निबध है। इसी प्रकार क्रेबल ने भी इसे सस्ती एवं हल्की रचना के रूप में स्वीकार किया है। किन्तु ये विचार सर्वमान्य नहीं हैं क्योंकि निवंध को गद्य की कसौटी माना गया है। प्रसिद्ध साहित्यकार विजयेन्द्र स्नातक का अनुभव है कि भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निवध में ही सबसे अधिक संभव है।[1] आचार्यश्री तुलसी के लगभग सभी निवंधों के विचार सुसंवद्ध तथा प्रभावकता के साथ प्रस्तुत हुए है।

निवंध मे लेखक के व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य उजागर होता है अतः उसमें आत्माभिव्यजना आवश्यक है। जीवन की अवहेलना का दूसरा नाम निवंधकार की मृत्यु है।[2] आचार्य तुलसी के प्रायः सभी निबंध जीवन्त एव प्रेरक है इसी कारण उनमे भावो को तरंगित कर व्यक्तित्व-रूपान्तरण की क्षमता उत्पन्न हो गई है। उनके निवध एक नई सोच के साथ प्रस्तुत है अतः आदमी के भीतर एक नया आदमी पैदा करने की उनमे क्षमता है। उनके निवध मौलिक विचारो, नवीन निष्कर्षों एवं सूक्ष्म तार्किकता से सवलित हैं अत वे पाठक के हृदय को गुदगुदाते है, आंदोलित करते है। अधिकांश निवंधों में सर्वेक्षण की सूक्ष्मता और विश्लेषण की गंभीरता के गुण समाविष्ट हैं। इन निवंधों में गंभीरता के साथ सरसता, प्राचीनता के साथ नवीनता एवं विज्ञान के साथ अध्यात्म का भी अद्भुत समावेश हुआ है।

मानव मन की मनोवृत्तियाँ एव सामाजिक बुराइयों का विश्लेषण वहुत मनोवैज्ञानिक ढंग से उनके निवंधो में उजागर है। आश्चर्य होता है कि वे अपने निवधो में एक साथ मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्री, धार्मिक नेता, अर्थ-शास्त्री और इनसे ऊपर साहित्यकार के रूप में समान रूप से प्रतिविम्वित हो गए है। इन सवसे ऊपर उनके निवंधों का यह वैशिष्ट्य है कि प्रायः निवंधों का प्रारम्भ इतनी रोचक शैली मे है कि उसे पढने वालों की उत्सुकता बढती जाती है और पाठक उसे पूरा पढ़ने का लोभ संवरण नही कर पाता। वे पाठकों से उदासीन नही हैं। अपने दिल की वात पाठक के दिल तक पहुंचकर करते हैं

---

१. समीक्षात्मक निवध पृ० ३२
२. आधुनिक निवंध पृ० ३

अतः पाठक के साथ उनका सीधा तादात्म्य स्थापित हो जाता है। सादगी, सयम एवं त्याग से मडित उनका व्यक्तित्व इन निवंधो में सर्वत्र उपस्थित है, अतः ये उच्च कोटि के निवंध कहे जा सकते हैं। डा० जानसन या केवल के सामने यदि ये निवंध रहते तो सभव है उन्हें निवध के वारे मे अपनी परिभाषा वदलनी पड़ती। उनके निवधो की आलोचना इस रूप मे की जा सकती है कि उनमें पुनरुक्ति वहुत हुई है पर ऐसा होना अनिवार्य था क्योंकि किसी भी धर्मनेता को समाज मे परिवर्तन लाने के लिए वार वार अपनी वात को कहना पड़ता है और तव तक कहना होता है जब तक कि पत्थर पर लकीर न खिच जाए, पानी वर्फ के रूप मे न जम जाए या यो कहे कि व्यक्ति या समाज वदलने की भूमिका तक न पहुच जाए।

निबंध की विकास-यात्रा

निबंध की विकास-यात्रा को विद्वानों ने चार युगो मे वांटा है--(१) भारतेन्दु युग (२) द्विवेदी युग (३) प्रसाद युग (४) प्रगतिवादी युग। कुछ विद्वान् अतिम दो को क्रमशः शुक्ल युग एवं शुक्लोत्तर युग के नाम से भी अभिहित करते हैं। भारतेन्दु युग भारतीय समाज के जागरण का काल है। उन्होंने अपने निवधो मे धार्मिक, सामाजिक एव राजनैतिक समस्याओं को उजागर किया है। महावीरप्रसाद द्विवेदी के निवध विचार प्रधान हैं। साथ ही उन्होने निवंध में भाषा-सस्कार पर भी अपेक्षित ध्यान दिया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निवध नए विचार, नयी अनुभूति एवं नवीन शैली के साथ पाठकों के समक्ष उपस्थित हुए है अत. उनके युग मे विचारप्रधान, समीक्षात्मक एव भावात्मक निवधो का चरम विकास हुआ।

शुक्लोत्तर युग मे हजारीप्रसाद द्विवेदी, जैनेन्द्रकुमार, डा० नगेन्द्र, अमृतराय नागर, महादेवी वर्मा आदि के नाम उल्लेखनीय है। आचार्य तुलसी के निवंध विचारो की दृष्टि से इन विद्वानो की तुलना मे कही कम नही उतरते हैं।

मेरे अपने विचार से तो निवध का अगला अर्थात् पाचवा युग आचार्य तुलसी का कहा जा सकता है, जिन्होने साहित्य में व्यक्तित्व रूपान्तरण की चर्चा करके भारतीय संस्कृति को पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न किया है। तथा वेहिचक आज की दिशाहीन राजनीति, धर्मनीति, एवं समाजनीति की दुर्बलताओं की ओर इगित करते हुए उन्हे परिष्कार के लिए नया दिशादर्शन दिया है। आचार्यश्री के निवंध में रूक्षता एव शुष्कता के स्थान पर रोचकता एवं सहृदयता का गुम्फन प्रभावी है।

निबंध के भेद

यद्यपि विषय की दृष्टि से विद्वानों ने निवंध के सांस्कृतिक, ऐतिहासिक

सामाजिक आदि अनेक भेद किए हैं पर शैली की दृष्टि से उसके मुख्यतः चार भेद हैं :—

१. भावात्मक
२. विचारात्मक
३. वर्णनात्मक या विवरणात्मक
४. आख्यानात्मक या कथात्मक

भावनात्मक निबन्ध

इसमे लेखक का हृदय बोलता है। इन निबंधों मे निजी अनुभूति की गहनता एव सघनता इस रूप में अभिव्यक्त होती है कि कोई भी विचार लेखक की भावना के रंग में रंगकर बाहर निकलता है। इनमें तर्क-वितर्क को उतना महत्व नही होता जितना भावों के आवेग को दिया जाता है।

आचार्य तुलसी की अनेक रचनाओं को इस कोटि में रखा जा सकता है। 'अमृत संदेश', 'दोनो हाथ : एक साथ', 'सफर आधी शताब्दी का' 'मनहसा मोती चुगे', 'जब जागे तभी सवेरा' आदि पुस्तकों के निबंधों को इस कोटि में रखा जा सकता है।

विचारात्मक निबंध

इन निबंधों में किसी सामाजिक, राजनैतिक या धार्मिक समस्या का अथवा किसी नवीन तथ्य का प्रतिपादन या विश्लेपण होता है। ये निबंध बौद्धिकता प्रधान होते हैं। इनमें तर्क, चिन्तन, दर्शन आदि का भी यथास्थल समावेश होता है पर विपय गांभीर्य बना रहता है। इन निबंधो में भाषा कसी रहती है।

'क्या धर्म बुद्धिगम्य है' ? 'कुहासे में उगता सूरज,' 'वैसाखियां विश्वास की' आदि पुस्तको के निबधो/प्रवचनो को इस कोटि में रखा जा सकता है।

विचारात्मक निबंधो मे विचार भाव के आगे आगे चलता है पर भावात्मक निबध मे भाव विचार के आगे चलता है। अतः इन दोनों को ज्यादा भिन्न नही किया जा सकता। क्योकि साहित्य में भावशून्य विचार बौद्धिक व्यायाम है साथ ही विचारशून्य भाव प्रलापमात्र हैं।

वर्णनात्मक या विवरणात्मक

इनमे किसी स्थिर दृश्य या घटना का चित्रण होता है तथा विस्तार से किसी बात का स्पष्टीकरण होता है। कुछ विद्वान वर्णनात्मक एवं विवरणात्मक को भिन्न-भिन्न भी मानते हैं। आचार्य तुलसी के प्रवचन बहुलता से इसी कोटि में रखे जा सकते हैं।

आख्यानात्मक या कथात्मक

इस कोटि के निबंधों में कथा को माध्यम बनाकर विचाराभिव्यक्ति की

जाती है। 'बूंद-बूंद से घट भरे' 'मजिल की ओर' तथा 'प्रवचन पाथेय' आदि पुस्तको के प्रवचनो को इस कोटि मे रखा जा सकता है।

निबंधों में प्रयुक्त शैली

निवध व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। हर व्यक्ति की अपनी अलग शैली होती है। रामप्रसाद किचलू कहते है कि किसी निवधकार की शैली सागर सी गभीर, किसी की उच्छल तरगों सी गतिशील एव किसी की धुआधार यौवन सी रंगीली एवं सलोनी सुरभि बिखेरकर सुवक-सुवक खो जाने वाली होती है।[1] निवध मे मुख्यतः पाच शैलियो का प्रयोग होता है— १. समास २. व्यास ३. धारा ४. तरग ५. विक्षेप।

आचार्य तुलसी के निवधो मे स्फुट रूप से पांचो शैलियो के दर्शन होते हैं। कही वे समास शैली मे अभिव्यक्ति देते हैं तो कही व्यास शैली मे पर इन दोनो शैलियो मे भी उनकी सारग्राही प्रतिभा का दर्शन पाठक को प्राय. मिल जाता है। जहां भाव प्रधान निवध हैं, वहा धारा, तरग एव विक्षेप शैली का निदर्शन भी उनके साहित्य में मिलता है।

आचार्यश्री की शैली मे वैयक्तिकता, भावनात्मकता, सरसता, सरलता, सहजता एव रोचकता के गुण प्रभूत मात्रा मे विद्यमान हैं। कही-कही व्यग्य का पुट भी दर्शनीय है। कहा जा सकता है कि उनके व्यक्तित्व की सजीवता एव जीवटता उनके निवन्धो में भी समाविष्ट हो गई है अतः उनकी शैली उनके व्यक्तित्व की छाप से अकित है। यही कारण है दीप्ति, काति, भव्यता एवं विशदता आदि गुण सर्वत्र दृग्गोचर होते है।

निबंधों के शीर्षक

शीर्षक किसी भी निवंध का आईना होता है, जिसमें से निवध की विषय वस्तु को देखा जा सकता है। प्रायः शीर्षक पढ़कर ही पाठक के मन में निवध/लेख पढने की लालसा उत्पन्न होती है अत. पाठक की उत्कठा उत्पन्न करने मे शीर्षक का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

आचार्य तुलसी के निवधो और लेखो के प्रायः शीर्षक इतने जीवन्त, आकर्षक और रोचक हैं कि शीर्षक पढते ही उस निवध को पूरा पढ़ लेने की सहज ही इच्छा होती है। जैसे—१. "एक मर्मान्तिक पीडा : दहेज" २. "धार्मिक समस्याएं : एक अनुचितन" ३ "सतान का कोई लिंग नही होता" आदि। उनका साहित्य अनेक हाथो से सपादित होने के कारण उसमे शीर्षक, भाषा आदि दृष्टियों से वैविध्य होना वहुत स्वाभाविक है। कही कही एक ही लेख भिन्न भिन्न संपादको द्वारा सपादित पुस्तक मे भिन्न-भिन्न शीर्षक से आये है।

---

१. आधुनिक निबंध पृ० ११

जैसे 'प्रवचन डायरी' के अनेक प्रवचन 'नैतिक संजीवन' में शीर्षक परिवर्तन के साथ प्रस्तुत हैं।

कहीं-कही एक ही शीर्षक भिन्न-भिन्न सामग्री के साथ भी आया है। जैसे "अहिंसा" तथा "अक्षय तृतीया,' आदि शीर्षक अनेक बार पुनरुक्त हुए हैं, पर सामग्री भिन्न है।

कुछ शीर्षको ने सहज ही सूक्ति वाक्यो का रूप भी धारण कर लिया है। जैसे :—

१. जो चोटो को नही सह सकता, वह प्रतिमा नही वन सकता।

२. जहां विरोध है, वहां प्रगति है।

३. सतीप्रथा आत्महत्या है।

४. युद्ध किसी समस्या का समाधान नही है।

अनेक शीर्षक लोकोक्ति, कहावत एवं विशिष्ट घोषों के साथ जुड़े हुए भी है.—

१. सवहु सयाने एकमत २. पराधीन सपनेहुं सुख नाही ३. जितनी सादगी : उतना सुख ४. वीति ताहि विसारि दे ५. निंदक नियरे राखिए।

अनेक शीर्षक आगमसूक्त तथा विशिष्ट धर्मग्रंथों के प्रेरक वाक्यों से संवधित हैं। जैसे :—१. णो हीणे णो अइरित्ते, २. तमसो मा ज्योतिर्गमय ३. पढमं णाणं तओ दया ४. जो एगं जाणई सो सव्वं जाणइ ॥

कुछ शीर्षक अपने भीतर रहस्य एवं कुतूहल को समेटे हुए है, जिनको पढते ही मन कौतूहल और उत्सुकता से भर जाता है—

१. जो सव कुछ सह लेता है २. ऐसी प्यास, जो पानी से न वुझे ३. जव सत्य को झुठलाया जाता है, ४. जहां उत्तराधिकार लिया नहीं, दिया जाता है।

अनेक शीर्षक साहित्यिक एव वौद्धिक है। साथ ही आनुप्रासिक एव औपमिक छटा से सपृक्त है :—

१. समस्या के वीज : हिंसा की मिट्टी

२. निज पर शासन : फिर अनुशासन

३. संसद खड़ी है जनता के सामने

४. पूजा पाठ कितना सार्थक : कितना निरर्थक।

कुछ प्रवचनों के शीर्षक वर्ग विशेष को संवोधित करते हुए भी है जैसे—१ महिलाओं से, २. व्यापारियों से, (युवको से) ३. कार्यकर्त्ताओ से, शातिवादी राष्ट्रो से, ४. विद्यार्थियो से।

अनेक शीर्षक औपदेशिक है, जो वर्ग विशेप को उद्वोधन देते हुए प्रतीत होते हैं :—

१. युवापीढ़ी स्वस्थ परम्पराएं कायम करे २. महिलाएं स्वयं जागे

३. न स्वयं व्यथित बनो, न दूसरो को व्यथित करो।

कई शीर्षक प्रश्नवाचक हैं, जो पाठक को सोच की गहराई मे उतरने को विवश कर देते है, जिससे पाठक अपने परिपार्श्व का ही नही, दूरदराज की समस्याओ के परिप्रेक्ष्य मे भी समाधान प्राप्त करता है—

- कैसे मिटेगी अशांति और अराजकता ?
- कौन करता है कल का भरोसा ?
- क्या आदतें बदली जा सकती है ?
- क्या है लोकतंत्र का विकल्प ?

इस प्रकार प्राय: शीर्षक विपय से सवद्ध तथा रोचक है।

कथा

साहित्य की सवसे सरस एव मनोरजक विधा है—कथा। वहुत विवेचन एवं विश्लेषण के बाद भी जो अकथ्य रह जाता है, उसे कथा वहुत मार्मिकता से प्रकट कर देती है अतः प्राचीन काल से ही कथा के माध्यम से गूढतम रहस्य को प्रकट करने का प्रयत्न होता रहा है। वेद, उपनिषद्, महाभारत तथा आगमो मे आई कथाए इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है। वाण ने कथा की तुलना नववधू से की है, जो साहित्य-रसिको के मन मे अनुराग उत्पन्न करती है। कादम्बरी मे वे कहते हैं—

"स्फुरत् कलालापविलासकोमला, करोति रागं हृदि कौतुकाधिकम्।
रसेन शय्या स्वयमभ्युपागता, कथा जनस्याभिनवा वधूरिव॥

प्रसिद्ध साहित्यकार जैनेन्द्रजी का मानना है कि साहित्य के माध्यम से डाले जाने वाले जितने प्रभाव हो सकते है, वे कथा विधा मे अच्छी तरह उपस्थित किये जा सकते है। चाहे सिद्धान्त प्रतिपादन अभिप्रेत हो, चाहे चरित्र चित्रण की सुदरता इष्ट हो, चाहे किसी घटना का महत्व निरूपण करना हो अथवा किसी वातावरण की सजीवता का उद्‌घाटन ही लक्ष्य हो या क्रिया का वेग अंकित करना हो या मानसिक स्थिति का सूक्ष्म विश्लेषण करना हो—सभी की अभिव्यक्ति इस विधा द्वारा सभव है। कहानी की कला इसी वात मे प्रकट होती है कि सक्षेप मे सीधी एवं सरल बात कहकर अपने कथ्य को पाठक तक पहुंचा दिया जाए। एडगर एलेन आदि पाश्चात्य विद्वानो का मानना है कि कथा ऐसी गद्यकला है जिसको घटने मे आधा घंटा से दो घंटे तक के समय की आवश्यकता रहती है। प्रेमचद का मानना है कि वह ध्रुपद की तान है, जिसमे गायक महफिल शुरू होते ही अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा दिखा देता है। एक क्षण मे चित्र को इतने माधुर्य से परिपूरित कर देता है कि जितना रात भर गाना सुनने से भी नही हो सकता।[1]

---

१. साहित्य का उद्देश्य पृ० ३७-३८

आज कथा साहित्य ने कुछ विकृत रूप धारण कर लिया है क्योंकि उसमे कुंठा, विकृति, संत्रास तथा आवेगों को उत्तेजित करने के ही स्वर अधिक मिलते है, प्रसन्न अभिव्यक्ति के नही। साथ ही उनमे सांस्कृतिक मूल्यों का विघटन, जीवन की विशृंखलता एव विसगतिया भी उभरी है किंतु आचार्य तुलसी ने जो कथाएं लिखी हैं या उपदेशो में कही हैं, वे एक विशिष्ट प्रभाव को उत्पन्न करने वाली है क्योकि उनमे समग्र जीवन के अनेक पहलुओं की अभिव्यक्ति है।

उन्होने केवल मनोरजन के लिए कथा का सहारा नही लिया बल्कि जटिल से जटिल विषय को कथा के माध्यम से सरल करके पाठक के सामने प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। उनके द्वारा प्रयुक्त कथाओ मे चिन्तन एवं मनन से प्राप्त दार्शनिक एवं सामाजिक तथ्यो की प्रस्तुति के साथ ही साथ प्रत्यक्ष जीवन से निःसृत तथ्यों का प्रगटीकरण भी हुआ है। यही कारण है कि जब वे अपने प्रवचन मे कथा का उपयोग करते है तो उसका प्रभाव वक्ता के हृदय तक पहुंचता है। यहा उनके द्वारा प्रयुक्त एक कथा प्रस्तुत की जा रही है जिसके द्वारा उन्होने राजनेताओ को मार्मिक ढंग से प्रतिबोधित किया है—

एक व्यक्ति आर्थिक दृष्टि से बहुत सम्पन्न था; पर था कजूस। अपना और अपने परिवार का पेट काटकर उसने करोड़ो रुपये एकत्रित किये। उन सब रुपयो को उसने हीरो-पन्नों मे बदल लिया। सारे जवाहरात एक पेटी में रखकर उसने ताला लगा दिया। उसे अपने बाल-बच्चो का भी भरोसा नही था। इसलिए पेटी की चाबी वह अपने सिरहाने रखकर सोने लगा। एक बार की बात है। रात्रि के समय उसके घर मे चोर घुस गए। उन्होने तिजोरी तोड़ी और जवाहरात की पेटी निकाली। उसी समय घर के लोग जाग गए। चोर पेटी लेकर भाग गए। लड़को ने पिता को सबोधित कर कहा—'पिताजी ! आपके जीवन भर की इकट्ठी की गई सम्पत्ति चोर ले जा रहे हैं।' पिता निश्चिन्तता से बोला—'पुत्रो ! तुम चिन्ता मत करो। ये चोर मूर्ख है। पेटी ले जा रहे हैं, पर चाबी तो मेरे पास है। बिना चाबी पेटी कैसे खोलेगे और कैसे जवाहरात निकालेगे ?

आज के हमारे राजनेता भी सोचते हैं कि जब सत्ता की चाबी हमारे पास है तो हमारे चरित्र के आभूषणो की पेटी कोई चुराकर ले भी जाए तो क्या अन्तर पड़ेगा ? पर वे नही जानते कि पेटी का ताला टूट जाएगा। तब चाबी का क्या उपयोग होगा ? जब किसी व्यक्ति के चरित्र की धज्जियां उड़ जाती है, तब उसके पास सत्ता की चाबिया भी कौन रहने देगा ?[1]

'बूंद भी : लहर' भी पुस्तक उनका कथा संकलन है। यद्यपि उनकी

१. समता की आंख : चरित्र की पांख पृ० ९

कथाओं में साहित्यिक शैली नही है पर दिल तक पहुचकर बात कहने की शक्ति है इसलिए ये जनभोग्य हैं। आज की सस्ती कथाओं के सामने आचार्य तुलसी ने इन कथाओ के माध्यम से एक आदर्श प्रस्तुत किया है।

इतना अवश्य है कि उन्होंने गद्य में स्वतंत्र कथा-लेखन कम किया है। प्रवचनों में विषय को स्पष्ट करने के लिए ही कथाओ का आश्रय लिया है। कही कही विषय की गभीरता एवं जटिलता को सरस बनाने हेतु कथाओं का उपयोग हुआ है। काव्य साहित्य मे उन्होने अनेक कथाओं को अपनी रचना का आधार बनाया है तथा उन कथाओ को अपनी कल्पना के रंग मे रंगकर कमनीय एवं पठनीय बना दिया है। जैन कथाओ को काव्य के माध्यम से प्रस्तुति देकर आचार्य तुलसी ने उन कथानको को प्राणवान् बनाया है। 'चंदन की चुटकी भली' काव्यकृति में १८ आख्यानो का संकलन है। संक्षेप मे उनकी कथा मे प्रेमचन्द की सहजता, प्रसाद की भावुकता, जैनेन्द्र की मनोवैज्ञानिकता एवं अज्ञेय की समाज-सुधार दृष्टि का सुन्दर समन्वय हुआ है।

संस्मरण

साहित्य की सबसे अधिक जीवन्त, रोचक और मधुर विधा है—संस्मरण। क्योंकि न इसमे भाषा की दुरूहता होती है और न अति कल्पना लोक मे विचरण। घटना प्रधान आकलन होने से यह साहित्य की सरस विधा मानी जाती है, जो पाठक पर सीधा प्रभाव डालती है। डा० त्रिगुणायत इसे परिभाषित करते हुए कहते है—"भावुक कलाकर जब अतीत की अनत स्मृतियों मे से कुछ रमणीय अनुभूतियों को अपनी कोमल कल्पना से अनुरंजित कर व्यञ्जनामूलक शैली में अपने व्यक्तित्व की विशेषताओं से विशिष्ट बनाकर रोचक ढग से यथार्थ रूप में व्यक्त करता है, तब उसे संस्मरण कहा जाता है।"

संस्मरण गद्य की आत्मनिष्ठ विधा है पर उसमे सचाई की सौरभ होती है। आचार्य तुलसी समय-समय पर अपने सस्मरणों को अभिव्यक्ति देते रहते हैं पर पिछले डेढ़ साल से वे इस विधा में अनवरत लिख रहे हैं। बचपन से लेकर आचार्यपदारोहण तक के संस्मरणों का सुंदर आकलन किया जा चुका है। वे संस्मरण साप्ताहिक केन्द्रीय विज्ञप्ति के माध्यम से प्रकाशित हो चुके हैं। इन संस्मरणों में भाषा का जाल नही, अपितु आत्माभिव्यक्ति है। अतः ये सहज, सरल, सुबोध और आकर्षक हो गए हैं। इन संस्मरणों को पढ़कर पाठक यह अनुभव करता है कि आचार्य तुलसी बीते क्षणो को पुनः जीने का सशक्त उपक्रम कर रहे हैं तथा पाठक को भी अतीत के प्रेरक क्षणो से साक्षात्कार करने का अवसर मिल रहा है। यहां हम उनके मुनि जीवन में गुरु के अपार वात्सल्य का एक संस्मरण प्रस्तुत कर रहे है—

"मैं जब कभी अस्वस्थ होता, पूज्य गुरुदेव की कृपा इतनी अधिक

स्फुरित होती कि बार-बार बीमार होने की इच्छा जाग जाती। बीमारी के क्षणो मे गुरुदेव इतना वात्सल्य उडेलते कि उसमे सराबोर होकर मैं सब कुछ भूल जाता। उस समय आप मुझे अपने निकट बुलाते, नब्ज देखते, स्थिति की जानकारी करते, औषधि एव पथ्य के बारे मे निर्देश देते और कई बार दिन मे भी अपने पास ही सुलाते। कभी दूसरे कमरे मे होता तो बार-बार साधुओं को भेजकर स्वास्थ्य के बारे में पूछते। कहां एक बाल मुनि और कहां सघ के शिखर पुरुष आचार्य! कहां जुखाम, बुखार जैसी साधारण घटनाएं और कहां पूरे धमसंघ का प्रशासन। पर गुरुदेव का वह अमृत-सा मीठा वात्सल्य एक बार तो रोग जनित पीड़ा का नाम-निशान ही मिटा देता।

एक बार मुझे ज्वर हो गया। ज्वर के कारण रात को बेचैनी बढ़ी, मैं जितना बेचैन था, गुरुदेव की बेचैनी उससे भी अधिक थी। उस रात आप नीद नही ले सके। आपने मेरा हाल चाल जानने के लिए कई बार साधुओ को मेरे पास भेजा। गुरुदेव के इस अनुग्रह से साधु-साध्वियो पर अतिरिक्त प्रभाव हुआ। इस प्रसग को मैं जब भी याद करता हूं, अभिभूत हुए बिना नही रहता।"[1]

जीवनी

जीवनी वह गद्यविधा है जिसमे लेखक किसी अन्य व्यक्ति का वस्तुनिष्ठ जीवन वृत्त प्रस्तुत करता है। उसमे किसी महान् व्यक्ति की जीवन घटनाओ का उल्लेख होता है। पाश्चात्य विद्वान लिटन स्ट्रैची ने जीवनी लेखन की कला को सबसे सुकोमल एवं सहानुभूतिपूर्ण कहा है। इस विधा का समाज-निर्माण में महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि एक महापुरुष की बिखरी हुई प्रेरक घटनाओं को इसमे एकसूत्रता प्रदान की जाती है। इस विधा में कोरा तथ्य निरूपण या कोरी कल्पना नही होती बल्कि किसी व्यक्ति का आतरिक एवं बाह्य व्यक्तित्व उजागर किया जाता है। आचार्य तुलसी ने इस विधा मे तीन चार ग्रन्थ लिखे है। 'भगवान् महावीर', 'प्रज्ञापुरुष जयाचार्य' 'महामनस्वी कालूगणी का जीवनवृत्त' आदि पुस्तकें जीवनी साहित्य के अन्तर्गत रखी जा सकती हैं। इनमे क्रमशः भगवान् महावीर, तेरापथ के चतुर्थ आचार्य जीतमलजी तथा अष्टमाचार्य कालूगणी के व्यक्तित्व को सजीव अभिव्यक्ति दी है। संस्मरणात्मक जीवन लेखन से ये जीवनी ग्रन्थ बहुत रोचक एव जनसामान्य के लिए हृदयग्राह्य बन गए हैं। भाषा की सरलता एव वर्णन क्षमता की उच्चता इन जीवनी ग्रन्थो मे सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रही है। साथ ही व्यक्ति के विशेष विचारों एवं सिद्धान्तो का समावेश करने से ये वैचारिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हो गये है।

---

१. विज्ञप्ति संख्या ११४३

पत्र

पत्र लेखन की परम्परा बहुत प्राचीन है पर इसे साहित्यिक रूप आधुनिक युग (भारतेन्दु युग) में दिया गया है। पत्र केवल प्रगाढ आत्मीय संबंधो की सरस अभिव्यक्ति ही नही होते, अनौपचारिक शिक्षा का जो सजीव चित्र इनमे उभर पाता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। डा. शिवमंगल सिंह सुमन कहते है कि 'कागज पे रख दिया है कलेजा निकाल के'' उक्ति इस विधा पर पूर्णतया घटित होती है। दिनकर इस विधा को कला के लिए कला का साक्षात प्रमाण मानते थे। उनका कहना था कि निबंधो की शैली में लेखक के व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य उजागर होता है, परन्तु पत्र लेखन में तो लेखक का स्वभाव, चिंतन-मनन, उत्पीड़न, उल्लास, उन्माद और अन्तर्द्वन्द्व सभी नितान्त सहज भाव से मुखर हो उठते है।[1]

जैसे पंडित नेहरू के 'पिता के पत्र पुत्री के नाम' तथा गांधीजी के अनेक पत्र साहित्यिक एवं राजनैतिक दृष्टि से अपना विशिष्ट महत्त्व रखते हैं वैसे ही आचार्य तुलसी के अनेक पत्र ऐतिहासिक महत्त्व रखते है। उन्होने साधु-साध्वियो को संबोधित करके हजारो पत्र लिखे हैं, जो अध्यात्म जगत् की अमूल्य थाती हैं। राजस्थानी भाषा में मां वदनाजी एव मत्री मुनि मगन-लालजी को लिखे गए पत्रों में संवेदना का ऐसा निर्झर प्रवाहित है; जिसकी कल-कल ध्वनि आज भी पाठक को बाधने मे सक्षम हैं। अपने हाथ से दीक्षित मां वदनाजी को लिखे पत्र की कुछ पंक्तियां यहां उद्धृत हैं—"यह पत्र स्वान्त: सुखाय' या 'त्वच्चेत: प्रसत्तये' लिख रहा हूं। आपके शान्त, सरल एवं निष्काम जीवन के साथ किसी भी साधक के मन में स्पर्धा हो सकती है। मितभाषिता, मधुर मुस्कान, स्वाध्याय तल्लीनता, सहृदयता, बाह्याभ्यन्तर एकता, सबके प्रति समानता, ये सब ऐसी विशेषताएं है जो बरबस किसी को आकृष्ट किए बिना नही रहतीं।

मैं अपने आपको धन्य मानता हूं सहज भोली-भाली सूरत मे अपनी माता को संयम-साधना में तल्लीन देखकर।[2]

आचार्य तुलसी के पत्र सादगी, संयम और सृजन के सदेश हैं। पत्रो के माध्यम से उन्होने हजारो व्यक्तित्वों को प्रेरणाए दी है। तथा उनके जीवन में नव उत्साह का सचार किया है। उनके पत्र केवल समाचारो के वाहक ही नही होते उनमें संयम को परिपुष्ट करने, कषायो को शात करने तथा अध्यात्म पथ पर आरोहण के लिए आवश्यक उपायों के निर्देश भी प्राप्त होते है। पत्रों की भाषा और भावाभिव्यक्ति इतनी सरल और सशक्त है

---

१. दिनकर के पत्र भूमिका पृ० ११

२. मां वदना पृ० ८७

कि पढने वाला उन भावों में उन्मज्जन निमज्जन किए विना नहीं रह सकता।

डायरी

इस विधा में लेखक अपने अनुभवों को लिखता है। अतः यह नितान्त वैयक्तिक सम्पत्ति होती है किन्तु प्रकाश मे आने के बाद यह सार्वजनिक हो जाती है। यथार्थता और स्वाभाविकता ये दो गुण इसके आधार होते हैं।

हर्ष, विषाद, उल्लास, निराशा आदि भावनाओ को उत्पन्न करने वाली घटनाएं प्रत्येक व्यक्ति के जीवन मे रोज ही घटित होती हैं, किन्तु सामान्य व्यक्ति उन्हे भूल जाता है जवकि साहित्यकार या साधक व्यक्ति के संवेदनशील हृदय में उनके प्रति अपनी प्रतिक्रिया या मानसिक स्थिति को व्यक्त करने की आतुरता जाग जाती है, उद्वेलन के इन्ही क्षणों मे डायरी लिखी जाती है।

आचार्य तुलसी प्रायः प्रतिदिन डायरी लिखते है पर अभी तक डायरी के पन्ने प्रकाशित नहीं हुए है। उनकी अप्रकाशित डायरी की निम्न पंक्तियां उनके समत्व साधक का रूप प्रस्तुत करतीं हैं—"आज के युग के मकान साधु-सतो के अनुकूल कम पडते है। सव कुछ कृत्रिम हो गया है। अतएव प्रकृति मे चलने वालो के लिए कठिनाइयां आती हैं फिर भी हम जैसे-तैसे सामंजस्य बिठा लेते है। संतुलन नही खोते हैं, यह अच्छी वात है।"[1]

'खोये सो पाए' पुस्तक के कुछ लेखो में डायरी विधा के दर्शन होते हैं क्योंकि उसमे हिसार मे २१ दिन के एकान्तवास मे चैतन्य की अनुभूति के क्षणों में प्रतिदिन के विचारो को लिपिवद्ध किया गया है। इन विचारों को पढ़कर लगता है कि वे साहित्यकार के समनन्तर साधक हैं। आचार्य तुलसी की डायरी कितनी स्पष्ट, सरल व सहज है, यह इन लेखो को पढ़ने से अनुभव हो सकता है। इसी पुस्तक का एक अंश उनके साधनात्मक अनुभव की अभिव्यक्ति देता हुआ सामान्य जन को भी प्रेरणा देता है—"हमारा वर्तमान का अनुभव वताता है कि इन्द्रियों और मन की मांग को समाप्त किया जा सकता है। अपने जीवन में पहली वार एक प्रयोग कर रहा हूं। इस समय इन्द्रियां निश्चित हैं और मन शांत है। खान, पान, जागरण, देखना, वोलना, किसी भी प्रवृत्ति के लिए मन पर वाध्यता नहीं है।"

संदेश

शब्दो में प्रवाहित भाव और विचार कमजोरों को ताकत देने, दुष्टों को दुष्टता से मुक्त करने, मूर्खों को प्रतिवोध देने और मानव मे मानवता का सचार करने का सामर्थ्य रखते हैं, इसलिए शब्द ही टिकता है, न सिंहासन, न कुर्सी, न मुकुट, न वैंक-वैलेंस और न धनमाल। शब्द जव किसी आत्मबली

१. अप्रकाशित डायरी, २६ जून १९९०, पाली

साधक के मुख से निःसृत होते हैं तब वे और अधिक शक्तिशाली बन जाते हैं। आचार्य तुलसी का प्रत्येक शब्द सार्थकता लिए हुए है, अतः प्रेरक है।

धर्मनेता होने के कारण अनेको अवसरो पर वे अपने संदेश प्रेषित करते रहते हैं। कभी पत्रिका मे आशीर्वचन के रूप में तो कभी किसी कार्यक्रम के उद्घाटन मे, कभी मृत्युशय्या पर लेटे किसी व्यक्ति का आत्मविश्वास जगाने तो कभी किसी शोक संतप्त परिवार को सांत्वना देने, कभी राष्ट्रीय एकता परिषद् को उदबोधित करने तो कभी-कभी सामाजिक सघर्ष का निपटारा करने। सैकडो परिस्थितियो से जुडे हजारो संदेश उनके मुखारविंद से नि.सृत हुए है, जिनसे समाज को नई दिशा मिली है। उन सबको यदि प्रकाशित किया जाय तो कई खंड प्रकाशित हो सकते है। इन्दिरा गाधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार' की घोषणा होने पर अपने एक विशेष सदेश में वे कहते हैं—

"मैं केवल आत्मनिष्ठा और अहिंसा की साधना की दृष्टि से काम कर रहा हू। न कोई आकाक्षा और न कोई स्पर्द्धा। मेरे कार्य का कोई मूल्यांकन करता है या नही, इसकी भी कोई चिन्ता नही। मैंने विरोधो मे कभी हीन-भावना का अनुभव नही किया और प्रशस्तियो मे कभी अहकार को पुष्ट नही किया दोनो स्थितियों मे सम रहने की साधना ही मेरी अहिंसा है?"[1]

उनके सदेश व्यक्ति, सस्था, समाज या उत्सव से संबंधित होते हुए भी पूरी तरह से सार्वजनीन हैं, इसीलिए आम व्यक्ति को उन्हें पढने में कही अरुचि प्रतीत नही होती अपितु उसे अपनी समस्या का समाधान नितरता हुआ प्रतीत होता है। उनके सदेशो का वैशिष्ट्य यह है कि उनमे व्यक्ति, समाज या सस्था की विशेषताओ का अंकन है तो साथ ही साथ विसंगतियों का उल्लेख कर उन्हे मिटाने का उपाय भी निर्दिष्ट है। इन सदेशो मे प्रेरणा सूत्र, आलवन सूत्र तथा अध्यात्म-विकास के सूत्र उपलब्ध होते हैं, जिन्हें सुन-पढ़कर व्यक्ति अपने व्यक्तिगत जीवन मे अनेक उपलब्धियां प्राप्त कर समाज और सस्थानो को भी लाभ पहुंचा सकता है।

गद्यकाव्य

हिन्दी मे भावात्मक निबन्ध गद्यकाव्य कहलाते हैं। डा० भगवतीप्रसाद मिश्र का मतव्य है कि किसी कथानक, चरित्र या विचार की कल्पना और अनुभूति के माध्यम से गद्य मे सरस, रोचक और स्मरणीय अभिव्यक्ति गद्यकाव्य है। यह सामान्य गद्य की अपेक्षा अधिक अलंकृत, प्रवाहपूर्ण, तरल एवं माधुर्य-मडित रचना होती है। इस विधा मे दर्शन की गहराई को जिस चातुर्य के साथ प्रस्तुत किया जाता है, वह पठनीय होता है। 'अतीत का विसर्जनः

१. २५ अक्टबर, १९९३, राजलदेसर

अनागत का स्वागत' पुस्तक में 'युवापीढी का उत्तरदायित्व' लेख को गद्यकाव्य का उत्कृष्ट नमूना कहा जा सकता है। इसमे कसी मंजी शैली में रूपक के माध्यम से इतनी मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है कि हर युवक एक बार स्पंदित हो जाए।

यद्यपि आचार्य तुलसी ने सलक्ष्य इस कोटि के निवन्धों की रचना बहुत कम की है। पर 'समता की आंख चरित्र की पाख' जैसी कृतियो को गद्यकाव्य की कोटि मे रखा जा सकता है।

भेंट-वार्ता

यह हिन्दी गद्य की सर्वथा नवीन विधा है। साहित्य, राजनीति, दर्शन, अध्यात्म, विज्ञान आदि किसी भी क्षेत्र की महान् विभूति से मिलकर किसी समस्या एवं प्रश्नों के सदर्भ मे उनके विचार या दृष्टिकोण को जानने या उन्ही की भाषा-शैली तथा भाव-भंगिमा मे व्यक्त करने की साहित्यिक रचना भेंट-वार्ता है। भेट-वार्ता महान् और लघु के बीच ही शोभा देती है। लघु के हृदय की श्रद्धाभावना देखकर महान् के हृदय में सब कुछ समाहित करने की भावना जाग उठती है। पर कभी-कभी दो भिन्न क्षेत्रो की विभूतियों के मध्य वार्तालाप भी इस विधा के अतर्गत आता है। कभी-कभी काल्पनिक इन्टरव्यू भी इस विधा मे समाविष्ट होते है। इसमे अपनी कल्पना से किसी साहित्यकार को अवतीर्ण कर उनसे स्वयं ही प्रश्न पूछकर उत्तर देना वड़ा ही रोचक होता है।

यद्यपि आचार्य तुलसी ने किसी व्यक्ति का इन्टरव्यू नही लिया पर उनके साथ हुए विशिष्ट व्यक्तियो के साक्षात्कार उनके साहित्य मे प्रचुर मात्रा में है। लगभग सभी राष्ट्रनेताओ एवं बुद्धिजीवियो के साथ उनकी वार्ताएं हुई हैं, कुछ प्रकाशित हैं तथा कुछ अभी भी अप्रकाशित हैं।

'जैन भारती' मे राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय व्यक्तियो के बीच हुई लगभग ५० वार्ताए प्रकाशित है। पर वे अभी पुस्तक के रूप में प्रकाशित नही हुई है।

यात्रा-वृत्त

यात्रा का अर्थ है—एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना। यात्रा वृत्तात मे यात्रा के दौरान अनुभूत प्राकृतिक, ऐतिहासिक एवं सामाजिक तथ्यो का चित्रण किया जाता है। यात्रावृत्त की दृष्टि से कुछ ग्रंथ काफी प्रसिद्ध है। जैसे राहुल साकृत्यायन का 'मेरी तिव्वत यात्रा', डा० भगवतीशरण उपाध्याय का 'सागर की लहरो पर', धर्मवीर भारती का 'ढेले पर हिमालय' तथा नेहरू का 'आंखो देखा रूस' और रामेश्वर टाटिया का 'विश्व यात्रा के संस्मरण' आदि।

आचार्य तुलसी महान् यायावर है। वे कहते हैं—"यात्रा मे मेरी अभिरुचि इतनी है कि एक स्थान पर रहकर भी मैं यात्रायित होता रहता हूं।" उन्होने देश के लगभग सभी प्रातो की यात्राएं की है पर स्वयं कोई स्वतंत्र यात्रा ग्रथ नही लिखा है फिर भी उनके कुछ लेख जैसे 'मेरी यात्रा' 'मैं क्यों घूम रहा हू' आदि यात्रावृत्त के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। इसके साथ उनके प्रवचन साहित्य मे यात्रा के संस्मरणों का उल्लेख भी स्थान-स्थान पर हुआ है। उन्होने अपने काव्य ग्रन्थो मे स्फुट रूप से यात्रा का वर्णन किया है पर उसे यात्रावृत्त नही कहा जा सकता।

आचार्य तुलसी की यात्राओ का रोचक एवं मार्मिक चित्रण महाश्रमणी साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी ने किया है। अब तक उनकी यात्राओ के छह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके है—

(१) दक्षिण के अचल मे (दक्षिण यात्रा) (२) पाव पाव चलने वाला सूरज (पंजाब यात्रा) (३) बहता पानी निरमला (गुजरात यात्रा) (४) जब महक उठी मरुधर माटी (मारवाड यात्रा) (५) अमृत बरसा अरावली मे (मेवाड यात्रा) (६) परस पाव मुसकाई घाटी (मेवाड यात्रा)।

इन यात्रा ग्रन्थो मे तथ्यपरकता, भौगोलिकता, रोचकता, सरसता तथा सहजता आदि यात्रावृत्त के सभी गुण समाविष्ट है। ये ग्रन्थ इतनी सरस शैली मे यात्रा का इतिहास प्रस्तुत करते हैं कि पाठक को ऐसा लगता है मानो वह आचार्य तुलसी के साथ ही यात्रायित हो रहा हो। इन यात्रा ग्रन्थो को पढ़कर ही प्रसिद्ध साहित्यकार जैनेन्द्रजी ने लेखिका साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा जी को कहा 'लिखना तो हमे आपसे सीखना पडेगा'। इस एक वाक्य से इन यात्रा ग्रथो की गरिमा अभिव्यक्त हो जाती है।

(विद्वानो ने प्रवचन साहित्य को साहित्यिक विधा के अंतर्गत नही माना है पर आचार्य तुलसी ने इस विधा मे नए प्रयोग किए हैं तथा विपुल परिमाण मे इस विधा मे अभिव्यक्ति दी है। अतः स्वतंत्र रूप से उनके प्रवचन साहित्य के वैशिष्ट्य को यहां उजागर किया जा रहा है।)

प्रवचन साहित्य

भारतीय परम्परा मे आत्मद्रष्टा ऋषियों एवं धर्मगुरुओ के प्रवचनो का विशेष महत्त्व है क्योकि शब्दो का अचिन्त्य प्रभाव व्यक्ति के जीवन पर पड़ता है। 'मा भैः' उपनिषद् की इस वाणी ने अनेकों को निर्भय बना दिया।

'खण जाणाहि' महावीर के इस उद्‌बोधन ने लाखो को अप्रमत्त जीवन जीने का दिशा बोध दे दिया तथा 'अप्पदीवो भव' बुद्ध की इस अनुभवपूत वाणी ने हजारो के तमस्मय जीवन को आलोक से भर दिया। आचार्य तुलसी की वाणी आत्मिक अनुभूति की वाणी है। उनके शब्दो मे अध्यात्म की वह तेजस्वी शक्ति है, जो क्रूर से क्रूर व्यक्ति का हृदयपरिवर्तन करने मे सक्षम है। उन्होंने अपने ७० साल के संयमी जीवन में हजारों बार प्रवचन किया है। लम्बी पदयात्राओं में युवावस्था के दौरान तो उन्होंने दिन मे चार-चार या पांच-पांच बार भी जनता को उद्‌बोधित किया है। एक ही तत्त्व को अलग-अलग व्यक्तियों को बार-बार समझाने पर भी उनका मन और शरीर कभी थकान की अनुभूति नही करता।

उनके प्रवचन करने का उद्देश्य आत्मविकास एव स्वानंद है। वे प्रवचन करके किसी पर अनुग्रह का भार नही लादते वरन् उसे साधना का ही एक अंग मानते है। इस बात की अभिव्यक्ति वे अनेको बार देते हैं कि मेरे उपदेश और प्रवचन को यदि एक भी व्यक्ति ग्रहण नही करता है तो मुझे किंचित् भी हानि या निराशा नही होती क्योंकि उपदेश देना मेरा पेशा नही वरन् साधना है, वह अपने आप में सफल है।[1] उनकी प्रवचन साधना मात्र वस्तुस्थिति की व्याख्या नही अपितु साधना एवं दर्शन से व्यक्ति और समाज को परिवर्तित कर देने की चेष्टा है। इसी कारण अन्यान्य अनेक महत्त्वपूर्ण कार्यो मे व्यस्त रहने पर भी उनका प्रतिदिन प्रवचन का क्रम नही टूटता। एक संत के मन में निहित समष्टि-कल्याण की भावना का निदर्शन निम्न वाक्यों मे पाया जा सकता है—"मै चाहता हूं जन-जन मे सद्‌गुण भर जाएं, पापों से घुटती हुई दुनिया को प्रकाश मिले। मुझे जो जागृति मिली है, वह औरो को भी दे सकूं ऐसी मेरी हार्दिक इच्छा है। इसके लिए मैं सतत प्रयत्नशील हूं।'[2]

वे केवल अपने श्रद्धालुओं के लिए ही प्रवचन नही करते, मानव मात्र की मंगल भावना से ओतप्रोत होकर ही उनके प्रवचनों की मंदाकिनी प्रवाहित होती है। वे बार-बार इन विचारों की अभिव्यक्ति देते हैं कि केवल जैन या केवल ओसवालो मे बोलकर मैं इतना खुश नही होता, जितना सर्वसाधारण मे बोलकर होता हूं।"[3]

एक बार उनकी प्रवचन सभा में कुछ हरिजन भाई भी अग्रिम पंक्ति में आकर बैठने लगे। परिपार्श्व में बैठे महाजनो ने उन्हें संकेत से दूर बैठकर सुनने की बात कही। आचार्य तुलसी का करुणा प्रधान मानस उस भेद को

---

१. जैन भारती, १४ अक्टू० १९६२
२. जैन भारती, १९ नवम्बर १९५३
३. एक बूंद : एक सागर, पृ० १६९२

सह नही सका। तत्काल उस कृत्य की तीखी आलोचना करते हुए उन्होंने कहा—"धर्मस्थान हर व्यक्ति के लिए खुला रहना चाहिए। जाति और रंग के आधार पर किसी को अस्पृश्य मानना, उन्हे मानवीय अधिकारो से वचित रखना मानवता का अपराध है। धर्म के क्षेत्र में जातिजन्य उच्चता नहीं, कर्मजन्य उच्चता होती है। धार्मिक उच्चता हरिजन या महाजन सापेक्ष नही है। मेरे प्रवचनस्थान पर किसी भी जाति के लोगो को प्रवचन सुनने का निषेध नही हो सकता। यदि कोई अनुयायी हरिजन को प्रवचन सुनने का निषेध करता है, इसका अर्थ यह है कि वह मुझे प्रवचन करने का निषेध करता है। मैं तो देश के हर वर्ग, जाति और सम्प्रदाय के लोगो से इंसानियत और भाईचारे के नाते मिलकर उन्हे जीवन का लक्ष्य परिचित कराना चाहता हूं।"[1]

इस प्रकार वर्गभेद, जातिभेद, रगभेद और सम्प्रदायभेद के बढ़ते उन्माद को रोककर भावात्मक एकता की स्थापना भी उनके प्रवचन का मुख्य उद्देश्य रहा है।

उन्होने अपने प्रवचन मे समाज सेवा और राष्ट्र की विषम स्थितियों एव विसंगतियो पर दुःख प्रकट किया है पर कही भी निराशा का स्वर नही है। इस सदर्भ मे उनकी निम्न उक्ति अत्यन्त मार्मिक है—"कई लोग संसार को स्वर्ग बनाना चाहते हैं किंतु वह बनता नही। मैं ऐसी कल्पना नही करता यही कारण है कि मुझे निराशा नहीं होती। मैं चाहता हू कि मनुष्य लोक कही राक्षसलोक या दैत्यलोक न बन जाए। उसे यदि प्रवचन द्वारा मनुष्यलोक की मर्यादा में रखने मे सफल हो गए तो मानना चाहिए हमने बहुत कुछ कर लिया।" उनके इस सतुलित दृष्टिकोण के कारण यह प्रवचन साहित्य जीवन के साथ ताजा सम्बन्ध स्थापित करता है।

वे हर तथ्य का प्रतिपादन इतनी मनोवैज्ञानिकता के साथ करते हैं कि उसे पढने और सुनने पर लगता है कि वह पाठक व श्रोता की अपनी ही अनुभूति है।

प्रवचन की विषयवस्तु

उनके प्रवचनो के विषय न तो इतने गहन गभीर है कि उन्हे समझने के लिए किसी दूसरे की सहायता लेनी पडे और न इतने उथले हैं कि उनमें बच्चो का बचकानापन झलके। चाहे धर्म हो या दर्शन, मनोविज्ञान हो या इतिहास, राजनीति हो या सिद्धान्त, अध्यात्म हो या विज्ञान लगभग सभी विषयो पर कलात्मक प्रस्तुति उनके प्रवचनो मे हुई है। अतः उनके प्रवचनों में विषय की विविधता है। वे नदी की धारा की भांत प्रवहमान

१. जैन भारती, ३० अप्रैल १९६१

और नवीनता लिए हुए हैं। उनके प्रवचनों को ऐसी दीपशिखाए कहा जा सकता है जो युग-युग तक पीडित एव शोषित जनता का पथदर्शन कर सकती हैं।

प्रवचन का वैशिष्ट्य

किसी भी प्रवचनकार की सबसे बडी विशेषता उसकी अभिव्यक्ति की क्षमता है। यद्यपि यह क्षमता एक राजनेता मे भी होती है पर नेता जहा ऊपर से चोट करता है, वहा आत्मसाधक प्रवचनकार का लक्ष्य अन्तर्मानस पर चोट करना होता है। आचार्य तुलसी के प्रवचन राजनेता की भाति कोरी भावुकता नही बल्कि विवेक को जागृत करते है। उनकी दृष्टि नेता की भांति केवल स्वार्थ पर नही बल्कि परमार्थ पर रहती है।

आचार्य तुलसी सत्यं शिवं सुन्दरं के प्रतीक है। यही कारण है कि उनके प्रवचनो मे केवल सत्य का उद्घाटन या सौन्दर्य की सृष्टि ही नही हुई है अपितु शिवत्व का अवतरण भी उनमे सहजतया हो गया है। उनके प्रवचनो के सार्वभौम वैशिष्ट्य को कुछ बिन्दुओ में व्यक्त किया जा सकता है।

व्यावहारिक प्रस्तुति

उनके प्रवचन की सर्वभौमिकता का सबसे बड़ा कारण है कि वे गहरे विचारक होते हुए भी किसी विचार से बधे हुए नही हैं। उनका आग्रहमुक्त/निर्द्वन्द्व मानस कही से भी अच्छाई और प्रेरणा ग्रहण कर लेता है। उनकी प्रत्युत्पन्न मेधा हर सामान्य प्रसग को भी पैनी दृष्टि से पकडने मे सक्षम है। ये घटना को श्रोता के समक्ष इस रूप मे प्रस्तुत करते है कि वे उससे स्वतः उत्प्रेरित हो जाते है। सामान्य घटना के पीछे रहे गहरे दर्शन को वे बातो ही बातो मे बहुत सहजता से चित्रित कर देते हैं।

विशेप क्षणो मे उपजा हुआ चिन्तन बडे-बडे विचारको के लिए भी चिन्तन की एक खुराक दे जाता है। इस तथ्य का स्वयंभू साक्ष्य है—बगला देश के शरणार्थियो के संदर्भ में की गयी आचार्य तुलसी की निम्न टिप्पणी—

"आप अपने को शरणार्थी मानते है पर मेरी दृष्टि मे आधुनिक युग का सबसे बड़ा शरणार्थी सत्य है। वह नि सहाय है उसे कही सहारा नही मिल रहा है। जब तक सत्य शरणार्थी रहेगा, तब तक मनुष्य को सुख-शांति कैसे मिल सकती है?"

कर्मवाद का दार्शनिक तथ्य उनकी प्रतिभा के पारस से छूकर किस प्रकार सामान्य घटना के माध्यम से उद्गीर्ण हुआ है, यह द्रष्टव्य है—

पंजाब यात्रा का प्रसंग है। एक ट्रक ढकेला जा रहा था। आचार्य तुलसी ने उसे देखकर अपनी टिप्पणी प्रस्तुत करते हुए कहा—"किसी भी व्यक्ति के दिन सदा समान नही होते। सबको सहयोग देकर चलाने वाला

व्यक्ति भी भाग्य ठंडा हो जाने पर दूसरो के सहयोग का मुंहताज बन जाता है। ट्रक का इजन प्रतिदिन कितने लोगो को अपने गंतव्य तक पहुंचा देता है, कितने भारी भरकम सामान को कहा से कहा पहुंचा देता है पर ठडा होने पर उसे ढकेलना पडता है। वह परापेक्षी हो जाता है।

प्रस्तुत प्रसग की स्पष्टता के लिए एक प्रवचनाश को उद्धृत करना भी अप्रासगिक नही होगा। 'आत्मा' गाव मे पदार्पण करने पर अपने प्रवचन का प्रारम्भ करते हुए आचार्य तुलसी ने कहा—"आज हम आत्मा मे आए हैं। आज क्या आये है हम तो पहले से ही यही थे। आज तो वे लोग भी यहां पहुच गये हैं जो सामान्यत बाहर घूमते हैं। बाहर घूमने वाले लोग भटक जाए यह बात समझ मे आती है पर जो वर्षों से 'आत्मा' मे वास करते हैं, वे क्यो भटके ?[1]

अनेक घटनाओ एव कथाओ के प्रयोग से उनके प्रवचन मे सजीवता एव रोचकता आ गयी है। इस कारण से उनके प्रवचन बाल, वृद्ध एव प्रौढ सबके लिये ग्रहणीय बन गये है। इसके साथ आगम, गीता, महाभारत, उपनिषद्, पचतत्र आदि के उद्धरण भी वे अपने प्रवचनो मे देते रहते हैं। वार्तमानिक खोज एवं नयी सूचनाओ के उल्लेख उनके गम्भीर एवं चहुंमुखी ज्ञान की अभिव्यक्ति देते हैं।

उनके प्रवचन साहित्य की अनेक पुस्तके आगम सूक्तो एव अध्यायो की व्याख्या रूप भी हैं। उन प्रवचनो को पढने से ऐसा लगता है कि महावीर वाणी को आधुनिक सदर्भ मे नई प्रस्तुति देने का सशक्त उपक्रम किया गया है।

महावीर वाणी के माध्यम से आज की समस्याओ का समाधान होने से इस साहित्य मे दृढ चरित्रो को उत्पन्न करने की क्षमता पैदा हो गयी है तथा बुराइयों को कुचलकर अच्छाई की ओर बढने की प्रेरणा भी निहित है। 'बूद-बूद से घट भरे' 'मजिल की ओर' आदि पुस्तके आगमिक व्याख्या रूप ही हैं।

निर्भीकता

आचार्य तुलसी के प्रवचनो मे क्राति के स्फुलिंग उछलते रहते हैं। उनकी क्रांतिकारिता इस अर्थ मे अधिक सार्थक है कि वे अपनी बात को निर्भीक रूप से कहते है। वर्ग विशेष की बुराई के प्रति कभी-कभी वे बहुत प्रचंड एव तीखी आलोचना करने से भी नही चूकते। वे इस बात से कभी भयभीत नही होते कि उनकी बात सुनकर कोई नाराज हो जायेगा। उनका स्पष्ट कथन है—"मैं किसी पर व्यक्तिगत रूप से प्रहार करना नही चाहता पर सामूहिक रूप मे बुराई पर प्रहार करना मेरा कर्त्तव्य है। वह चाहे व्यापारी वर्ग मे हो, राजकर्मचारी मे हो या किसी दूसरे वर्ग मे।[2] राजनेताओ की

---

१. पाव पाव चलने वाला सूरज, पृ० ३४९

२. जैन भारती, ७ सित० १९७९

सत्तालोलुप दृष्टि पर कड़ा प्रहार करते हुए उनका कहना है—"जिस समय मत के साथ प्रलोभन और भय जुड़ जाये, वह खरीदफरोख्ती की वस्तु बन जाये, उसके साथ मार-पीट, लूट-खसोट और छीना-झपटी के किस्से बन जाए, इससे भी बड़े हादसे घटित हो जाये। यह सब क्या है? क्या आजादी की सुरक्षा ऐसे कारनामो से होगी? ......ऐसे घिनौने तरीको से विजय पाना और फिर विजय की दुन्दुभि बजाना, क्या यह लोकतंत्र की विजय है? ऐसी विजय से तो हार भी क्या बुरी है?[1]"

केवल विज्ञान पर आश्रित रहकर यांत्रिक एवं निष्क्रिय जीवन जीने वाले देशवासियों को प्रतिबोधित करते हुये उनका कहना है—"जिस देश के घर-घर मे कम्प्यूटर और रोबोट उतर आये, रेडियो और टी० वी० का प्रभाव छा जाए, मनुष्य का हर काम स्वचालित यन्त्रों से होने लगे, मनुष्य यन्त्र की भांति निष्क्रिय होकर बैठ जाए, क्या वह देश विकसित या विकासशील बन सकता है?

केवल बुराईयो के प्रति अगुलिनिर्देश ही नही, वर्ग-विशेष की विशेषताओ को सहलाया भी गया है अतः उनके प्रवचनो में संतुलन बना हुआ है। सदियो से शोपित एव पिछडी महिला जाति के गुणो को प्रोत्साहन देते हुए वे कहते हैं—"मैं देखता हूं आजकल बहिनो का साहस बढा है, आत्मविश्वास जागृत हुआ है, चिंतन की क्षमता भी विकसित हुई है और उनमें जातीय गौरव की भावना प्रज्वलित हुई है।"[2]

वेधकता

आचार्य तुलसी के प्रवचन इतने वेधक होते हैं कि अनायास ही अन्तर मे झांकने को विवश कर देते हैं। सम्भवतः दर्शन और अध्यात्म के सैकडो ग्रथ पढने के बाद भी व्यक्ति के मस्तिष्क मे वह विचार किरण फूटे या न फूटे जो आचार्यश्री के प्रवचन की कुछ पक्तियो मे स्फुरित हो जाती है। उनकी निम्न पंक्तिया कितनी अन्तर्भेदिनी बन गयी है—

० "मै पूछना चाहता हूं कौन नही है दास? कोई मन का दास है, कोई इंद्रियो का दास है, कोई वासना का दास है, कोई वृत्तियो का दास है तो कोई सत्ता का दास है। पहले तो क्रीत होने के बाद दास माना जाता था पर आज तो अधिकांश लोग विना खरीदे दास है।"

० "एक शेर या दैत्य पर नियन्त्रण करना सरल है, पर उत्तेजना के क्षणो मे अपने आप पर नियन्त्रण कर पाना बहुत बड़ी उपलब्धि है।"[3]

१. कुहासे मे उगता सूरज, पृ० ८८
२ दोनो हाथ : एक साथ, पृ० २८
३. एक बूंद : एक सागर, पृ० ३२१

यही कारण है कि उनके प्रवचनो मे शब्दो का आडम्बर नहीं, अपितु हृदय को झकझोरने वाली प्रदीप्त सामग्री होती है।

प्रायोगिकता

प्रवचन मे केवल सैद्धातिक पक्ष की प्रस्तुति ही उन्हे अभीष्ट नही है वे उसे प्रयोग से बराबर जुडा रखना चाहते हैं। वे बात-बात मे ऐसा प्रशिक्षण दे देते है, जिसे श्रोता या द्रष्टा जीवन भर नही भूल सकता।

लाडनू का प्रसग है। प्रवचन के बाद एक युवक ने सूचना देते हुए कहा—'एक घडी (समय सूचक यन्त्र) की प्राप्ति हुई है। जिस किसी भाई की हो वह आकर ले जाए।' इतना सुनते ही आचार्यश्री ने स्मित हास्य बिखेरते हुए कहा—'एक घडी[1] मैंने भी आप लोगो के बीच खोई है। देखता हू कौन-कौन लाकर देता है? सारा वातावरण हास्य से मुखरित ही नही हुआ वरन् अभिनव प्रेरणा से ओतप्रोत हो उठा। श्रोताओ को यह प्रशिक्षण मिल गया कि जो सुना है उसको आत्मसात् करके ही हम गुरुचरणो मे सच्ची दक्षिणा समर्पित कर सकते है।

संस्मरणो की मिठास

उनके प्रवचनो मे अध्यात्म एव नीतिदर्शन का गूढ विश्लेषण ही नही होता, सस्मरणो एव अनुभवो का माधुर्य भी होता है, जो कथ्य को इस भाति संप्रेषित करता है कि वर्षो तक के लिए वह घटना स्मृति-पटल पर अमिट बन जाती है।

रायपुर के भयकर अग्नि-परीक्षा-काड के विरोध के पश्चात् चूरू चातुर्मास मे स्वागत समारोह के अवसर पर वे कहते है—"लोग कहते है कि अन्तरिक्ष मे जाने पर चद्रयात्री भारहीनता का अनुभव करते है पर हम तो पृथ्वी पर ही भारहीन जीवन जी रहे है।" इतने विशाल सघ के नेता की यह प्रसन्न अभिव्यक्ति निश्चित रूप से उन लोगो के लिए प्रेरक है, जो अपने परिवार के कुछ सदस्यो का नेतृत्व करने मे ही खेदखिन्न एवं तनावयुक्त हो जाते है।

उन्ही की भाषा मे प्रस्तुत उनके जीवन का निम्न सस्मरण छोटी सी बात पर प्रतिक्रिया करके आपा खो देने वालो को प्रेरणा देने मे पर्याप्त होगा—"सन् १९७२ की बात है। हमने रतनगढ से प्रस्थान किया। जून-जुलाई की तपती दोपहरी थी। विरोधी वातावरण के कारण स्थान नही मिला। हमारे विरोध मे भ्रातिपूर्ण बातें कही गयी, अत विरोध भडक उठा। पर हमे आचार्य भिक्षु के जीवन से सीख मिली थी—"जो हमारा हो विरोध, हम उसे समझे विनोद।" रतनगढ गाव की सीमा पर

[1] जैन दर्शन मे घडी समय के एक विभाग/४८ मिनिट को कहते है।

गोशाला के सामने बडे-बड़े वृक्ष थे। हमने उन्ही की छाया मे पडाव डाल दिया। लगभग दो तीन घंटे हम वहां रहे। वहा बैठकर आगम का काम किया, साहित्य की चर्चा की और भी आवश्यक काम किए। हमारी इस घटना के साक्षी थे—प्रसिद्ध साहित्यकार जैनेन्द्रजी। उन्हे महत आश्चर्य हुआ कि इस प्रतिकूल वातावरण मे. भी हम पूरी निश्चिन्तता से काम कैसे कर सके ?"[1]

अनुभूत सत्यों की अभिव्यक्ति

उनके प्रवचनो की सरसता का हेतु संस्मरणो की पुट तो है ही, साथ ही वे समय-समय पर अपने जीवन के अनुभूत सत्यो को भी प्रकट करते रहते हैं जिससे यह साहित्य जीवन्त एव जीवट हो गया है। बर्ट्रेंड रसेल अपने जीवन के अनुभवो को इस भाषा मे प्रस्तुत करते है—"अपने लम्बे जीवन मे मैंने कुछ ध्रुव सत्य देखे है—पहला यह कि घृणा, द्वेष और मोह को पल-पल मरना पडता है। दूसरा यह कि सहिष्णुता से बडी कोई प्रेम-प्रीति नही होती। तीसरा यह कि ज्ञान के साथ-साथ विवेक को भी पुष्ट करते चलो, भविष्य की हर सीढ़ी निरामय होगी"। आचार्य तुलसी ने ऐसे अनेक मार्मिक अनुभूत सत्यो को समय-समय पर अभिव्यक्त किया है। आचार्य काल के २५ वर्ष पूरे होने पर वे अपने अन्तर्मन को खोलते हुए कहते है—मैंने अपने जीवन मे कुछ सत्य पाए है, उन्हे मैं प्रयोग को कसौटी पर कसकर जनता के समक्ष प्रस्तुत करना चाहता हू—

- विश्व केवल परिवर्तनशील या केवल स्थितिशील नही है। यह परिवर्तन और स्थिति का अविकल योग है।
- परिस्थिति-परिवर्तन व हृदय-परिवर्तन का योग किए विना समस्या का समाधान नही हो सकता।
- केवल सामाजिकता और केवल वैयक्तिकता को मान्यता देने से समस्याओ का समाधान नही हो सकता।
- वर्तमान और भविष्य—दोनो मे से एक भी उपेक्षणीय नही है।
- भौतिकता मनुष्य को विभक्त करती है। उसकी एकता अध्यात्म के क्षेत्र मे ही सुरक्षित है।
- कोई भी धर्म-संस्थान राजनीति और परिग्रह से निर्लिप्त रहकर ही अपना अस्तित्व कायम रख सकता है।
- आध्यात्मिक एकता का विकास होने पर ही सह-अस्तित्व का सिद्धात क्रियान्वित हो सकता है तथा जातिवाद, भाषावाद, सम्प्रदायवाद, प्रातवाद और राष्ट्रवाद की सीमाए टूट सकती हैं।[2]

---

१. दीया जले अगम का, पृ० १८-१९

२. अतीत का विसर्जन : अनागत का स्वागत, पृ० १४१-४३

आचार्यकाल के पचास वर्ष पूर्ण होने पर वे सगठन मूलक १३ सूत्रों को जनता के समक्ष प्रस्तुत करते है। उनमे से कुछ अनुभव-सूत्र इस प्रकार है—

१. वही सगठन अधिक कार्य कर सकता है, जो अनुशासन, ज्ञान और चरित्र से सम्पन्न होता है।
२. व्यापक क्षेत्र मे कार्य करने के लिए दृष्टिकोण को उदार बनाना जरूरी है। सकीर्ण दृष्टि वाला कोई बडा कार्य नही कर सकता।
३ प्रगति के लिए प्राचीन परम्पराओ को बदलना आवश्यक है। किंतु विवेक उसकी पूर्व पृष्ठभूमि है।
४ प्रगति और परिवर्तन के साथ सघर्ष भी आता है। उसे झेलने के लिए मानसिक सतुलन आवश्यक है। असतुलित व्यक्ति सघर्ष मे विजयी नही हो सकता।
५. सगठन की दृष्टि से सस्था का मूल्य निश्चित है। पर उससे भी अधिक मूल्य है गुणात्मकता का। मैंने प्रारभ से ही व्यक्ति-निर्माण पर ध्यान दिया। उसमे मुझे कुछ सफलता मिली। इसका मुझे सतोष है।
६. केवल विद्या के क्षेत्र मे आगे बढने वाला सघ चरित्र की शक्ति के बिना चिरजीवी नही हो सकता, तो केवल चरित्र को मूल्य देने वाला जनता के लिए उपयोगी नही बन सकता।
७. सुविधावादी दृष्टिकोण मनुष्य को कर्तव्यविमुख, सिद्धातविमुख और दायित्वविमुख बनाता है।[1]

ये अनुभव उनके जीवन की समग्रता एव आनद को अभिव्यक्त करते हैं। इस प्रकार के अनुभूत सत्यो का संकलन यदि उनके साहित्य से किया जाए तो एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज बन सकता है। ये अनुभव सम्पूर्ण मानव जाति का दिशादर्शन करने मे समर्थ है।

पुरुषार्थ की परिक्रमा

आचार्य तुलसी पुरुषार्थ की जलती मशाल है। उनके व्यक्तित्व को एक शब्द मे बन्द करना चाहे तो वह है—पौरुष। उनके पुरुषार्थी जीवन ने अनेक विरोधियो को भी उनका प्रशसक बना दिया है। इसके एक उदाहरण हैं—ख्यातिप्राप्त विद्वान् पं० दलसुखभाई मालवणिया। वे आचार्यश्री के पुरुषार्थी व्यक्तित्व का शब्दाकन करते हुए कहते हैं—

"प्रमाद के प्रवेश के लिए जीवन मे असख्य भाग है। उन सबकी चौकसी रखनी होती है और निरन्तर अप्रमत्त बने रहना होता है। आचार्य तुलसी मे मैंने इस पुरुषार्थ की झाकी पाई है। वह न चैन लेते हैं और न लेने देते है।" उनका प्रवचन साहित्य श्रम की सस्कृति को

. सफर : आधी शताब्दी का, पृ० ५०-५३।

उज्जीवित करने का महत् प्रयत्न है। पुरुषार्थहीन एवं अकर्मण्य जीवन के वे घोर विरोधी हैं। उनकी दृष्टि मे तलहटी से शिखर तक पहुंचने का उपाय पुरुषार्थ है। पुरुषार्थी के द्वार पर सफलता दस्तक देती है, वह हारी बाजी को जीत मे बदल देता है। इसके विपरीत अकर्मण्य व्यक्ति की क्षमताओ मे जग लग जाता है और वह कुछ न करने के कारण उम्र से पहले ही बूढा हो जाता है। समाज की अकर्मण्यता को झकझोरती हुई उनकी यह उक्ति कितनी वेधक है—"यह एक प्रकार की दुर्बलता है कि व्यक्ति खेती के लिए श्रम तो नही करता पर अच्छी फसल चाहता है। दही मथने का श्रम नही करता, पर मक्खन पाना चाहता है। व्यवसाय मे पुरुषार्थ का नियोजन नही करता, पर धनपति बनना चाहता है। पढ़ने में समय लगाकर मेहनत नही करता, पर परीक्षा मे अच्छे अंको से उत्तीर्ण होना चाहता है। ध्यान-साधना का अभ्यास नही करता, पर योगी बनना चाहता है।"[1]

इसी सन्दर्भ मे उनकी निम्न अनुभूति भी प्रेरक है—"मेरे मन में अनेक बार विकल्प उठता है कि सूरज आता है, प्रकाश होता है। उसके अस्त होते ही फिर अंधकार छा जाता है। प्रकाश और अन्धकार की यात्रा का यह शाश्वत क्रम है। ये काम करते-करते नहीं अघाते तो फिर हम क्यो अघाएं ?"[2]

शताब्दियो से दासता के कारण जर्जर देश की अकर्मण्यता को झकझोरने मे उनका प्रवचन साहित्य अहंभूमिका रखता है। उनकी हार्दिक अभीप्सा है कि पूरा समाज पुरुषार्थ के वाहन पर सवार होकर यात्रा करे और जीवन के सीधे सपाट रास्ते मे सृजन का एक नया मोड़ दे। 'चरैवेति, चरैवेति' का आर्षवाक्य उनके कण-कण मे रमा हुआ है अत. अकर्मण्यता और सुविधावाद पर जितना प्रहार उनके साहित्य में मिलता है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है।

अडोल आत्मविश्वास

उनका प्रवचन साहित्य हमारे भीतर यह आत्मविश्वास जागृत करता है कि समस्या से घबराना कायरता है। समस्याएं मनुष्य की पुत्रिया है अतः वे हर युग मे रहती हैं, केवल उनका स्वरूप बदलता है। उनका कहना है कि "समस्या न आए तो दिमाग निकम्मा हो जाएगा। मैं चाहता हू कि समस्याएं आएं और हम हसते-हंसते समाधान करते रहे। मनुष्य द्वारा उत्पादित समस्याओ का समाधान करने के लिए आकाश से कोई देवता नही आएगा,

---

१. एक बूद . एक सागर, पृ० १३६२
२. वही, पृ० १६९३

पृथ्वी पर ही किसी को भगवान् बनना पड़ेगा।''[1] वे इस बात को अपने प्रवचनो मे बार-बार दोहराते रहते है कि किसी भी समस्या या प्रश्न को इसलिए नही छोडा जा सकता कि वह जटिल है। विवेक इस बात मे है कि हर जटिल पहेली को सुलझाने का प्रयत्न किया जाए। इसी अडोल आत्म-विश्वास के कारण उन्होने अपने साहित्य मे हर कठिन समस्या को समाधान तक पहुचाने का तीव्र प्रयत्न किया है। वे अनेक बार यह प्रतिबोध देते है—"ससार की कोई ऐसी समस्या नही है, जिसका समाधान न किया जा सके। आवश्यकता है अपने आपको देखने की और किसी भी परिस्थिति मे स्वय समस्या न बनने की।" उनके साहित्य मे देश, समाज, परिवार एव व्यक्ति की हजारो समस्याओ का समाधान है। उनके कदमो मे कही लडखडाहट, शका, थकावट या बेचैनी नही है। यही कारण है कि उनके हर कदम, हर श्वास, हर वाक्य तथा हर मोड मे नया आत्म-विश्वास झलकता है।

मनोवैज्ञानिकता

आचार्य तुलसी महान् मनोवैज्ञानिक है। वे हजारो मानसिकताओ से परिचित है इसलिए उनके प्रवचन मे सहज रूप से अनेको मनोवैज्ञानिक तथ्य प्रकट हो गए है।

हजारीप्रसाद द्विवेदी का मानना है कि जो साहित्यकार मानव मन को मथित और चलित करने वाली परिस्थितियो की उद्भावना नही कर सकता तथा मानवीय सुख-दु ख को पाठक के समक्ष हस्तामलक नही बना देता, वह बडी सृष्टि नही कर सकता।[2]

वे कितने बडे मनोवैज्ञानिक है इसका अकन निम्न घटना से गम्य है—एक बार पदयात्रा के दौरान रूपनगढ गाव मे सेवानिवृत्त एक सेना के अफसर से आचार्यश्री वार्तालाप कर रहे थे। इतने मे एक जैन भाई वहा आया और कान मे धीरे से बोला—यह आदमी शराब पीता है अत आपके साथ बात करने लायक नही है। पर आचार्यश्री उस अफसर से बात करते रहे। आचार्यश्री की प्रेरणा से उस भाई ने दस मिनिट मे शराब छोड दी। थोडी देर बाद आचार्यश्री उस जैन भाई की ओर उन्मुख होकर पूछने लगे। 'आप व्यापार तो करते होगे?' वह बोला—'यहा मेरी दुकान है। मै घी-तेल का व्यापार करता हू।' यह बात सुन मैने पूछा—'आप तो जैन है। घी-तेल मे मिलावट तो नही करते है?' वह बोला—'महाराज! हम गृहस्थ हैं।' मेरा दूसरा प्रश्न था—'तोल-माप मे कमी-बेशी तो नही करते?' वह बोला—'महाराज! आप जानते है। व्यापार मे यह सब तो चलता है।' मैने

---

१. एक बूद : एक सागर, [illegible] ९१-९२

२ [illegible] भाग ७, पृ० १७७

कहा—'भाई ! मिलावट पाप है, तोल-माप मे कमी-वेशी करना ग्राहको को धोखा देना है। एक धार्मिक व्यक्ति यह सब करे, उसका क्या प्रभाव होता होगा ?' वह बोला—'आपका कहना सही है। पर क्या करू ? गृहस्थ को सब कुछ करना पडता है।' मैने उस भाई को समझाने के लिए सारी शक्ति लगा दी। पर वह टस से मस नही हुआ। न उसने मिलावट छोडी न और कुछ।

मैंने उस भाई को स्पष्टता से कहा—'आपके गुरु किमी शरावी व्यक्ति से वात करते हैं तो आपको खरावी का अन्देशा रहता है, जवकि उस व्यक्ति ने पूरी शराव छोड दी। आप जैसे व्यक्तियो के साथ वात करने मे हमारी गरिमा कैसे वढ़ेगी ? आप जैन होकर भी अपने व्यवसाय मे ईमानदार नही हैं। शराव पीने वाला तो केवल अपना नुकसान करता है, जवकि व्यापार मे की जाने वाली हेराफेरी से तो हजारो का नुकसान होता है। आप अपने गुरुओ पर तो अंकुश लगाना चाहते है, पर स्वयं पर कोई अंकुश नही है। ऐसी धार्मिकता से किसका कल्याण होगा ?' मेरी वात सुन उस भाई को अपनी भूल का अहसास हो गया।[१]

आचार्य तुलसी ने जनसामान्य के मन मे उठने वाले सदेहो, सकल्पो-विकल्पो एव मानसिक दुर्बलताओ को उठाकर उसका सटीक समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। विपय के प्रतिपक्ष मे उठने वाले तर्क उठाकर उसे समाहित करने से उनकी वर्णन शैली मे एक चमत्कार उत्पन्न हो गया है तथा विषय की स्पष्टना भी भलीभांति हो गई है। इस प्रसग मे निम्न उदाहरण को रखा जा सकता है—

"कुछ व्यक्ति कहा करते हैं हम त्याग तो करले लेकिन भविष्य का क्या पता ? कभी वह टूट जाए तो ? यह तो ऐसी वात हुई कि कोई भोजन करने से पहले ही यह कहे कि मै तो भोजन इसलिए नही करूंगा कि कही अजीर्ण हो जाए तो ? क्या उस अप्रकट अजीर्ण के डर से भोजन छोड़ा जा सकता है ? इसी प्रकार व्रत लेने से पहले ही टूटने की आशंका करना व्यर्थ है।"

नवीनता और प्राचीनता का संगम

उनके प्रवचन साहित्य को नवीनता और प्राचीनता का सगम कहा जा सकता है। उनका चिन्तन है कि "पुराणमित्येव न साधु सर्वं" यह सत्य है तो "नवीनमित्येव न साधु सर्वं" यह भी सत्य है। अत. दोनो का समन्वय अपेक्षित है। इस सन्दर्भ मे वे अपनी अनुभूति इस भाषा मे प्रस्तुत करते है—

"मैं अतीत और वर्तमान दोनो के सम्पर्क मे रहा हूं। पुरानी स्थिति का मैंने

---

१. मनहसा मोती चुगे, पृ० ९०-९१

अनुभव किया है और नई स्थिति में रह रहा हू । मैंने दोनो को साथ लेकर चलने का प्रयत्न किया है । इसलिए मै रूढिवाद और अति आधुनिकता इन दोनो अतियो से बचकर चलने मे समर्थ हो सका हूं ।"

प्राचीन को अपनाते समय भी उनका विवेक एवं मौलिक चिंतन सदैव जागृत रहा है । वे अनेक बार लोगो की सुप्त चेतना को झकझोरते हुए कहते हैं—"तीर्थंकरो ने कितना ही कुछ खोज लिया हो, आपकी खोज बाकी है । आपके सामने तो अभी भी सघन तिमिर है । आप प्रयत्न करे, किसी के खोजे हुए सत्य पर रुके नही, क्योकि वह आपके काम नही आएगा ।"[1] आचार्य तुलसी डा० राधाकृष्णन् के इस अभिमत से कुछ अशो मे सहमत है कि "आज यदि हम अपनी प्रत्येक गतिविधि मे मनु द्वारा निर्दिष्ट जीवन पद्धति को ही अपनाए तो अच्छा था कि मनु उत्पन्न ही नही हुए होते ।" एक सगोष्ठी मे लोगो की विचार चेतना को जागृत करते हुए वे कहते है—"महावीर ने जो कुछ कहा वही अन्तिम है, उससे आगे कुछ है ही नही—इस अवधारणा ने एक रेखा खीच दी है । अब इस रेखा को छोटा करने या मिटाने का साहस कौन करे ?"[2]

उनके साहित्य को पढते समय ऐसा महसूस होता है कि प्राचीन संस्कारो एव परम्पराओ से बंधे रहने पर भी युग को देखते हुए उसमे परिवर्तन लाने एवं नवीनता को स्वीकारने मे वे कही पीछे नही हटे है । उनका स्पष्ट कथन है कि "प्राचीनता मे अनुभव, उपयोगिता, दृढता और धैर्य का एक लवा इतिहास छिपा है तो नवीनता मे उत्साह, आकाक्षा, क्रियाशक्ति और प्रगति की प्रचुरता है अत. अनावश्यक प्राचीनता को समेटते हुए आवश्यक नवीनता को पचाते जाना विकास का मार्ग है ।"[3] एक को खडित करके दूसरे को प्रस्तुत करना सत्य के प्रति अन्याय है ।

उन्होने नवीन और प्राचीन के सन्धिस्थल पर खड़े होकर दोनो को इस रूप मे प्रस्तुति दी है कि नवीन प्राचीन का परिवर्तित रूप प्रतीत हो न कि ऊपर से लपेटी या थोपी वस्तु । यही कारण है कि उनके प्रवचनो मे प्रतिपादित तथ्य न रूढ़ हैं और न अति आधुनिक वल्कि अतीत और वर्तमान दोनों का समन्वय है । इसी कारण उन्हे केवल प्रवचनकार ही नही अपितु युग-व्याख्याता भी कहा जा सकता है ।

आस्था और तर्क का समन्वय

प्रवचनकार के साथ आचार्य तुलसी एक महान् दार्शनिक भी हैं ।

---

१. बीती ताहि विसारि दे, पृ० ७८
२. बहता पानी निरमला, पृ० ९३
३. एक बूद . एक सागर, पृ० ७८५

आस्था और तर्क के सम्बन्ध मे उनकी मौलिक विचारणा इस विषय का एक निदर्शन है। वे कहते है—'उत्तम तर्क वही होता है, जो श्रद्धा के प्रकर्ष में फूटता है।'[1] उनके चिंतन मे सत्य दृष्टि यही है कि जहा तर्क काम करे, वहा तर्क से काम लो और जहा तर्क काम नही करे, वहा श्रद्धा से काम लो, क्योंकि आस्था में गतिशीलता है पर देखने-विचारने की क्षमता नही है। तर्क शक्ति हर तथ्य को सूक्ष्मता से देखती है पर चलने की सामर्थ्य नही रखती।[2]

वे अपने जीवन का अनुभव बताते हुए एक प्रवचन मे कहते हैं—'यदि हम कोरे आस्थावादी होते तो पुराणपन्थी बन जाते। यदि हम कोरे तार्किक होते तो अपने पथ से दूर चले जाते। हमने यथास्थान दोनो का सहारा लिया, इसलिए हम अपने पूर्वजो द्वारा खीची हुई लकीरों पर चलकर भी कुछ नई लकीरे खीचने मे सफल हुए है।'

धर्म की व्यावहारिक प्रस्तुति

आचार्य तुलसी आध्यात्मिक जगत् के विश्रुत धर्मनेता है। उनके प्रवचनों मे धर्म और अध्यात्म की चर्चा होना बहुत स्वाभाविक है। पर उन्होने जिस पैनेपन के साथ धर्म को वर्तमान युग के समक्ष रखा है, वह सचमुच मननीय है। जीवन की अनेक समस्याओं को उन्होने धर्म के साथ जोडकर उसे समाहित करने का प्रयत्न किया है। ईश्वर, जीव, जगत् पुनर्जन्म आदि आध्यात्मिक चिन्तन विन्दुओ पर उन्होने व्यावहारिक प्रस्तुति देकर उसे जनभोग्य बनाने का प्रयत्न किया है। धर्म की रूढ परम्पराओ एव धारणाओ का जो विरोध उनके साहित्य मे प्रकट हुआ है, उसने केवल बौद्धिक समाज को ही आकृष्ट नही किया वरन् प्रधानमन्त्री से लेकर मजदूर तक सभी वर्गों का ध्यान अपनी ओर खीचा है। कहा जा सकता है कि उनका प्रवचन साहित्य धर्म के व्यापक एव असाम्प्रदायिक स्वरूप को प्रकट करने मे सफल रहा है।

वे अपनी यात्रा के तीन उद्देश्य बताते है—१ मानवता या चरित्र का निर्माण। २ धर्म समन्वय। ३ धर्मक्राति। यही कारण है कि उन्होने केवल धर्म को व्याख्यायित करके ही अपने कर्तव्य की इतिश्री नही मानी बल्कि धार्मिक को सही धार्मिक बनाने मे भी उनके चरण गतिशील रहे हैं। क्योंकि उनका मानना है "धर्म को जितनी हानि तथाकथित धार्मिको ने पहुंचाई है उतनी तो अधार्मिको ने भी नही पहुंचाई।"

२१ अक्टू० १९४९ को डा० राजेन्द्रप्रसाद आचार्यश्री से मिले। उनके ओजस्वी विचार सुनकर वे अत्यन्त प्रभावित हुए। राष्ट्रपतिजी ने पत्र द्वारा अपनी प्रतिक्रिया इस भाषा में प्रेषित की—"उस दिन आपके दर्शन पाकर मैं

---

१. एक बूद : एक सागर, पृ० १३५९
२. वही, पृ० ४११

बहुत अनुगृहीत हुआ। " जिस सुलभ रीति से आप धर्म के गूढ तत्त्वो प्रचार कर रहे हैं उन्हे सुनकर मै बहुत प्रभावित हुआ और आशा कर कि इस तरह का शुभ अवसर मुझे फिर मिलेगा।"

आचार्यश्री तुलसी अपने प्रवचनो मे अनेक बार इस बात को दोह हैं कि धर्म सादगी और सयम का सदेश देता है। वहा भी यदि दिखावा एव विलासिता का प्रदर्शन होता है तो फिर सयम की सस्कृति सुरक्षित कौन रखेगा ? धर्म की स्थिति का विश्लेपण उनकी दृष्टि मे प्रकार है—"धर्म का क्रातिकारी स्वरूप जनता के समक्ष तभी आएगा, वह जनमानस को भोग से त्याग की ओर अग्रसर करे किन्तु आज त्याग के लिए अग्रसर हो रहा है। यह वह कीटाणु है जो धर्म के स्वरूप को वि बना रहा है।"[1]

उनका स्पष्ट कथन है कि धर्म कहने, सुनने और समझाने का त नही, अपितु अनुभव करने और जीने का तत्त्व है। वे तो निर्भीकतापूर्वक तक कह देते हैं—"आज के चन्द्रयान व राकेट के युग मे केवल मन्दिर मस्जिदो एव धर्मस्थानो की शोभा बढाने वाला धर्म अब बहुत दिनों तक चल वाला नही है।"[2] यदि धर्म और अध्यात्म को प्रयोगात्मक नही बनाया एक दिन वह अमान्य हो जाएगा।[3] धर्म के क्षेत्र मे उनकी यह दृष्टि कितन वैज्ञानिक और व्यावहारिक है।

धर्म और विज्ञान का समन्वय

एक सम्प्रदाय के गुरु एव धर्मनेता होते हुए भी उनके प्रवचन केव धर्म की व्याख्या ही नही करते वरन् विज्ञान का समावेश भी उनमे है व्यवहार मे दोनो की दिशाए भिन्न-भिन्न है क्योकि साहित्य मे भावनाओ और सवेगो को प्राथमिकता दी जाती है जबकि विज्ञान के लिए ये काल्पनिक हैं। उनकी पैनी दृष्टि ने दोनो के बीच पूरकता को देखा ही नही उसे समझने का भी प्रयत्न किया है। उनकी दृष्टि मे कोरा विज्ञान विध्वंसक तथा कोरा अध्यात्म रूढ है, अत "आध्यात्मिक-वैज्ञानिक-व्यक्तित्व" की कल्पना ही नही की उसे प्रयोग की धरती पर उतार कर इतिहास मे एक नए अध्याय का सृजन भी किया है। धर्मशास्त्र के विरुद्ध विज्ञान की नयी खोज का प्रसग उपस्थित होने पर भी उनका बौद्धिक, उदार एवं अनाग्रही मानस वैज्ञानिक सत्य को स्वीकारने मे हिचकिचाता नही और न ही धर्मशास्त्र के प्रति अनास्था व्यक्त करता है चन्द्रयात्रियो ने चाद का जो स्वरूप व्यक्त किया उसे सुनकर आचार्य तुलसी ने

---

१. जैन भारती, २४ जुलाई १९६६
२. जैन भारती, १० अक्टू० १९७१
३. जैन भारती, जन० १९६८

अपनी सन्तुलित एवं सटीक टिप्पणी व्यक्त करते हुए कहा—"यह अच्छा ही हुआ, जिस सत्य से हम आज तक अनजान थे वह आज अनावृत हो गया। हो सकता है, सत्य का यह अनावरण हमारी परम्पराओं पर चोट करने वाला हो, हमारे लिए प्रिय नहीं हो, फिर भी वे लोग बधाई के पात्र हैं, जिन्होंने अथक परिश्रम से एक महान् तथ्य का उद्‌घाटन किया है। हम न तो प्रत्यक्ष तथ्यों को असत्य या अप्रामाणिक बनाने की चेष्टा करें और न ही अध्यात्म के प्रति अपनी आस्था को शिथिल करें।" दो विरोधी तथ्यों में तराजू के पलड़े की भांति निष्पक्ष मध्यस्थता करने वाला व्यक्ति ही महान् हो सकता है, सत्यद्रष्टा हो सकता है। उनकी यह उदार टिप्पणी निश्चित ही रूढ धर्माचार्यों के लिए एक चुनौती है।

आचार्यश्री तुलसी के चिन्तन एवं कर्तृत्व ने डा० बी० डी० वैश्य की निम्न पंक्तियों को सार्थक किया है—"भारत की जीनियस (प्रतिभा) के सच्चे प्रतिनिधि वैज्ञानिक नहीं, अपितु सन्त हैं।[1]

जीवन-मूल्यों का विवेचन

आचार्य तुलसी की अवधारणा है कि इस धरती का सबसे महत्त्वपूर्ण प्राणी मानव है। यदि उसका सही निर्माण नहीं होगा तो निर्माण की अन्य योजनाएं निरर्थक हो जाएंगी। सामाजिक दृष्टि से भी इकाई को पृथक् रख कर निर्माण की बात करना असम्भव है। निर्माण की प्रक्रिया में आचार्य तुलसी व्यक्ति-सुधार से समाज-सुधार की बात कहते हैं। वे अपने विश्वास को इस भाषा में दोहराते हैं—"जब तक व्यक्ति-निर्माण की ओर ध्यान नहीं दिया जाएगा तब तक समष्टि निर्माण की बात का महत्त्व दिवास्वप्न से ज्यादा नहीं होगा।"[2] वे मानते हैं मैत्री, प्रमोद, करुणा और अहिंसा की पौध से मनुष्य के मन और मस्तिष्क को हरा-भरा बनाया जाए, तभी इस धरती की हरियाली अधिक उपयोगी बनेगी।[1]

जीवन-निर्माण के सूत्रों का सहज, सरल भाषा में जितना उल्लेख आचार्य तुलसी ने अपने प्रवचन साहित्य में किया है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी भाषा में जीवन-कला का व्यावहारिक सूत्र सन्तुलन है—"जो व्यक्ति थोड़ी-सी खुशी में फूल जाता है, और थोड़े से दुःख में संतुलन खो देता है, आपा भूल जाता है, वह जीवन-कला में निपुण नहीं हो सकता।" उनके विचार में जीवन के सम्यक् निर्माण के लिए आवश्यक है कि मानव को जीवन के उद्देश्य से परिचित कराया जाए। उनकी दृष्टि में जीवन का

१. साहित्य और समाज, पृ० ३०
१. जैन भारती, २० नव० १९६९
२. तेरापंथ दिग्दर्शन, पृ० १३५

उद्देश्य भौतिक धरातल पर नही, आध्यात्मिक स्तर पर निर्धारित करना आवश्यक है। जीवन के उद्देश्य से परिचित कराने वाली उनकी निम्न उक्ति अत्यन्त प्रेरक है—"जीवन का उद्देश्य इतना ही नही है कि सुख-सुविधापूर्वक जीवन व्यतीत किया जाए, शोपण और अन्याय से धन पैदा किया जाए, वडी-वड़ी भव्य अट्टालिकाएं वनायी जाए और भौतिक साधनों का यथेष्ट उपयोग किया जाए। उसका उद्देश्य है—उज्ज्वल आचरण, सात्त्विक वृत्ति और प्रतिक्षण आनंद का अनुभव।"

सामयिक सत्यों की प्रस्तुति

एक धर्माचार्य द्वारा सामयिक सदर्भो से जुडकर युग की समस्याओ को समाहित करने का प्रयत्न इतिहास की दुर्लभ घटना है। पर्यावरण प्रदूपण आज की ज्वलत समस्या है। मानव के यांत्रिकीकरण और प्रकृति से दूर जाने की वात देखकर वे लोगो को चेतावनी देते हुए कहते है—"आदमी जितना प्रवुद्ध और सम्पन्न होता जा रहा है, प्रकृति से वह उतना ही दूर होता जा रहा है। न वह प्राकृतिक हवा मे सोता है, न प्राकृतिक ईंधन से वना खाना खाता है और न प्रकृति के साथ क्रीडा करता है। शायद इसी कारण प्रकृति अपने तेवर वदल रही है और मनुष्य को प्राकृतिक आपदाओ का सामना करना पड रहा है।"[1]

प्रचुर मात्रा मे प्रकृति का दोहन असतुलन की समस्या को भयावह वना रहा है। प्रकृति के अनावश्यक दोहन एव उपयोग के वारे मे वे मानव जाति का ध्यान आकृष्ट करते हुए कहते है—"सूखी धरती को भिगोने की क्षमता मनुष्य मे हो या न हो, वह पानी का दुरुपयोग क्यो करे ? पाच किलो पानी से जो काम हो सके, उसमे सावर खोलकर पचास किलो पानी नालियो मे वहा देना पानी के सकट को वढाने की वात नही है क्या ?' वे तो वैज्ञानिको को यहा तक चेतावनी दे चुके है—'जव से मनुष्य ने पदार्थ की ऊर्जा मे हस्तक्षेप शुरू किया, उसी दिन से मनुष्य का अस्तित्व विनाश के कगार पर खडा है।'[3]

वर्तमान क्षण के सुख मे डूवा मनुष्य भविष्य की कठिनाइयो की ओर से आख मूद रहा है। उनकी यह अभिप्रेरणा अनेक प्रसगो मे मुखर होती है। वे जन-साधारण को सयम का सदेश देते हुए कहते हैं—"जव तक मानव सयम की ओर नही मुडेगा, पिशाचिनी की तरह मुह वाए खडी विपम समस्याए उसका पीछा नही छोडेंगी।"[4]

१-२. अणुव्रत, १६ अप्रेल ९०

३ कुहासे मे उगता सूरज, पृ. ३८

४. ऐक वूद एक सागर, पृ. १४०९

संस्कृति के स्वर

सतता सस्कृति की वाहक होती है अतः सत ही अधिक प्रामाणिक तरीके से सास्कृतिक तत्त्वो की सुरक्षा कर सकते है। आचार्य तुलसी के प्रवचन साहित्य मे भारतीय संस्कृति का आलोक सर्वत्र बिखरा मिलेगा। भारतीय चिंतनधारा मे उनकी विचारणा एक नया द्वार उद्घाटित करने वाली है। उनकी दृष्टि मे संस्कृति कोई अनगढ पाषाण का नाम नही अपितु चिंतन, अनुभव और लगन की छैनियों से तराशी गयी सुघड प्रतिमा संस्कृति है। उनके विचारों में सस्कृति पहाडो, तीर्थक्षेत्रो और विशाल भवनो में नही अपितु जन-जीवन मे होती है।[1] इसी सूक्ष्म एवं विशाल दृष्टि के कारण उनके प्रवचनो मे लोकसंस्कृति को उन्नत एवं समृद्ध बनाने के अनेक तत्त्व निहित हैं। भारतीय सस्कृति मे पनपी जडता को उन्होने प्रवचनों के माध्यम से तोडने का भरसक प्रयत्न किया है।

उनका स्पष्ट चिंतन है कि पाश्चात्त्य संस्कृति की नकल करके हम न तो उन्नत बन सकते हैं और न ही अपने अस्तित्व की रक्षा करने में समर्थ हो सकते है। वे अनेक बार अपने प्रवचनों में इस खतरे को प्रकट कर चुके हैं कि भारतीय मस्कृति को विदेशी लोगों से उतना खतरा नही, अपितु इस संस्कृति मे जीने वालो से है क्योकि वे अपनी सस्कृति को महत्त्व न देकर दूसरो को महत्त्व प्रदान कर रहे है। भारतीय संस्कृति को समृद्ध बनाने के सूत्र वे समय-समय पर अपने प्रवचनो में प्रदान करते रहते हैं—"अणुव्रतो के द्वारा अणुबमो की भयकरता का विनाश हो, अभय के द्वारा भय का विनाश हो, त्याग के द्वारा सग्रह का ह्रास हो, ये घोष सभ्यता, संस्कृति और कला के प्रतीक बने तभी जीवन की दिशा बदल सकती है।"

सस्कृति के सदर्भ मे संकीर्णता की मनोवृत्ति उन्हे कभी मान्य नही रही है। वे हिन्दू सस्कृति को बहुत व्यापक परिवेश में देखते हैं। हिन्दू शब्द की जो नवीन व्याख्या आचार्यश्री ने दी है, वह देश की एकता और अखंडता को बनाए रखने मे पर्याप्त है। वे कहते हैं—'यदि हिंदू शब्द की गरिमा बढानी है तो उसे वैदिक विचारों के सकीर्ण घेरे से निकालना होगा। हिंदुत्व के सिंहासन पर जब तक वैदिक विचार छाया रहेगा, तब तक जैन, बौद्ध और अन्य धर्म उनके निकट कैसे जा सकेंगे? अत. हिन्दू शब्द को धर्म विशेष के साथ जोडना उसे साम्प्रदायिक और संकीर्ण बनाना है।"[2]

सस्कृति को व्याख्यायित करती उनकी निम्न पंक्तिया कितनी वेधक बन पडी है—"हिंदू होने का अर्थ यदि मुसलमान के विरोध मे खड़ा होना हो

---

१. एक बूंद : एक सागर, पृ० १४२०

२. अतीत का विसर्जन अनागत का स्वागत, पृ० ८०,८१

तो मैं उसे सस्कृति की संज्ञा नही दे सकता। मुसलमान होने का अर्थ यदि हिंदू के विरोध में खडा होना हो तो उसे भी मैं संस्कृति की सज्ञा देना नही चाहूंगा।[1]" उनकी दृष्टि मे संस्कृति की श्रेष्ठता और अश्रेष्ठता ही किसी संस्कृति का मूल्य-मानक है। इससे हटकर साम्प्रदायिकता, जातीयता आदि के वटखरो से उसे तोलना यथार्थ से परे होना है।

आचार्य तुलसी शिक्षा को संस्कृति के पूरक तत्त्व के रूप मे ग्रहण करते है। उनकी दृष्टि मे शिक्षा संस्कृति को परिष्कृत करने का एक अग है। इस क्षेत्र मे उनका स्पष्ट कथन है कि शिक्षा का सम्वन्ध आचरण के परिष्कार के साथ होना चाहिए। यदि आचरण परिष्कृत नही है तो शिक्षित और अशिक्षित मे कोई अंतर नही हो सकता है। शिक्षा के संदर्भ मे उनकी महत्त्वपूर्ण टिप्पणी है— "शिक्षा प्राप्त करने का उद्देश्य केवल बौद्धिक विकास या डिग्री पाना ही हो, यह दृष्टिकोण की सकीर्णता है। क्योकि शिक्षा का सम्वन्ध शरीर, मन, वुद्धि और भाव सवके साथ है। एकागी विकास की तुलना शरीर की उस स्थिति के साथ की जा सकती है, जिसमे सिर वडा हो जाए और हाथ पाव दुबले-पतले रहे। शरीर की भाति व्यक्तित्व का असतुलित विकास उसके भौंडेपन को प्रदर्शित करता है।"[2] वे शिक्षा के साथ नैतिक विकास का होना अत्यन्त आवश्यक मानते है। यदि शिक्षा का आधार नैतिक वोध नही हुआ तो वह अशिक्षा से भी अधिक भयकर हो जाएगी। वे मानते है जिस शिक्षा के साथ अनुशासन, धैर्य, सहअस्तित्व, जागरूकता आदि जीवन-मूल्यो का विकास नही होता, उस शिक्षा की जीवत दृष्टि के आगे प्रश्नचिह्न उभर आता है। अतः शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य है, जीवन मूल्यो को समझना, यथार्थ को जानना तथा उसे पाने की योग्यता हासिल करना।[3]

आज की यान्त्रिक एव निष्प्राण शिक्षापद्धति मे जीवन विज्ञान के माध्यम से उन्होने नव प्राणप्रतिष्ठा की है तथा इसके अभिनव प्रयोगो से शिक्षा द्वारा अखड व्यक्तित्व निर्माण की योजना प्रस्तुत की है।

जीवन विज्ञान के साथ-साथ वे शिक्षा मे क्राति लाने हेतु त्रिआयामी चर्चा प्रस्तुत करते हैं। वे मानते है शिक्षा तभी प्रभावी वनेगी जव विद्यार्थी, शिक्षक और अभिभावक तीनो को प्रशिक्षित और जागरूक वनाया जाए। शिक्षा सस्थान मे पवित्रता वनाए रखने के लिए वे तीन वातें आवश्यक मानते हैं—

१ साम्प्रदायिकता से मुक्ति

---

१ एक वूद . एक सागर, पृ० १४२२

२. क्या धर्म वुद्धिगम्य है ?, पृ० १३७

३. जैन भारती, २२ जून ८६

२. दलगत राजनीति से मुक्ति
३ अनैतिकता से मुक्ति ।[1]

उन्होने अपने साहित्य मे शिक्षा के इतने पहलुओ को छुआ है कि उन सबका समाकलन किया जाए तो अनायास ही पूरा शोधप्रबन्ध लिखा जा सकता है।

भविष्य की चेतावनी

आचार्य तुलसी ऐसे व्यक्तित्व का नाम है, जो वर्तमान मे जीते है और भविष्य पर अपनी गहरी नजरे टिकाए रखते है। यही कारण है कि उनकी पारदर्शी दृष्टि आने वाले कल को युगो पूर्व पहचान लेती है। अपने प्रवचनो मे वे भविष्य मे आने वाले खतरो एव बाधाओ से आगाह करते हुए उससे बचने का संदेश भी समाज को बराबर देते रहते है।

सन् १९५०, दिल्ली के टाउन हाल में प्रबुद्ध एवं पूंजीपति लोगों को भविष्य की चेतावनी देते हुए उन्होने कहा—"एक समय था जबकि हिंदुस्तान के बहुत बडे भाग मे राजाओ का एक छत्र शासन था किन्तु समय के अनुकूल न चलने के कारण जनता ने उन्हे पछाड़ दिया। राजाओ के बाद धनिकों पर भी युग का नेत्र बिंदु टिक सकता है और उसका सम्भावित परिणाम भी स्पष्ट है। ऐसी स्थिति मे उन्हे सोचना चाहिए कि जो बड़प्पन और आत्मगौरव स्वेच्छापूर्वक त्याग मे है, डडे के बल से छोडने मे नही है।"[2] आज आसाम और बगाल की विषम स्थितियां तथा धनिको को दी जाने वाली चेतावनिया उनकी ४३ साल पूर्व कही बात को सत्य साबित कर रही हैं।

आज राजनीतिज्ञ लोग नि शस्त्रीकरण और अहिंसा के विकास की बात सोच रहे हैं पर आचार्य तुलसी ने सन् १९५० मे दिल्ली की विशाल सभा मे अहिंसा के भविष्य की उदघोषणा करते हुए कहा—"वह दिन आने वाला है, जब पशुबल से ऊकताई दुनिया भारतीय जीवन मे अहिंसा और शाति की भीख मागेगी।[3]

प्रवचन की भाषा शैली

आचार्य तुलसी की प्रवचन साधना किसी एक वर्ग तक सीमित नही है। उन्होने समाज के लगभग सभी वर्गों को सम्बोधित किया है, इसलिए पात्र-भेद के अनुसार सम्प्रेषणीयता की दृष्टि से उनके प्रवचनो की भाषा-शैली मे अन्तर आना स्वाभाविक है, साथ ही समय की गति के अनुसार भी उन्होने अपनी भाषा में परिवर्तन किया है। वे स्वय इस बात को स्वीकार करते हैं

---

१. एक बूद : एक सागर, पृ० १३४६
२ १९५०, टाउन हाल, दिल्ली
३. सन् १९५०, दिल्ली

—"जब जैसी जनता सामने होती है, मैं अपने प्रवचन का विपय, भापा और शैली बदल लेता हू ।" आचार्यकाल के प्रारम्भिक वर्षो मे उनके प्रवचन प्राय राजस्थानी भापा मे होते थे किन्तु आज वे सुरक्षित नही है । बाद मे जन-जन तक अपनी क्रात वाणी को पहुचाने के लिए उन्होने राष्ट्र-भाषा हिन्दी को प्रवचन का माध्यम बनाया । हिन्दी प्रवचनो की उनकी पचासो पुस्तके प्रकाश मे आ चुकी हैं तथा अनेक पुस्तके प्रकाशनाधीन है ।

उनकी विद्वत्ता भाषा मे उलझकर जटिल एव बोझिल नही, अपितु अनुभूति की उष्णता से तरल बन गयी है। आस्तिक हो या नास्तिक, विद्वान् हो या अनपढ, धनी हो या गरीब, स्त्री हो या पुरुप, बालक हो या वृद्ध सभी एक रस, एकतान होकर उनकी वाणी के जादू से बध जाते हैं। उनकी वाणी मे वह आकर्पण है कि जो प्रभाव रोटरी क्लब और वकील ऐसोसिएशन के सदस्यो के बीच पडता है, वही प्रभाव संस्कृत और दर्शन के प्रकाण्ड पण्डितो के मध्य पड़ता है। पूरे प्रवचन साहित्य मे भापागत यही आदर्श दिखलाई पड़ता है कि वे अधिक से अधिक लोगो तक अपनी बात पहुचाना चाहते हैं । अत: उनके प्रवचन साहित्य मे कठिन से कठिन दार्शनिक विषय भी व्यावहारिक, सहज, सरस, सजीव, सुबोध एव अर्थ-पूर्ण भापा मे व्यक्त हुए हैं । लाग फेलो की निम्न उक्ति उनके प्रवचन की भाषा-शैली में पूर्णतया खरी उतरती है—"व्यवहार मे, शैली मे और अपने तौर तरीकों में सरलता ही सबसे बड़ा गुण है। नरेन्द्र कोहली कहते हैं— 'पाठक सब कुछ क्षमा कर सकता है, पर लेखक मे बनावट, दिखावा, लालसा को क्षमा नही कर सकता ।'[1] अनुभूति की सचाई अभिव्यक्त होने के कारण उनके प्रवचन साहित्य की भापा साहित्यक न होने पर भी सरल और प्रवाह-मयी है। उसमे आत्मबल और संयम का तेज जुड़ने से वह प्रभावी बन गयी है । यही कारण है कि वे अपनी वाणी के प्रभाव मे कहीं भी सदिग्ध नही है—

"मैं जानता हू, मेरे पास न रेडियो है, न अखबार है और न आज के प्रचार योग्य वैज्ञानिक साधन है । ·· 'लेकिन मेरी वाणी मे आत्मबल है, आत्मा की तीव्र शक्ति है और मुझे अपने संदेश के प्रति आत्मविश्वास है फिर कोई कारण नही, मेरी यह आवाज जनता के कानो से नही टकराए ।"[2]

प्रवचन शैली के बारे में अपना अभिमत व्यक्त करते हुए वे कहते है—"प्रवचन शैली का जहां तक प्रश्न है, मैं नही जानता उसमे कोई विशि-ष्टता है । न मैं दार्शनिक लहजे मे बोलता हू और न मेरी भाषा पर कोई साहित्यिक प्रभाव ही होता है । मैं तो अपनी मातृभापा (राजस्थानी) अथवा

---

१. प्रेमचन्द्र, पृ० १९३

२. १५ अगस्त १९४७, प्रथम स्वाधीनता दिवस पर प्रदत्त

राष्ट्रभाषा मे अपने मन की बात जनता के सामने रख देता हू । उससे यदि जनता आकृष्ट होती है तो यह उसकी गुणग्राहकता है । मै तो मात्र निमित्त हूं ।"[1]

उनकी प्रवचन शैली का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य चित्रात्मकता है । प्रवचन के मध्य जब वे किसी कथा को कहते है तो ऐसा लगता है मानो वह घटना सामने घट रही है । स्वरो का उतार-चढ़ाव तथा शरीर के हाव-भाव सभी उस घटना को सचित्र एव सजीव करने में लग जाते है ।

उनकी प्रवचन शैली में चमत्कार आने का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि वे सभा के अनुरूप अपने को ढाल लेते है । डाक्टरों की एक विशाल सभा को संबोधित करते हुए वे कहते हैं—

"आज मै डाक्टरों की सभा में आया हू तो स्वय डाक्टर बनकर आया हू । जो व्यक्ति जहां जाये उसे वही का हो जाना चाहिए । आप डाक्टर है तो मैं भी एक डाक्टर हूं । आप देह की चिकित्सा करते है, तो मै आत्मा की चिकित्सा करता हूं । आप विभिन्न उपकरणों से रोग का निदान करते हैं तो मै मनुष्यों के हृदय को टटोलकर उसकी चिकित्सा करता हूं । आप प्रतिदिन नये-नये प्रयोग करते रहते है तो मै भी अपनी अध्यात्म प्रचार पद्धति मे परिवर्तन करता रहता हूं ।[2]

आचार्य तुलसी ने अपने प्रवचनो में अनेकांत शैली का प्रयोग किया है । अनेक स्थानो पर तो वे जीवन के अनुभवो को भी अनेकांत शैली मे प्रस्तुत करते हैं । अनेकात शैली का एक अनुभव निम्न पंक्तियों मे देखा जा सकता है—"मै अंकिचन हूं । गरीब मानें तो सबसे बड़ा गरीब हूं और अमीर माने तो सबसे बड़ा अमीर हू । गरीब इसलिए हू क्योकि पूंजी के नाम पर मेरे पास एक नया पैसा भी नही है और अमीर इसलिए हू क्योकि कोई चाह नही है ।"

उनकी प्रवचन शैली का वैशिष्ट्य है कि वे समय के अनुसार अपनी बात को नया मोड दे देते हैं । उनके प्रवचनों की प्रासंगिकता का सबसे बड़ा कारण यही है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव सबको देखते हुए वे अपनी बात कहते हैं । होली के पर्व पर लोगो की धार्मिक चेतना को झकझोरते हुए वे कहते है—

"आज होली का पर्व है । लोग विभिन्न रंग घोलते है, तो क्या मै कह दू कि आज का मानव दुरंगा है । क्योकि उसके पास दो पिचकारिया हैं । दीखने मे कुछ और है और कहने मे कुछ और । वह बातों में इतना चितनशील लगता है मानो उससे अधिक धार्मिक कोई और है या नही । मन्दिर में जब

१. बहता पानी निरमला, पृ० १२०
२. जैन भारती, २८ अक्टू० १९६५

वह पूजन करता है तब लगता है मानो उसमे दैवत्व का निवास है, किन्तु बाजार मे वह यमराज बन जाता है। पाठ पूजा करते समय वह प्रह्लाद को भी मात करता है, पर जब उसे अधिकार की कुर्सी पर देखो तो शायद हिरणाकुश वही है। ' "उस मानव को दुरगा नही कहू तो क्या कहू।"[1]

विद्यार्थियो को सम्बोधित करते हुए उनकी वाणी कितनी हृदयस्पर्शी एवं सामयिक बन पडी है—"विद्यार्थियो! मैं स्वय विद्यार्थी हू और जीवन भर विद्यार्थी बने रहना चाहता हूं। ' विद्यार्थी रहने वाला जीवन भर नया आलोक पाता है, विद्वान् बन जाने के बाद प्राप्ति का मार्ग रुक जाता है।

प्रवचन साहित्य एक समीक्षा

उनके विशाल प्रवचन साहित्य मे विषय की गम्भीरता, अनुभवो की ठोसता एव व्यावहारिक ज्ञान की झाकी स्पष्ट देखी जा सकती है। फिर भी इस साहित्य की समालोचना निम्न बिन्दुओं मे की जा सकती है—

जनभोग्य होने के कारण इसमे नया शिल्पन एव साहित्यिक भाषा के प्रयोग कम हुए है पर जीवन की सचाइयो से यह साहित्य पूरी तरह सपृक्त है। उनके इस साहित्य का सबसे बडा वैशिष्ट्य यह है कि यह निराशा मे आशा की ज्योति प्रज्वलित करता है तथा जन-जन मे नैतिकता की अलख जगाता है। वे मानते है कि यदि मैं अपने प्रवचन मे नैतिकता की बात नही कहूगा तो मेरे प्रवचन की सार्थकता ही क्या है?

एक ही प्रवचन मे पाठक को विषयान्तर की प्रवृत्ति मिल सकती है। अनेक स्थलो पर भावो की पुनरावृत्ति भी हुई है पर जिन मूल्यो की वे चर्चा कर रहे है, उन्हे जन-जन मे आत्मसात करवाने के लिए ऐसा होना बहुत आवश्यक है। उनकी विशाल प्रवचन सभा मे भिन्न-भिन्न रुचि एव भिन्न वर्गों के लोग उपस्थित रहते है। अत' उन सबको मानसिक खुराक मिल सके यह ध्यान रखना प्रवचनकर्त्ता के लिए आवश्यक हो जाता है। इसीलिए अनेक स्थलो पर अवान्तर विषयो का समावेश मूल विचार मे आघात करने के स्थान पर उसके अनेक पहलुओ को ही स्पष्ट करता है।

साहित्य का सत्य देश, काल और परिस्थिति के अनुसार बदलता है अत इस साहित्य मे भी कही-कही परस्पर विरोधी बाते मिलती हैं पर यह विरोधाभास उनके जीवन के विभिन्न अनुभवो का जीवन्त रूप है तथा आग्रह मुक्त मानस का परिचायक है।

सहजता, सरलता, प्रभावोत्पादकता, भावप्रवणता एव व्यावहारिकता से सश्लिष्ट उनका प्रवचन साहित्य युगो-युगो तक विश्व चेतना पर अपनी अमिट छाप छोडता रहेगा।

---

१. जैन भारती, १८ मार्च १९६१

भाषा शैली

सत्य की अभिव्यजना तथा अन्तर्जगत् को प्रकट करने का एकमात्र साधन भाषा है। यदि इसके विना भी हम अपने भावों को एक-दूसरे तक पहुचा सके तो इसकी कोई आवश्यकता नही रहती पर यह हमारे भावो का अनुवाद दूसरो तक पहुंचाती है अतः मनुष्य के हर प्रयत्न के अध्ययन मे भाषा का महत्त्वपूर्ण योगदान है। भाषा के बारे मे आचार्य तुलसी का अभिमत है---"भाषा के मूल्य से भी अधिक महत्त्व उसमें निबद्ध ज्ञान राशि का है, जो मानवीय विचार धारा में एक अभिनव चेतना और स्फूर्ति प्रदान करती है। भाषा अभिव्यक्ति का साधन है, साध्य नही।"

भाषा के बारे मे जैनेन्द्रजी का मतव्य बहुत स्पष्ट एव मननीय है—"मेरी मान्यता है कि भाषा स्वयं कुछ रहे ही नही, केवल भावो की अभिव्यक्ति के लिए हो। भाव के साथ वह इतनी तद्‌गत हो कि तनिक भी न कहा जा सके कि भाव उसके आश्रित हैं। अर्थात् भाव उसमें से पाठक को ऐसा सीधा मिले कि बीच मे लेने के लिए कही भाषा का अस्तित्व रहा है, यह अनुभव न हो।"[1] अतः भाषा की सफलता बनाव शृगार मे नही, अपितु भावानुरूप अर्थाभिव्यक्ति मे है।

आचार्य तुलसी की भाषा इस निकष पर खरी उतरती है। वे जनता के लिए बोलते या लिखते है अत. हर स्थिति में उनकी भाषा सहज, सरल, व्यापक, हार्दिक, सुबोध एवं सशक्त है। भाषा की बोधगम्यता के पीछे उनकी साधना की शक्ति बोलती है—निर्ग्रन्थ व्यक्तित्व मुखर होता है। उनकी भाषा आत्मा से निकलती है और दूसरो को भी आत्मदर्शन की ताकत देती है। इस बात की पुष्टि हजारीप्रसाद द्विवेदी भी करते हैं—"गहन साधना के विना भाषा सहज नही हो सकती। यह सहज भाषा व्याकरण और भाषाशास्त्र के अध्ययन से भी प्राप्त नही की जा सकती, कोशो मे प्रयुक्त शब्दो के अनुपात मे इसे नही गढा जा सकता।" कबीर, रहीम, राजिया और आचार्य भिक्षु आदि को यह भाषा मिली और इसी परपरा मे आचार्य तुलसी का नाम भी स्वतः जुड जाता है।

उनकी भाषा आकर्षक एव प्रसाद गुण-सम्पन्न है। इसका कारण है। कि जो उनके भीतर है, वही बाहर आता है। मैथिलीशरण गुप्त इस मत की

१ साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० १४७

पुष्टि यों करते है—'मन यदि उलझनो से भरा है तो भाषा की गति अत्यन्त धीमी, दुर्बोध और चकरीली हो जाती है।' आचार्य तुलसी का मन तनाव और उलझनो से कोसों दूर रहता है अत. उनकी भाषा मे विसंगति का प्रसग ही नही आता। साधना की आच मे तपा हुआ उनका मानस कभी कथनी और करणी मे द्वैत नही डालता।

"जिस दिन मानव को वस्तु की अभिव्यक्ति मे विलक्षणता लाने की गति मति जागी, उसी दिन से शैली का विवेचन तथा विचार प्रारम्भ हुआ।[1]" आचार्य क्षेमचद्र सुमन की यह अभिव्यक्ति शैली के प्रारभ की कथा कहती है पर जब से आदमी ने किसी विषय मे सोचना या लिखना प्रारभ किया तभी शैली का प्रादुर्भाव हो गया क्योकि शब्दो की कलात्मक योजना ही शैली है। "शैली भाषा की अभिव्यजना शक्ति की परिचायक है।[2] अग्रेजी कवि पोप शैली को व्यक्ति के विचारो की पोशाक मानते है किन्तु शैली विचारक मरे इससे भी आगे बढ़कर कहते है कि शैली लेखक के विचारो की पोशाक नही, अपितु जीव है, जिसके अन्दर मांस, हड्डी और खून है।"[3] शैली के परि-प्रेक्ष्य मे ही उनका एक अन्य उद्धरण भी मननीय है—'शैली भाषा का वह गुण है, जो लाघव से रचयिता के मनोभावो, विचारों अथवा प्रणाली का संवहन करती है।'[4] शैली किसी से उधार मागी या दी नही जाती क्योकि वह किसी भी साहित्यकार के व्यक्तित्व का अभिन्न अग होती है। यही कारण है कि किसी भी रचना को पढते ही यह ज्ञान किया जा सकता है कि यह अमुक व्यक्ति की रचना है।

शैली साहित्य की उच्चतम निधि है। पाश्चात्य एव प्राच्य विद्वानो की सैकडो परिभाषाए शैली के बारे में मिलती है पर प्रसिद्ध समालोचक बाबू गुलाबराय ने दोनो मतों का समन्वय करके इसे मध्यम मार्ग के रूप मे ग्रहण किया है। वे शैली को न नितान्त व्यक्तिपरक मानते है और न वस्तुपरक ही। उनका मानना है कि शैली मे न तो इतना निजीपन हो कि वह सनक की हद तक पहुच जाए और न इतनी सामान्यता हो कि नीरस और निर्जीव हो जाए। शैली अभिव्यक्ति के उन गुणो को कहते हैं, जिन्हे लेखक या कवि अपने मन के प्रभाव को समान रूप से दूसरो तक पहुंचाने के लिए अपनाता है।[5]

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार उपयुक्त शब्दो का चुनाव, स्वर और व्यंजनो की मधुर योजना, वाक्यो का सही विन्यास तथा विचारो

१. साहित्य विवेचन, पृ० ४४
२. आधुनिक गद्य एव गद्यकार, पृ० १
३-४. M. Murra, Problems of style, पृ० ७१,१३६
५. सिद्धात और अध्ययन; पृ० १९०

का विकास शैली के मौलिक तत्व है। यही कारण है कि कोई भी साहित्यकार केवल सुन्दर भावों से युक्त होने पर ही अच्छा साहित्यकार नही हो सकता, उसमे प्रतिपादन शैली का सौष्ठव होना भी अनिवार्य है। यदि शैली सुघड है तो वक्तव्य वस्तु मे सार कम होने पर भी वह ग्रहणीय वन जाती है।

पाश्चात्त्य विद्वानो के अनुसार अच्छी शैली के लिए लेखक के व्यक्तित्व मे विचार, ज्ञान, अनुभव तथा तर्क इत्यादि गुणो की अपेक्षा होती है। जो व्यक्तित्व जितना सप्राण, विशाल, सवेदनशील और ग्रहणशील होगा, उसकी शैली उतनी ही विशिष्ट होगी क्योकि शैली को व्यक्तित्व का प्रतिरूप कहा जाता है (स्टाइल इज द मैन इटसेल्फ)। समर्थ व्यक्तित्व अपनी प्रत्येक रचना मे अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व के साथ प्रतिविम्वित रहता है। लेखक का प्रत्येक वाक्य, प्रत्येक पद, प्रत्येक शब्द उसके नाम का जयघोप करता सुनाई देता है।

यद्यपि शैली व्यक्तित्व से प्रभावित होती है फिर भी कुछ ऐसे तत्त्व है, जो उसे विशिष्ट वनाते है—

१. देश और काल की स्थितिया शैली को सवसे ज्यादा प्रभावित करती है। अगर तुलसी, सूर, विहारी या आचार्य भिक्षु इस युग मे आते तो उनके कहने या लिखने का तरीका बिलकुल भिन्न होता।
२. वक्तव्य विषय को हृदयगम कराने हेतु विविध रूपकों, कथाओ, दोहो एव सोरठो का प्रयोग।
३ विविध शास्त्रीय तत्त्वो का उचित सामंजस्य।
४. विषय और विचार में तादात्म्य।
५. सत्यस्पर्शी कल्पना।
६. लेखक के मन और आत्मा, बुद्धि और भावना तथा हृदय और मस्तिष्क का सामजस्य एव सतुलन।
७ व्यजना ऐसी हो, जो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म स्थिति में ले जाने के लिए पाठक को चुनौती दे, जिसे पढे विना पाठक प्रसग छोडने मे असमर्थ हो जाए।
८. वाक्य विन्यास जटिल न होकर सरल हो, जिसको पढ़कर हर वर्ग के पाठक को वही आनन्द हो जो किसी कठिनाई पर विजय पाने वाले को होता है।

आचार्य तुलसी की लेखनशैली की अपनी विशेषताए है। उन्होने अपने हर मनोगत भावो की अभिव्यक्ति इतने रमणीय, आकर्षक और प्रभावोत्पादक ढंग से दी है कि उनकी रचना पढते ही पाठक के भीतर अभिनव हर्ष एव शक्ति का संचार होने लगता है। शैलीगत नवीनता उनको प्रिय है इसलिए वे अपने भावो को व्यक्त करते हुए कहते है—''नए रूप, नयी विधा

और नए शिल्पन से मेरा व्यामोह है, यह बात तो नही है फिर भी नवीनता मुझे प्रिय है क्योकि मेरा यह अभिमत है कि शैलीगत नव्यता भी विचार सप्रेषण का एक सशक्त माध्यम है। सृजन की अनाहत धारा स्रष्टा और द्रष्टा दोनों को ही भीतर तक इतना भिगो देती है कि लौकिक शब्दो में लोकोत्तर अर्थ की आत्मा निखरने लगती है।"

शैली लेखक के सोचने और देखने का अपना तरीका है अत. प्रत्येक साहित्यकार की शैली के कुछ विशिष्ट गुण होते है। आचार्य तुलसी की भाषा-शैली की कुछ निजी विशेपताओ का अकन निम्न विन्दुओं मे किया जा सकता है—

प्राचीन जीवन-मूल्यो की सीधी-साधी भापा मे प्रस्तुति किसी सोए मानस को झकझोर कर नही जगा सकती। उन्होने प्राचीन मूल्यो को आधुनिक भापा का परिधान पहनाकर उसकी इतनी सरस और नवीन प्रस्तुति दी है कि उसे पढ़कर कोई भी आकृष्ट हुए विना नही रह सकता। पाच महाव्रत के स्वरूप को अनुभूति के साथ जोड़ते हुए वे कहते है—"मै शाति-पूर्ण जीवन जीना चाहता हूं क्या अहिसा इससे भिन्न है ? मैं यथार्थ जीवन जीना चाहता हूं, क्या सत्य इससे भिन्न है ? मैं प्रामाणिक जीवन जीना चाहता हू, क्या अस्तेय इससे पृथक् चीज है ? मैं शक्ति-सम्पन्न और वीर्यवान् जीवन जीना चाहता हू, क्या ब्रह्मचर्य इससे भिन्न है ? मैं सयमी जीवन जीना चाहता हू क्या अपरिग्रह इससे भिन्न है ?[1]"

काव्य की भाति उनके गद्यसाहित्य मे भी कही-कही ऐसी भापा का प्रयोग हुआ है, जिसमे कलात्मकता एकदम मुखर हो उठी है तथा उसमे आल-कारिता की छवि भी निखर आयी है। प्रस्तुत वाक्यों मे यमक एवं श्लेष का चमत्कार दर्शनीय है—

१. 'हमने तो टप्पे[2] को टाल दिया था किन्तु टप्पे वालो की भावना इतनी तीव्र थी कि टप्पा लेना ही पड़ा।'

२. 'आज इतवार है पर एतवार है क्या ?'[1]

३. 'यदि जीवन पाक नही है तो पाकिस्तान बनाने से क्या होने वाला है ?'

गद्य साहित्य में भी उनका उपमा वैचित्र्य अनुपम है। अनेक नई उपमाओ का प्रयोग उनके साहित्य मे मिलता है। निम्न उदाहरण उनके उपमा प्रयोग के सफल नमूने कहे जा सकते है—

० 'बच्चे-बच्चे के मुख पर झूठ और कपट ऐसे है मानो वह ग्रीष्म ऋतु की लू है। जो कही भी जाइए, सब जगह व्याप्त मिलेगी।'[3]

---

१. एक बूंद : एक सागर, पृ० १७०६

२. राजस्थान मे 'टप्पा' चक्कर खाने को कहते है।

३. जैन भारती, २१ मई ५३ पृ० २७४

० 'वीच मे भौतिकता का विशालकाय समुद्र पड़ा है अब आपको बुराई रूपी रावण की हत्या कर अशांति युक्त शत्रु सेना को मारकर शांति सीता को लाना है।'

लोकोक्तियो को सामाजिक जीवन का नीतिशास्त्र कहा जा सकता है क्योकि वे लोकजीवन के समीप होती है। मुहावरों एवं लोकोक्तियों के प्रयोग से उनकी भाषा व्यंजक एव सजीव बन गई है। अनेक अप्रचलित लोकोक्तियो को भी उन्होने अपने साहित्य मे स्थान दिया है। राजस्थानी लोकोक्तियों का तो उन्होने खुलकर प्रयोग किया है, जिससे उनके साहित्य मे अर्थगत चमत्कार का समावेश हो गया है—

१. जहा चाह, वहा राह

१ जाओ लाख, रहो साख

२. पेडो भलो न कोस को, वेटी भली न एक

३. तीजे लोक पतीजे।

साहित्यिक मुहावरे नही अपितु जन-जीवन एव ग्राम्य जीवन के बोलचाल मे आने वाले मुहावरो का प्रयोग उनकी भाषा मे अधिक मिलता है। क्योकि उनका लक्ष्य भाषा को अलकृत करना नही अपितु सही तथ्य को जनता के गले उतारना है। भारतीय ही नही विदेशी कहावतो का प्रयोग भी उनके साहित्य मे यत्र-तत्र हुआ है।

'अरबी कहावत है कि गधा दूसरी वार उसी गड्ढे मे नही गिरता—गधे की यह समझ मनुष्य मे आ जाए तो अनेक हादसो को टाला जा सकता है।'[1]

लोकोक्तियो के अतिरिक्त शास्त्रीय उद्धरण एव महापुरुषो के सूक्ति-वाक्यो के प्रयोग उनकी बहुश्रुतता का दिग्दर्शन कराते हैं—

१. मरणसम नत्थि भय।

२. नो हरिसे, नो कुज्झे।

३ इयाणि णो जमह पुव्वमकासी पमाएण।

४. न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

कबीर, राजिया, रहीम, आचार्य भिक्षु आदि के सैकड़ो दोहे तो उनको अपने नाम की भाति मुखस्थ है अतः समय-समय पर उनके माध्यम से भी वे जन-चेतना को उद्बोधित करते रहते है, जिससे उनकी भाषा में चित्रात्मकता, सरसता एव सरलता आ गई है।

प्राच्य के साथ साथ पाश्चात्त्य विद्वानो के विचार एव घटना-प्रसंग भी प्रचुर मात्रा मे उनके साहित्य मे देखे जा सकते है—

० लेनिन का अभिमत रहा है कि प्रथम श्रेणी के व्यक्तियो को चुनाव

---

१. वैसाखियां विश्वास की, पृ० ६७

में नही जाना चाहिए ।

० गांधीजी ने कहा था—'वह दुर्भाग्य का दिन होगा, जिस दिन राष्ट्र में संत नहीं होंगे ।'

० नेपोलियन कहा करता था—'मैं जिस मार्ग से आगे बढना चाहता हू, वहां बीच मे पहाड आ जाए तो एक बार हटकर मुझे रास्ता दे देते हैं ।'

वे भाषा को गतिशील धारा के रूप में स्वीकार करते हैं । यही कारण है कि उन्होने अपने साहित्य मे अन्य भाषा के शब्दों का भी यथोचित समावेश किया है । हिन्दी मे प्रचलित अरबी, उर्दू, फारसी, अंग्रेजी, गुजराती, बगाली आदि भाषाओ के अनेक शब्दो को उन्होंने अपनी भाषा का अंग बना लिया है जैसे—

मजहब, बरकरार, बेगुनाह, फुरसत, चगा, जमाना, बुनियाद, तूफान, गुजाइश, बियाबान, टेशन, टाईम, यग, करेक्टर, मेन, गुड, प्रोग्रेस, रिजर्व एकला आदि ।

राजस्थानी मातृभाषा होने के कारण हिंदी साहित्य मे भी अनेक विशुद्ध राजस्थानी शब्दो का प्रयोग उनके साहित्य मे मिलता है—ठिकाना[1] (स्थान) सीयालो (शीतकाल) जाणवाजोग (जाननेयोग्य) टाबर आदि ।

कही-कही प्रसग वश अग्रेजी के वाक्यों का प्रयोग भी उनके साहित्य मे हुआ है—

"लोग स्टेण्डर्ड ऑफ लिविंग को गौण मानकर स्टेण्डर्ड ऑफ लाइफ को ऊचा उठाए ।"

सस्कृत कोश एवं व्याकरण के प्रकाण्ड पण्डित होने के कारण हिन्दी मे सधियुक्त एव समस्त पदो का प्रयोग भी बहुलता से उनके साहित्य मे मिलता है—हर्षोत्फुल्ल, समाकलन, अभिव्याप्त, चिंताप्रधान, फलश्रुति तीर्थेश आभिजात्य, दुरभिसंधि आदि ।

कहा जा सकता है कि उनकी भाषा मे तत्सम, तद्भव, देशी एव विदेशी इन चारो शब्दो का प्रयोग यथायोग्य हुआ है ।

उन्होने अपनी भाषा मे युग्म शब्दो का भी भरपूर प्रयोग किया है । इससे भाषा मे बोलचाल की पुट आ गई है—

मार-काट, बक-बक, लूट-खसोट, नौकर-चाकर, ठाट-बाठ, कर्ता-धर्ता, साज-बाज, टेढा-मेढा, उथल-पुथल, आदि ।

शब्दो के चालू अर्थ के अतिरिक्त उनमें नया अर्थ खोज लेना उनकी प्रतिभा का अपना वैशिष्ट्य है । भाषागत इस वैशिष्ट्य के हमे अनेक उदाहरण मिल सकते हैं । उदाहरण के लिए यहां एक प्रसग प्रस्तुत किया जा

---

१. अणुव्रत · गति प्रगति, पृ० १५१ ।

सकता है—

पत्रकारों की एक विशेष गोष्ठी मे एक पत्रकार ने आचार्य तुलसी के समक्ष जिज्ञासा प्रस्तुत करते हुए कहा—'आचार्यजी ! आपने समाज के हर वर्ग के उत्थान की बात कही है। आप कायस्थो के लिए भी कुछ कर रहे है क्या ?'

आचार्य तुलसी ने कायस्थ शब्द की दार्शनिक व्याख्या करते हुए कहा—"हम कायस्थों के लिए सदा से करते आ रहे हैं। क्योंकि आपकी तरह मैं भी कायस्थ हूं। कायस्थ अर्थात् शरीर मे स्थित रहने वाला। संसार का कौन प्राणी कायस्थ नही है ?"

हिन्दी मे प्राय: क्रिया वाक्यान्त मे लगती है पर भाषा में प्रभावकता लाने के लिए उनके साहित्य में अनेक स्थलों पर इस क्रम में व्यत्यय भी मिलता है—

"कैसे हो सकती है वहां अहिंसा जहां व्यक्ति प्राणों के व्यामोह से अपनी जान बचाए फिरता है ?"

आचार्य तुलसी शब्द को केवल उसके प्रचलित अर्थ मे ही ग्रहण नहीं करते। प्रसंगानुसार कुछ परिवर्तन के साथ उसे नवीन संदर्भ भी प्रदान कर देते हैं। इस संदर्भ मे निम्न वार्तालाप द्रष्टव्य है—

एक बार एक राष्ट्रनेता ने निवेदन किया—'आचार्यजी ! यदि आपको अणुव्रत का कार्य आगे बढ़ाना है तो प्लेन खोल दीजिए। आचार्यश्री ने स्मित हास्य बिखेरते हुए कहा—'आप प्लेन की बात करते हैं, हमारे प्लान (योजना) को तो देखो।' इस घटना से उनकी प्रत्युत्पन्न मेधा ही नही, शब्दों की गहरी पकड़ की शक्ति भी पहचानी जा सकती है।

इसी प्रकार प्रसंगानुसार एक शब्द के समकक्ष या प्रतिपक्ष में दूसरे सानुप्रासिक शब्द को प्रस्तुत करके प्रेरणा देने की कला में तो उनका कोई दूसरा विकल्प नही खोजा जा सकता। वे कहते हैं—

∘ प्रशस्ति नहीं, प्रस्तुति करो, व्यथा नही, व्यवस्था करो, चिंता नहीं चिंतन करो।

∘ मुझे दीनता, हीनता नही, नवीनता पसंद है।

लाडनूं विदाई समारोह में विश्वविद्यालय के सदस्यों को प्रेरणा देते हुए वे कहते हैं—"जीवन मे संतुलन रहना चाहिए। न अहं न हीनता, न आवेश न दीनता, न आलस्य और न अतिक्रमण।"

सूक्तियों में जीवन के अनुभवों का सार इस भांति अभिव्यक्त होता है कि मानव का सुषुप्त मन जग जाए और वह उसे चेतावनी के रूप मे ग्रहण कर सके। उनके साहित्य में गागर में सागर भरने वाले हजारों सूक्त्यात्मक वाक्य हैं, जिनसे उनकी भाषा चुम्बकीय एवं चामत्कारिक बन गयी है—

- अनुशासन का अस्वीकार जीवन की पहली हार है।
- हम सहन करे, हमारा जीवन एक लयात्मक संगीत बन जाएगा।
- स्वतंत्रता का अर्थ होता है—अपने अनुशासन द्वारा संचालित जीवन यात्रा।
- अविश्वास की चिनगारी सुलगते ही सत्ता से गरिमा के साथ हट जाना लोकतत्र का आदर्श है।
- वह हर प्राणी शस्त्र है, जो दूसरे के अस्तित्व पर प्रहार करता है।
- साम्प्रदायिक उन्माद इसान को भी शैतान बना देता है।
- जो व्यक्ति कांटो की चुभन से घबराकर पीछे हट जाता है, वह फूलो की सौरभ नही पा सकता।

भाषा मे प्रवाह लाने के लिए या कथ्य पर जोर देने के लिए वे कभी-कभी शब्दो की पुनरावृत्ति भी कर देते है। युवापीढो को रूपक के माध्यम से प्रेरणा देते हुए वे कहते हैं—

○ "तुम्हारा हर चिन्तन, तुम्हारी हर प्रवृत्ति, तुम्हारी हर प्रतिभा, तुम्हारी योग्यता, तुम्हारी शक्ति, सामर्थ्य और तुम्हारी हर सास इस भुवन को सीचने के लिए, सुरक्षा के लिए सम्पूर्ण रूप से सुरक्षित रहे।"[1]

○ 'युद्ध बरबादी है, अशाति है, अस्थिरता है और जानमाल की भारी तबाही है।'[2] इस वाक्य को यदि यो कहा जाता कि युद्ध बरबादी, अशाति, अस्थिरता और जानमाल की तबाही है तो वाक्य प्रभावक नही बनता।'

उन्होने लगभग छोटे-छोटे बोधगम्य वाक्यो का प्रयोग किया है। कही-कही काफी लम्बे वाक्य भी प्रयुक्त है पर शृंखलाबद्धता के कारण उनमे कही भी शैथिल्य नही आया है। उनके साहित्य मे भाषा की द्विरूपता के दो कारण हैं—

१ अनेक सम्पादको का होना।

२ लेखन और वक्तव्य की भाषा मे बहुत बडा अन्तर होता है आचार्यश्री इन दोनो भूमिकाओ से गुजरे हैं इसलिए कही-कही इनमे सम्मिश्रण भी हो गया है।

छायावादी एवं रहस्यवादी शैली प्राय काव्य मे चमत्कार उत्पन्न करने हेतु अपनायी जाती है। पर आचार्य तुलसी ने गद्य साहित्य मे भी इस शैली का प्रयोग किया है। संसद को मानवाकार रूप में प्रस्तुत कर उसकी पीडा को उसी के मुख से कहलवाने मे वे कितने सिद्धहस्त बन पडे है—

---

१. अतीत का विसर्जन : अनागत का स्वागत, पृ० ५२-५३

२. अणुव्रत : गति प्रगति, पृ० १५१

"संसद जनता के द्वार पर दस्तक देकर पुकार रही है—प्रजाजनों। आपने अच्छे-अच्छे लोगों का चयन कर मेरे पास भेजा। पर न जाने क्यों ये सब मेरी इज्जत लेने पर उतारू हो रहे हैं। इस समय मैं घोर सकट मे हूं। मुझे बचाओ। मेरी रक्षा करो।......... तीन प्रकार के व्यक्तियो को मुझसे दूर रखो। एक वे व्यक्ति जो केवल विरोध के लिए विरोध करते है। दूसरे वे जो गलत तरीको से वोट पाकर सत्ता के गलियारे तक पहुंचते हैं और तीसरे वे व्यक्ति, जो असंयमी है। ऐसे लोग न तो अपनी वाणी पर सयम रख सकते है और न अपने व्यवहार मे सन्तुलन रख पाते है। इन लोगो का असंयत आचरण देखकर मेरा सिर शर्म से नीचा हो जाता है। इसलिए आप दया करो और ऐसे लोगों को मुझ तक पहुंचने से रोको।"[1]

आचार्य तुलसी की शैली का यह वैशिष्ट्य है कि वे किसी भी विषय का स्पष्टीकरण प्राय: स्वयं ही गम्भीर प्रश्न उठाकर करते है। श्रोता या पाठक को ऐसा लगता है मानो वे भी उसमे भाग ले रहे हो। तत्पश्चात् समाधान की ओर विषय को मोड़ते है, इससे विषय प्रतिपादन के साथ पाठक का तादात्म्य हो जाता है। तर्कपूर्ण एवं वैज्ञानिक शैली मे की गयी उनकी इक्कीसवी सदी की चर्चा कितनी हृदयस्पर्शी वन गयी है—

"कैसा होगा इक्कीसवी सदी का जीवन ? यह एक प्रश्न है। इसके गर्भ मे कुछ नई सम्भावनाएं अगडाई ले रही हैं तो कुछ आशंकाए भी सिर उठा रही है। एक ओर सुविधाभोगी सस्कृति को पाव जमाने के लिए नई जमीन उपलब्ध करवाई जा रही है तो दूसरी ओर पुरुपार्थजीवी संस्कृति को दफनाने के लिए नई कब्रगाह की व्यवस्था सोची जा रही है। कुछ नया करने और पाने की मीठी गुदगुदी के साथ कुछ न करने का दश भी इसी सदी को भोगना होगा।[2]" इसमें इतनी वारीकी से सत्य अभिव्यक्त हुआ है कि विपय वस्तु का आरपार संक्षेप में एक साथ प्रकाशित हो उठा है।

कही-कही उनके प्रश्न समाज की विसगति पर तीखा व्यंग्य भी करते है। ये व्यंग्यात्मक प्रश्न किसी भी व्यक्ति के हृदय को तरगित एव झंकृत करने में समर्थ हैं। सतीप्रथा पर व्यंग्य करती उनकी निम्न उक्ति विचारणीय है—

"दाम्पत्य सम्वन्ध तो द्विष्ठ हैं। स्त्री के लिए पतिव्रता होना और पति के साथ जलना गौरव की वात है तो पुरुप के लिए पत्नीव्रत का आदर्श कहां चला जाता है ? उसके मन मे पत्नी के साथ जलने की भावना क्यो नही जागती ? पति की मृत्यु के वाद स्त्री विधवा होती है तो क्या पत्नी की मृत्यु के वाद पुरुप विधुर नही होता ? स्त्री के लिए पति परमेश्वर है तो पुरुप

१. कुहासे मे उगता सूरज, पृ० ७६-७७
२ एक वूद : एक सागर, पृ० १७३६

के लिए पत्नी को परमेश्वर मानने में कौन-सी बाधा है ?[1]"

आज के मनुष्य की जीवन-शैली पर व्यग्य करते ये प्रश्न किसी भी सचेतन प्राणी को झकझोरने मे समर्थ है—

"आज मनुष्य की जीवन-शैली कैसी है ? वह उसे किधर ले जा रही है ? वह किसी के लिए नीड बुनता है या बुने हुए नीडो को उजाडता है ? वह किसी को जीवन देता है या जीने वाले की सांसो को छीनता है ? वह किसी को जोडता है या पीढियो से जुडे हुए रिश्तो में दरार डालता है ? वह किसी के आंसू पोंछता है या बिना ही उद्देश्य चिकोटी काटकर रुलाता है ? वह जीवन को संवारने के लिए धर्म की शरण मे जाता है या उसकी बैसाखियो के सहारे लडाई के मैदान मे उतरता है ? वह किसी की बात सुनता है या अपनी ही बात मनवाने का आग्रह करता है ? इन सवालो के चौराहो पर फैलते जा रहे गुमनाम अंधेरो को रास्ता कौन दिखाएगा ? समाधान की ज्योति कौन जलाएगा ?[2]

जहां उन्हे किसी बात पर जोर डालना होता है तब भी वे इसी शैली को अपनाते है क्योकि निषेध के साथ जुडे उनके प्रश्नो में भी एक बुनियादी सन्देश ध्वनित होता है। उदाहरण के लिए देश के समक्ष प्रस्तुत किए गये निम्न प्रश्नों को देखा जा सकता है—

"यदि इस देश के लोग गरीब है तो वे श्रम से विमुख क्यो हो रहे है ? यदि देश की जनता को भर पेट रोटी भी नही मिलती तो करोडो रुपये प्रसाधन-सामग्री मे क्यो बहाए जाते है ? देश मे सूखे की इतनी समस्या है तो विलासिता का प्रदर्शन किस बुनियाद पर किया जा रहा है ? यदि भारतीय लोगो मे कर्त्तव्यनिष्ठा है तो राष्ट्रीय, सामाजिक एव पारिवारिक दायित्वो से आंखमिचौनी क्यो हो रही है ? यदि उनमे ईमानदारी है तो ऊपर से नीचे तक भ्रष्टाचार क्यो छा रहा है ? यदि उन्हे स्वच्छता का आकर्षण है तो गन्दगी क्यो फैल रही है ?"

कभी-कभी प्रश्न उपस्थित करके ही वे अपने वक्तव्य को पाठक तक संप्रेषित करना चाहते है। उनके ये प्रश्न इतने मार्मिक, वेधक और सटीक होते है कि पाठक के मन में हलचल उत्पन्न किए बिना नही रहते। युवापीढी के समक्ष प्रस्तुत किए गए प्रश्नचिह्नो की कुछ पक्तिया मननीय हैं—

"क्या हमारी प्रबुद्ध युवापीढी शून्य को भरने की स्थिति मे है ? क्या वह किसी बडे दायित्व को ओढने के लिए तैयार है ? क्या वह परिवार से भी पहला स्थान समाज को देने की मानसिकता बना सकती है ?"

---

१ कुहासे मे उगता सूरज, पृ० ६२

२ चुनाव के सदर्भ मे प्रदत्त एक विशेष सदेश

भाषा-शैली का यह वैशिष्ट्य आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के बाद आचार्य तुलसी के साहित्य मे ही प्रचुर मात्रा में देखा जा सकता है। इस शैली में व्यक्त तथ्य को पाठक पढ़ता ही नहीं, अपितु मन-ही-मन उसका उत्तर भी सोचता है। प्रश्नों के माध्यम से मानव-मन के अन्तर्द्वन्द्वों को प्रस्तुत करने से पाठक और लेखक के बीच संवाद-शैली जैसी जीवन्तता बनी रहती है। पाठक केवल मूक ही नही बना रहता।

निषेध में विधेय को व्यक्त करने की उनकी अपनी शैलीगत विशेषता है—

"मै नही मानता कि सयम और समर्पण दो वस्तु है।"

आचार्य तुलसी धर्माचार्य होते हुए भी एक महान् तार्किक है। वे अपनी बात को सहेतुक प्रस्तुत करते हैं। अतः उनकी भाषा मे प्राय. कारण एव कार्य की लम्बी शृखला रहती है। उदाहरण के लिए भगवान् महावीर के व्यक्तित्व को प्रस्तुति देने वाली निम्न पंक्तियो को देखा जा सकता है—

"वे यथार्थवादी थे, इसलिए अति कल्पना की चौखट में उनकी आस्था फिट नही बैठती थी। वे अनेकांतवादी थे, इसलिए किसी भी तत्त्व के प्रति उनके मन में कोई पूर्वाग्रह नही था। वे सत्य के साक्षात् द्रष्टा थे, इसलिए उनकी अवधारणाओ का आधार आनुमानिक नही था। वे भरे हुए अमृतघट थे, इसलिए किसी उपयुक्त पात्र की प्रतीक्षा करते रहते थे।"[1]

उनके साहित्य में केवल कारण एवं कार्य की ही चर्चा नही रहती, परिणाम का स्पष्टीकरण भी रहता है। उनका शैलीगत चातुर्य निम्न पंक्तियो मे देखा जा सकता है, जहा कारण, कार्य एवं परिणाम—तीनो को एक ही वाक्य में समेट दिया गया है—

"आर्थिक क्रांति हुई, अर्थ-व्यवस्था बदली पर अर्थ के प्रति व्यामोह कम नही हुआ। सैनिक क्राति हुई, शासन बदला पर जनता सुखी नही हुई। सामाजिक क्रांति हुई, समाज को बदलने का प्रयत्न हुआ, जातीय बहिष्कार जैसी घटनाएं भी घटी पर स्वस्थ समाज की संरचना नही हुई।"[2]

किसी भी तथ्य के निरूपण में वे ऐकान्तिक हेतु प्रस्तुत नही करते। यद्यपि सुख की धारणा के बारे में पाश्चात्य एव प्राच्य अनेक चिंतकों ने पर्याप्त चिंतन किया है, पर इस बिन्दु पर आचार्य तुलसी का चिंतन संतुलित होने की प्रतीति देता है—

"सुख का हेतु अभाव भी नही है और अतिभाव भी नही है, क्योकि अतिभाव में विलासिता का उन्माद बढ़ता है, जिसके पीछे सरक्षण का रौद्र भाव रहता है तथा अभाव मे अन्य अपराध बढ़ते है क्योकि उसके पीछे प्राप्ति

१. बीती ताहि विसारि दे, पृ० ४९
२. नैतिक संजीवन, पृ० ५०

की आर्त्तवेदना है । अत. सुख का हेतु स्वभाव है । इसी प्रसग मे धर्म के सदर्भ मे उनकी निम्न पंक्तिया भी पठनीय हैं—

"किसी ने धर्म को अमृत वताया और किसी ने अफीम की गोली । ये दो विरोधी तथ्य है । पर इन दोनो ही तथ्यो मे सत्याश हो सकता है । प्रेम और मैत्री की वुनियाद पर खडा हुआ धर्म अमृत है तो साम्प्रदायिक उन्माद से ग्रस्त धर्म अफीम का काम करने लग जाता है ।"[1]

इसी शैली मे उनका निम्न वक्तव्य भी उद्धरणीय है—

"मेरा अभिमत है कि वाहर भी देखो और भीतर भी । अन्तर्जगत् से उपेक्षित रहना अपने विकास को नकारना है । वाह्य जगत् के प्रति उपेक्षा करना, जो कुछ हम जी रहे है, उसे अस्वीकार करना है । जितनी अपेक्षा है, उतना वाहर देखो । जितनी अपेक्षा है, उतना आत्मदर्शन करो ।"

प्रवचनकार होने के कारण वे प्रसगवश एक साथ जुड़ी हुई अनेक वातो को धाराप्रवाह कह देते हैं । इस कारण कही-कही उनकी भाषा और शैली वहुत दुरूह हो गयी है । इस परिप्रेक्ष्य में निम्न उद्धरण द्रष्टव्य है—

"जव तक व्यक्ति व्यक्ति रहता है, तव तक उसके सामने महत्त्वाकांक्षा, महत्त्वाकाक्षा की पूर्ति के लिए परिग्रह या संग्रह, परिग्रह या संग्रह के लिए शोपण या अपहरण, शोषण के लिए वौद्धिक या कायिक शक्ति का विकास, वौद्धिक और दैहिक शक्ति-संग्रह के लिए विद्या की दुरभिसधि, स्पर्धा आदि-आदि समस्याएं नही होती ।"

उनके अनुभूतिप्रधान एवं व्यक्तिप्रधान निवंधो मे प्रथम पुरुष का प्रयोग हुआ है । 'मैं' सर्वनाम का प्रयोग करके उन्होने अपनी अनुभूतियो एव अभिमतो को उपन्यस्त किया है । जैसे—'ऐसे मिला मुझे अहिंसा का प्रशिक्षण', 'मेरी यात्रा' आदि । अनुभूत घटनाए या संवेदनाए उन्होने आत्माभिव्यजन के प्रयोजन से नही, वल्कि पाठक के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए लिखी हैं । व्यक्तिवादी शैली मे निवद्ध निम्न वाक्य तनावग्रस्त एव गमगीन व्यक्तियो को अभिनव प्रेरणा देने वाला है—

"मै कल जितना खुश था, उतना ही आज हू । मेरे लिए सभी दिन उत्सव के है, सभी दिन स्वतंत्रता के है ।"

० मेरा स्वागत ही स्वागत होता तो शायद अहभाव वढ जाता । मुझे पग-पग पर विरोध ही विरोध झेलना पडता तो हीनता का भाव भर जाता । मैं इन दोनो स्थितियो के वीच रहा । न अह, न हीनता । इसलिए मैं वहुत वार अपने विरोधियो को वधाई देता हू ।" हिन्दी साहित्य मे इस शैली का दर्शन रामचन्द्र शुक्ल के निबंधो मे मिलता है ।

---

१. विज्ञप्ति सख्या ८०७

किसी भी साहित्यकार के सामर्थ्य की परीक्षा इससे होती है कि वह अपने अनुभव को सही भाषा मे व्यक्त कर पाया या नही। आचार्य तुलसी की सृजनात्मक क्षमता इतनी जागृत है कि अनुभूति और अभिव्यक्ति में अन्तराल नही है। भाषा पर उनका इतना अधिकार है कि अपने हर भाव को वे सही रूप मे अभिव्यक्त करने मे सक्षम है। यही कारण है कि लेखन मे ही नही, वक्तृत्व में भी उन्होने अक्षरमैत्री का विशेष ध्यान रखा है।

वैसे तो आचार्य तुलसी बहुत सीधी-साधी भाषा मे अपनी बात पाठक तक संप्रेषित कर देते है, पर जहा उन्हे सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक कुरीतियो पर प्रहार करना होता है, वहा वे व्यंग्यात्मक भाषा का प्रयोग करते है, जिससे उनका कथ्य तीखा और प्रभावी होकर लोगो को कुछ सोचने, भीतर झाकने एव बदलने को मजबूर कर देता है। धार्मिको की रूढ एव परिणामशून्य उपासना पद्धति पर किए गये व्यंग्य-बाणो की बौछार की एक छटा दर्शनीय है—

'सत्तर वर्ष तक धर्म किया, माला फेरते-फेरते अगुलिया घिस गई पर मन का मैल नही उतरा। चढ़ते-चढते मंदिर की सीढ़िया घिस गईं पर जीवन नही बदला। सतो के पास जाते-जाते पाव घिस गए पर व्यवहार मे बदलाव नही आया। क्या लाभ हुआ धार्मिको को ऐसे धर्म से ?'

दान देकर अपने अह का पोषण करने वाले लोगों के शोपण को शोपित वर्ग के मुख से कितनी मार्मिक एवं व्यंग्यात्मक शैली में कहलवाया है—

"हमारा शोपण और उनका अहं पोषण, इसमे पुण्य कैसा ? वे दानी बने और हम दीन, यह क्यो ? वे हमारा रक्त चूसे और हमे ही एक कण डालकर पुण्य कमाए, यह कैसी विडम्बना[1]।

धर्म के क्षेत्र मे होने वाले भ्रष्टाचार पर किया गया व्यग्य सोच की खिडकी को खोलने वाला है—

० 'ब्लैक के प्लेग ने भगवान के घर को भी नही छोडा। घूस देने पर उनके दरवाजे भी रात को खुल जाते है।'

राजनीति स्वच्छ या अस्वच्छ नही होती। पर भ्रष्ट एव सत्तालोलुप राजनेता उसकी उजली छवि को धूमिल बना देते है। राजनीति की अर्थवत्ता पर की गयी उनकी टिप्पणी व्यग्यमयी प्रखर शैली का एक निदर्शन है—

"जनता को सादगी और शिष्टाचार का पाठ पढाने वाले नेता जब तक स्वयं अपने जीवन मे सादगी नही लायेंगे, फिजूलखर्ची से नही बचेगे तो वे जनता का पथदर्शन कैसे कर सकेंगे ?"

आचार्य तुलसी का जीवन अनेक विरोधी युगलो का समाहार है। वे

---

१. आचार्य तुलसी के अमर सदेश, पृ० ३६

सूर्यसम प्रखर तेजस्वी है तो चाद की भांति सौम्य भी हैं। सागर के समान गंभीर है तो आकाश की ऊचाई भी उनमे समाविष्ट है। चट्टान की भाति अडिग, अचल है तो रवड़ के समान लचीले भी हैं। वज्रवत् कठोर है तो फूल से अधिक कोमल भी है। इसी भावना का प्रतिनिधित्व करने वाला संस्कृत साहित्य मे एक मार्मिक श्लोक मिलता है—

वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणा चेतासि, को नु विज्ञातुमर्हति॥

उनके व्यक्तित्व की यह विशेपता साहित्य की शैली मे भी प्रतिविम्वित हुई है। दो विरोधो का समायोजन साहित्य का वहुत वड़ा वैशिष्ट्य है। उन्होने प्रकृतिकृत एवं पुरुषकृत विरोध का सामंजस्य कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। महावीर के विरोधी व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का निम्न उदाहरण दर्शनीय है—

"वे जीवन भर मुक्त हाथो से ज्ञानामृत वाटते रहे, पर एक वूंद भी खाली नही हुए।"[1]

धर्म और विज्ञान के विरोधी स्वरूप मे सामंजस्य करते हुए उनका कहना है—

"धर्म और विज्ञान का ऐक्य नही है तो उनमे विरोध भी नही है। पदार्थ-विश्लेषण और नई-नई वस्तुओ को प्रस्तुत करने की दिशा मे विज्ञान आगे वढता है तो आंतरिक विश्लेषण की दिशा मे धर्म की साधना चलती है।"[2]

जहा वे एक उपदेष्टा की भूमिका पर अपनी वात कहते है, वहा उनकी भाषा वहुत सीधी-सपाट एव अभिधा शैली मे होती है। उनका उपदेश भी पाठक को उवाता नही, वरन् मानस पर एक विशेप प्रभाव डालकर जीने का विज्ञान सिखाता है। उपदेशात्मक ध्वनि के वाक्यों की कुछ कडिया इस प्रकार हैं—

० 'युवापीढ़ी का यह दायित्व है कि वह संघर्प को आमंत्रित करे, मूल्याकन का पैमाना वदले, अह को तोडे, जोखिम का स्वागत करे, स्वार्थ और व्यामोह से ऊपर उठे तथा इस सदी के माथे पर कलक का जो टीका लगा है, उसे अगली सदी मे सक्रात न होने दे।'

० 'मै देश के पत्रकारो को आह्वान करना चाहता हूं कि वे जन-जीवन को नयी प्रेरणाओ से ओत-प्रोत कर, लूट-खसोट, मार-काट आदि सवादो को महत्त्व न देकर निर्माण को महत्त्व दे। जातीय, सांप्रदायिक आदि सकीर्ण विचारो को उपेक्षित कर व्यापक विचारो का प्रचार करें।'

१. वीती ताहि विसारि दे, पृ० ४९
२. एक वूद : एक सागर, पृ० ७४१

एक बात की सिद्धि मे उसके समकक्ष अनेक उदाहरणो को प्रस्तुत कर देना उनकी अपनी शैलीगत विशेपता है, जिससे कथ्य अधिक स्पष्ट एव सुबोध हो जाता है। सत्य का यात्री कभी लकीर का फकीर नही होता, इस बात को स्पष्ट करने के लिए उन्होने अनेक उदाहरण साहित्यिक भाषा मे प्रस्तुत किए हैं—

"प्रकाश की यात्रा करने वाला कोई भी मनुष्य अपनी मुट्ठी मे सूरज का बिम्ब लेकर जन्म नही लेता। अमृत की आकाक्षा रखने वाला कोई भी आदमी अगम्य लोको मे घर बसाकर नही रहता। ऊर्जा के अक्षय स्रोतों की खोज करने वाला व्यक्ति विरासत मे प्राप्त टेक्नालॉजी को ही आधार मानकर नही चलता। इसी प्रकार सत्य की यात्रा करने वाला साधक पुरानी लकीरो पर चलकर ही आत्मतोप नही पाता।"

किसी विशिष्ट शब्द की व्याख्या भी वे अनेक रूपो मे करते हैं, जिससे पाठक को वह हृदयगम हो जाए। उस स्थिति मे शब्द या वाक्यांश की पुनरुक्ति अखरती नही, अपितु एक विशेप चमत्कार और प्रभाव को उत्पन्न करती है। इसे भी एक प्रकार मे समानान्तरता का उदाहरण कहा जा सकता है—

अणुव्रती, अकाल मौत, महावीर की स्मृति तथा युवा आदि शब्दो को स्पष्ट करने वाली पक्तिया द्रष्टव्य है—

अणुव्रती बनने का अर्थ है—अहिंसक होना, शोपण न करना।
अणुव्रती बनने का अर्थ है—नए सामाजिक मूल्यो की प्रस्थापना करना।
अणुव्रती बनने का अर्थ है—अणु से पूर्ण की ओर गति करना।
अणुव्रती बनने का अर्थ है—मनुष्य बनना।

अकाल मौत का अर्थ है—प्रसन्नता मे कमी।
अकाल मौत का अर्थ है—मैत्री भाव मे कमी।
अकाल मौत का अर्थ है—स्वास्थ्य मे कमी।

महावीर की स्मृति का अर्थ है—पराक्रमी होना।
महावीर की स्मृति का अर्थ है—विषमता के विषवृक्षो को जड़ से उखाड़ फेंकना।
महावीर की स्मृति का अर्थ है—सत्यशोध के लिए विनम्र और उदार दृष्टिकोण अपनाना।
महावीर की स्मृति का अर्थ है—संयम की शक्ति का स्फोट करना

युवा वह होता है, जो तनावमुक्त होकर जीना जानता है।
युवा वह होता है, जो प्रतिस्रोत मे चलना जानता है।

युवा वह होता है, जो वर्तमान मे जीना जानता है।
युवा वह होता है, जो परिस्थितियो मे जीना जानता है।
युवा वह होता है, जो पुरुषार्थ का प्रयोग करना जानता है।
युवा वह होता है, जो आत्मविश्वास को बढ़ाना जानता है।
युवा वह होता है, जो अनुशासित होकर रहना जानता है।[1]

लोकप्रसिद्ध धारणा का निषेध वे उस धारणा को प्रस्तुत करके करते है। उनके इस शैलीगत वैशिष्ट्य के कारण वक्तव्य तो प्रभावी बनता है, पाठक की भ्रान्त धारणा का निराकरण भी हो जाता है और कथ्य के साथ वह सीधा सम्बन्ध भी स्थापित कर पाता है।

शैली के इस वैशिष्ट्य के बारे मे 'व्यावहारिक शैली विज्ञान' में भोलानाथ तिवारी कहते हैं कि एक बात का निषेध कर दूसरी बात कहना शैली को आकर्षक बनाता है। इसमे बडे सहज रूप से दूसरी बात रेखाकित हो उठती है। हिंदी मे कुछ ही लेखक इस शैली का प्रयोग करते हैं, जिनमे प्रेमचद और हजारीप्रसाद द्विवेदी मुख्य है। प्रेमचद 'मानसरोवर' में कहते है—"खाने और सोने का नाम जीवन नही है। जीवन नाम है सदैव आगे बढते रहने की लालसा का।"

साधु-संस्था के बारे मे लोगो की अनेक धारणाओ का निराकरण करके नई अवधारणा को प्रस्तुत करने वाली उनकी निम्न पक्तिया पठनीय है—"साधु भिखमगे नही, भिक्षु है। बोझ नही, बल्कि संसार का बोझ उतारने वाले है। अभिशाप नही, बल्कि जगत् के लिए वरदानस्वरूप हैं। वे कलक नही, बल्कि जगत् के शृ गार है।[2]

इसी प्रकार शब्द के अर्थ का स्पष्टीकरण भी कभी-कभी वे इसी शैली मे करते है—

- विनय का अर्थ दीनता, हीनता या दब्बूपन नही, वह तो आत्म-विकास का मार्ग है।
- अपरिग्रह का अर्थ यह नही कि भूखे मरो, उत्पादन या क्रय-विक्रय मत करो। इसका वास्तविक अर्थ है कि दूसरों के अधिकार छीनकर, प्रामाणिकता और विश्वासपात्रता को गवाकर, एक शब्द में, अन्याय द्वारा सग्रह मत करो।
- समर्पण का अर्थ किसी दूसरे के हाथ मे अपना भाग्य सौंप देना नही, अपितु समर्पित होने का अर्थ है—सत्य को पाने की दिशा मे प्रस्थान करना।

---

१. बीती ताहि विसारि दे, पृ० ८५
२. अणुव्रती सघ का चतुर्थ वार्षिक अधिवेशन, पृ० १२

धर्मनेता होने के कारण वे कर्तव्य की एक लम्बी शृंखला व्यक्ति या वर्गविशेष के सम्मुख रख देते हैं, जिससे कम-से-कम एक विकल्प तो व्यक्ति अपने अनुकूल खोज कर उसके अनुरूप स्वयं को ढाल सके। यह शैलीगत वैशिष्ट्य उन्हें अन्य साहित्यकारो मे विलक्षण बना देता है। युगो से प्रताड़ित अवहेलित नारी जाति के सामने करणीय कार्यो की सूची प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं--

"महिलाए अपनी क्षमताओ का बोध करे, स्वाभिमान को जागृत करे, युगीन समस्याओं को समझें, समस्याओ को समाज के सामने रखें, उन्हे दूर करने के लिए सामूहिक आवाज उठाएं और आगे बढने के लिए स्वयं अपना रास्ता बनाएं।"

"स्त्री को अपने व्यक्तित्व को उजागर करने के लिए चारित्रिक सादर्य को निखारना होगा, आत्मविश्वास को बढ़ाना होगा, आत्मनिर्भरता की आवश्यकता का अनुभव करना होगा, चिंतन एव अभिव्यक्ति को नया परिवेश देना होगा, स्वाभिमान को जगाना होगा, निरभिमानता का विकास करना होगा, अनासक्ति का अभ्यास करके सग्रहवृत्ति को नियंत्रित करना होगा, युगीन समस्याओं को समझना होगा, प्रदर्शनप्रियता से ऊपर उठकर आत्माभिमुख बनना होगा, अनाग्रही वृत्ति को विकसित करना होगा तथा सहिष्णुता, मृदुता एवं विनम्रता को आत्मसात् करना होगा।"

यद्यपि समानान्तरता का प्रयोग काव्य मे अधिक मिलता है, पर हिंदी साहित्य मे रामचंद्र शुक्ल, प्रेमचंद एवं हजारीप्रसाद द्विवेदी ने गद्य साहित्य मे भी इसका प्रचुर प्रयोग किया है। इसी क्रम मे आचार्य तुलसी की भाषा मे भी प्रचुर मात्रा मे लयात्मकता एवं समानान्तरता प्रवाहित होती दृग्गोचर होती है।

समानान्तरता का आशय है कि समान ध्वनि, समान शब्द, समान पद एवं समान उपवाक्यो की पुनरुक्ति। जैसे बेकन अपने निबंधो मे तीन शब्द, तीन पदबंध तथा तीन वाक्य समानान्तर रखते थे—

कुछ पुस्तके चखने की होती हैं, कुछ निगलने की होती हैं और कुछ चबाकर खाने और पचाने की।

रूपीय समानान्तरता के प्रयोग आचार्यश्री के साहित्य मे अधिक मिलते हैं—

० कुछ लोग निराशा की खोह में सोये रहते हैं। वे अतीत मे जाते हैं, भविष्य में उड़ान भरते हैं। जो नही किया, उसके लिए पछताते हैं। नयी आकांक्षाओं के सतरंगे इन्द्रधनुष रचते हैं। कभी समय को कोसते हैं। कभी परिस्थिति को दोष देते हैं और कभी अपने भाग्य का रोना रोते हैं। ऐसे लोग निषेधात्मक भावों के खटोले में बैठकर जिन्दगी के दिन पूरे करते हैं।[1]

१. मुखड़ा क्या देखे दर्पण मे, पृ० ९

० दिनभर दुकान पर बैठकर ग्राहको को धोखा देना, रिश्वत लेना, झूठे केस लड़ना, चोरी, झूठ आदि मे लगे रहना और इनके दुष्परिणामो से बचने के लिए मदिर मे प्रतिमा की परिक्रमा करना, साधु-संतो के चरण स्पर्श करना, भजन-कीर्तन मे भाग लेना वास्तव मे धार्मिकता नही है।[1]

आचार्य तुलसी का शब्द-सामर्थ्य बहुत समृद्ध है। अतः समतामूलक अर्थीय समानान्तरता के प्रयोग उनके साहित्य मे प्रचुर मात्रा मे मिलते है। भोलानाथ तिवारी का अभिमत है कि अर्थीय समानान्तरता आतरिक है और इसका बाहुल्य शैली मे अपेक्षाकृत गभीरता का द्योतक होता है।[2] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का एक प्रयोग है—

'मनुष्य की चरितार्थता प्रेम मे है, मैत्री मे है, त्याग मे है।'

आचार्यश्री के साहित्य मे अर्थीय समानान्तरता के उदाहरण द्रष्टव्य है—

० 'अकर्मण्य व्यक्ति मे कैसा साहस ! कैसी क्षमता ! कैसा उत्साह !' यह अर्थीय समानान्तरता का ही एक रूप है कि किसी भी बात या भाव पर बल देने के लिए वे शब्द के दो तीन पर्यायो का एक साथ प्रयोग करते है—

० 'कोई भी बाधा, रुकावट या मुसीबत आपके सत्यबल और आत्मबल के समय टिक नही पाएगी।'

ओजस्विता और जीवन्तता उनकी शैली के सहज गुण हैं इसीलिए बेलाग और स्पष्ट रूप से कहने मे वे कही नही हिचकते। शैलीगत यह वैशिष्ट्य उनके सम्पूर्ण साहित्य मे छाया हुआ है। वे वर्गविशेष पर अगुलि-निर्देश करते समय निर्भीक होकर अपनी बात कहते है। यह वैशिष्ट्य उनके अपने फक्कड़पन, मस्ती एव दुनियावी स्वार्थ से ऊपर उठने के कारण है। राजनैतिको के सामने प्रस्तुत प्रश्न इसी शैली के उदाहरण कहे जा सकते हैं—

"राष्ट्र को स्थिर नेतृत्व प्रदान करने के नाम पर क्यों सिद्धातहीन समझौते और स्तरहीन कलाबाजिया दिखाई जा रही हैं ? सम्प्रदायवाद, जातिवाद, भाषावाद और प्रान्तवाद को भडका करके क्यो सत्ता की गोटिया बिठाई जा रही हैं ? राष्ट्रपुरुष की छवि निखारने के नाम पर क्यो अपने स्वार्थों की पूर्ति की जा रही है ?[3]

उनकी कथन शैली का यह अनन्य वैशिष्ट्य है कि वे केवल समस्या को प्रस्तुत ही नही करते, उसका समाधान एव दूसरा विकल्प भी दर्शाते है। इससे उनके साहित्य में पाठक को एक नयी खुराक मिलती है। देश के

---

१. एक बूंद : एक सागर, पृ० ६२
२. व्यावहारिक शैली विज्ञान, पृ० ८६
३. जैन भारती, १६ दिस. ७९

नागरिकों को आह्वान करते हुए वे कहते है—

"संयम का मूल्यांकन होता तो बढ़ती हुई आबादी की समस्या जटिल नही होती। अपरिग्रह का मूल्य समझा जाता तो गरीबी की समस्या को पांव पसारने का अवसर नही मिलता। पुरुषार्थ को महत्त्व मिलता तो बेरोजगारी की समस्या नही बढ़ती। अहिंसा की मूल्यवत्ता स्थापित होती तो आतंकवाद की जड़ें गहरी नही होती। एकता और अखंडता का मूल्यांकन होता तो धर्म, भाषा, जाति आदि के नाम पर देश का विभाजन नही होता। मानवीय एकता या समता का सिद्धात प्रतिष्ठित होता तो जातीय भेदभावों को पनपने का अवसर नही मिलता, छुआछूत जैसी मनोवृत्तियो को अपने पंख फैलाने के लिए खुला आकाश नही मिलता।"[1]

आचार्य तुलसी को आत्मविश्वास का पर्याय कहा जा सकता है। वे प्रवचन मे तो अपनी बात पूरे आत्मविश्वास से कहते ही है, लेखन मे भी उनका आत्मविश्वास प्रखरता से अभिव्यक्त हुआ है—

० "मै विश्वासपूर्वक कहता हूं कि दृढ़ सकल्प शक्ति के साथ प्रामाणिकता स्वीकार कर, नैतिकता पर डटकर खडे हो जाओ तो देखोगे तुम ही सुखी हो।"[2]

० हमारा भविष्य हमारे हाथ मे है—यह आस्था मजबूत हो जाए तो समस्याओं की सौ-सौ आंधियां भी व्यक्ति के भविष्य को अधकारमय नही बना सकती।[3]

० मेरा दृढ विश्वास है कि जब तक हिंदुस्तान के पास अहिंसा की सम्पत्ति सुरक्षित है, कोई भी भौतिकवादी शक्ति उसे परास्त नही कर सकेगी।

० "मुझे उस दिन की प्रतीक्षा है, जब समस्त मानव समाज मे भावात्मक एकता स्थापित होगी और बिना किसी जातिभेद के मानव-मानव धर्म के पथ पर आरूढ होगे।"

नकारात्मक साहित्य समाज मे विकृति, सत्रास एव घुटन पैदा करता है। आचार्य तुलसी ने कहीं भी निराशा एवं निषेध का स्वर मुखर नही किया है। उनके सम्पूर्ण साहित्य में इस वैशिष्ट्य को पृष्ठ-पृष्ठ में देखा जा सकता है, जहां उन्होने अधकार मे भी प्रकाश की ज्योति जलाई है, निराशा में भी आशा के गीत गाए हैं तथा दु:ख मे से सुख को प्राप्त करने की कला बताई है—

---

१. क्या धर्म बुद्धिगम्य है? पृ० १०४

२. एक बूद : एक सागर, पृ० १५९२

३. वही, पृ० १४८८

- मैं सोचता हू थोडे-से अंधेरे को देखकर ढेर सारे प्रकाश से आख नही मूद लेनी चाहिए। आज समाज मे उल्लुओ की नही, हंसो की आवश्यकता है, जो क्षीर और नीर मे भेद कर सके।
- मै हर क्षण उत्साह की सास लेता हू, इसलिए सदा प्रसन्न रहता हू।
- "बचपन से ही अहिंसा के प्रति मेरी आस्था पुष्ट हो गयी। आस्था की वह प्रतिमा आज तक कभी भी खंडित नही हुई।"
- मुझे कभी सफलता मिली, कभी न भी मिली, पर सुधार के क्षेत्र मे मै कभी निराश होता ही नही, निराश होना मैंने सीखा ही नही। मै जिदगी भर आशावान् रहकर अडिग आत्मविश्वास के साथ काम करता रहूगा।"

अन्य साहित्यकारो की भांति वे किसी भी लेख मे लम्बी भूमिका नही लिखते है। सीधे कथ्य की अभिव्यक्ति ही करना चाहते है। भूमिका मे अनेक बार पाठक केवल शब्दो के जाल मे उलझ जाता है, उसे कुछ नई प्राप्ति का अहसास नही होता।

प्रवचन साहित्य में ही नही, निबधो मे भी उन्होने पौराणिक, ऐतिहासिक तथा काल्पनिक घटनाओ से अपने कथ्य की पुष्टि की है। अनेक स्थानो पर तो उन्होने छोटे-छोटे कथा-व्यंग्यो एव संस्मरणो के माध्यम से भी अपनी बात का समर्थन किया है। यह शैलीगत वैशिष्ट्य उनके सम्पूर्ण साहित्य मे छाया हुआ है। यही कारण है कि उनका साहित्य केवल विद्वद्-भोग्य ही नही, सर्वसाधारण के लिए भी प्रेरणादायी है।

उनके निबधो मे वार्तालाप शैली का प्राधान्य है। इससे पाठक के साथ निकटता स्थापित हो जाती है। वार्तालाप का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

एक बार मोरारजी भाई ने कहा—'आचार्यजी! नेहरूजी के साथ आपके अच्छे संबंध है। आप उन्हे अध्यात्म की ओर मोड सके तो बहुत लाभ हो सकता है।'

मैने उनसे पूछा—'यह प्रयत्न आप क्यो नही करते?'

वे बोले—'हम नही कर सकते। आप चाहे तो यह काम हो सकता है।'

हमने सलक्ष्य प्रयत्न किया। तीन वर्षों के बाद मोरारजी भाई फिर मिले। वे बोले—'हमारा काम हो गया।'

मैंने पूछा—'क्या नेहरूजी बदल रहे है?'

वे बोले—'हा, उनके चिन्तन मे ही नही, व्यवहार में भी बदलाव आ रहा है।'

कहीं-कहीं वे अपने कथ्य को इतनी भावुकतापूर्ण शैली मे कहते हैं कि पाठक उसमे वहने लगता है । ग्रामीणो के बारे में वे कितनी भावपूर्ण अभिव्यक्ति दे रहे हैं—

"जब मैं इन भोले-भाले, सहज, निश्छल और फटे-पुराने कपड़ो मे लिपटे ग्रामीणो को देखता हूं तो मेरा मन पसीज उठता है । ये मेरी छोटी-सी प्रेरणा से शराब, तम्बाकू आदि नशीली वस्तुओं को छोड़ देते हैं तथा अपनी सादगीपूर्ण जिन्दगी और भक्ति-भावना से मेरे दिल मे स्थान बना लेते हैं ।"[1]

युवापीढ़ी के प्रति अपने आतरिक स्नेह को अभिव्यक्त करते हुए उनका वक्तव्य कितना संवेदनशील और हृदयग्राह्य बन गया है—

"युवापीढी सदा से मेरी आशा का केन्द्र रही है । चाहे वह मेरे दिखाए मार्ग पर कम चल पायी हो या अधिक चल पायी हो, फिर भी मेरे मन मे उसके प्रति कभी भी अविश्वास और निराशा की भावना नही आती । मुझे युवक इतने प्यारे लगते हैं, जितना कि मेरा अपना जीवन । मैं उनकी अद्‌भुत कर्मजा शक्ति के प्रति पूर्ण आश्वस्त हू ।"[2]

उनकी प्रतिपादन-शैली का वैशिष्ट्य है कि वे शब्द और विषय की आत्मा को पकड़कर उसकी व्याख्या करते हैं । किसी भी शब्द या विषय की रूढ़ व्याख्या उन्हें पसद नही है । अहिंसा की मूल आत्मा को व्यक्त करती उनकी कथन-शैली का चमत्कार दर्शनीय है—

"जो लोग अहिंसा को सीमित अर्थों मे देखते है, उन्हे चीटी के मर जाने पर पछतावा होता है, किन्तु दूसरो पर झूठा मामला चलाने में पछतावा नही होता । अप्रामाणिक साधनो से पैसा कमाने मे हिंसा का अनुभव नहीं होता । अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति मे दूसरो का बड़े से बडा अहित करने मे उन्हे हिंसा की अनुभूति नही होती ।"

धर्म की सीधी व्याख्या उनके अनुभव में इस प्रकार है—

"मेरा धर्म किसी मदिर या पुस्तक में नही, बल्कि मेरे जीवन मे है, मेरे व्यवहार मे है, मेरी भाषा मे है ।"

उनके प्रवचनो मे ही नही, लेखन मे भी यह विशेषता है कि वे किसी भी विषय या व्यक्ति के विविध रूपो को एक साथ सामने रख देते हैं । यह उनकी स्मृति-शक्ति का तो परिचायक है ही, साथ ही पाठक के समक्ष उस विषय की स्पष्टता भी हो जाती है । नारी के अनेक रूपों को प्रकट करने वाली निम्न पंक्तियां उनके इस शैलीगत वैशिष्ट्य को उजागर करती हैं—

"कभी नारी सुघड़ गृहिणी के रूप में उपस्थित होती है तो कभी पूरे

---

१. एक बूंद : एक सागर, पृ० १७१३

२. वही, पृ० १७११

घर की स्वामिनी वन जाती है। वगीचे मे पौधो को पानी देते समय वह मालिन का रूप धारण करती है तो रसोईघर में अपनी पाक-कला का परिचय देती है। कपड़ो का ढेर सामने रखकर जव वह धुलाई का काम शुरू करती है तो उसकी तुलना धोविन से की जा सकती है तो वच्चो को होम वर्क कराते समय वह एक ट्यूटर की भूमिका मे पहुंच जाती है। कभी सीना-पिरोना, कभी वुनाई करना, कभी झाडू-बुहारी करना तो कभी वच्चो की परवरिश में खो जाना।"

अनुशासन के विविध पक्षो की साहित्यिक एव क्रमवद्ध अभिव्यक्ति का उदाहरण पढिये---

"अनुशासन वह कला है, जो जीवन के प्रति आस्था जगाती है। अनुशासन वह आस्था है, जो व्यवस्था देती है। अनुशासन वह व्यवस्था है, जो शक्तियों का नियोजन करती है। अनुशासन वह नियोजन है, जो नए सृजन की क्षमता विकसित करता है। अनुशासन वह सृजन है, जो आध्यात्मिक चेतना को जगाता है। अनुशासन वह चेतना है, जो अस्तित्व का वोध कराती है। अनुशासन वह वोध है, जो कलात्मक जीवन जीना सिखाता है।"

इसी सन्दर्भ मे अध्यात्म की व्याख्या भी पठनीय है—

"अध्यात्म केवल मुक्ति का ही पथ नही, वह शाति का मार्ग है, जीवन जीने की कला है, जागरण की दिशा है और है रूपान्तरण की सजीव प्रक्रिया।"

आचार्य तुलसी जीवन की हर समस्या के प्रति सजग हैं। अनेक स्थलो पर वे एक क्षेत्र की अनेक समस्याओ को प्रस्तुत करके एक ऐसा समाधान प्रस्तुत करते है, जो उन सव समस्याओं को समाहित कर सके। शैलीगत यह वैशिष्ट्य उनके साहित्य मे अनेक स्थलो पर देखने को मिलता है—

"समाज मे जहां-कही असंतुलन है, आक्रमण है, शोषण है, विग्रह है, असहिष्णुता है, अप्रामाणिकता है, लोलुपता है, असयम है, और भी जो कुछ अवाछनीय है, उसका एक ही समाधान है—सयम के प्रति निष्ठा।"

निष्कर्ष की भापा मे कहा जा सकता है कि उन्होने गद्य-साहित्य की लेखन-शैली मे अनेक नयी दिशाओं का उद्घाटन किया है। उनकी भाषा अनुभूतिप्रधान है, इस कारण उनका साहित्य केवल बुद्धि और तर्क को ही पैना नही करता, हृदय को भी स्पंदित करता है। उनका शव्द-चयन, वाक्य-विन्यास तथा भावाभिव्यक्ति—ये सभी विषय की आत्मा को स्पष्ट करने मे लगे हुए दिखाई देते हैं। कहा जा सकता है कि उनकी भाषा-शैली स्वच्छ, स्पष्ट, गतिमय, संप्रेपणीय, गम्भीर किन्तु वोधगम्य, मुहावरेदार तथा श्रुति-मधुर है।

चिन्तन के नए क्षितिज

आचार्य तुलसी एक ऐसे व्यक्तित्व है, जिन्हे चिन्तन का अक्षय कोप कहा जा सकता है। उनके चिंतन की धारा एक ही दिशा मे प्रवाहित नही हुई है, वल्कि उनकी वाणी ने जीवन की विविध दिशाओ का स्पर्श किया है। यही कारण है कि कोई भी महत्त्वपूर्ण विषय उनकी लेखनी से अछूता रहा हो, ऐसा नही लगता। उनके चिन्तन की खिडकिया समाज को नई दृष्टि देने के लिए सदैव खुली रहती है। उन्होने हजारो विपयो पर अपने मौलिक विचार व्यक्त किए है पर उन सबको प्रस्तुत करना असम्भव है। फिर भी अहिसा, धर्म और राष्ट्र के सन्दर्भ मे उन्होने जो नई सूझ और नई दृष्टि समाज को दी है, उसका आकलन हम यहा प्रस्तुत कर रहे है। यहा उन विपयो पर उनके उद्धरणो एव विचारो को ही ज्यादा महत्त्व दिया गया है, जिससे एक शोध-विद्यार्थी को उन पर थीसिस लिखने की सुविधा हो सके।

अहिसा दर्शन

अहिसा मानवीय जीवन की कुञ्जी है। अत इसका सामयिक और इहलौकिक ही नही, अपितु सार्वकालिक एव सार्वदेशिक महत्त्व है। 'अहिसा एक अखण्ड सत्य है। उसे टुकडो मे नही बाटा जा सकता। एशिया, यूरोप और अमेरिका की अहिसा अलग-अलग नही हो सकती।'[1] महावीर अहिसा के सन्दर्भ मे कहते है कि ज्ञानी की सबसे बडी पहचान यह है कि वह किसी की हिसा न करे। यदि करोडो पद्यो का ज्ञाता होने पर भी व्यक्ति हिसा मे अनुरक्त है तो वह अज्ञानी ही है। "पुरिसा! तुमसि नाम सच्चेव ज हतव्व ति मन्नसि"—पुरुप जिसे तू हनन योग्य मानता है, वह तू ही है—यह ऐसा मत्र महावीर ने मानव जाति को दिया है, जिसके आधार पर विश्व की सभी आत्माओ मे समत्व प्रतिष्ठित हो सकता है।

यो तो अहिसा सभी महापुरुपो के जीवन का आभूपण है, किन्तु कुछ कालजयी व्यक्तित्व ऐसे अमिट हस्ताक्षर छोड जाते है, जो स्वय ही अहिसक जीवन नही जीते, वरन् समाज को भी उसका सक्रिय एव प्रयोगात्मक प्रशिक्षण देते है। इस दृष्टि से वीसवी सदी के महनीय पुरुप आचार्य तुलसी को मानव जाति कभी भूल नही पाएगी, क्योकि उन्होने अहिसा के प्रशिक्षण की बात कहकर अहिसक शक्ति को सगठित करने का भागीरथ प्रयत्न

१. कुहासे मे उगता सूरज, पृ० २६

किया है। उनके अहिसक विचारों की विशदता और विपुलता का आकलन इस बात से किया जा सकता है कि उनकी प्रकाशित पुस्तको में अहिसा से सम्बन्धित लगभग २०० लेख है।

उनके अहिंसक व्यक्तित्व के सन्दर्भ मे प्रसिद्ध साहित्यकार यशपालजी का कहना है—"आचार्य तुलसी के पास कोई भौतिक वल नही, फिर भी वे प्रेम, करुणा एव सद्भावना के द्वारा अहिंसक क्राति का शंखनाद कर रहे है। विनोवा तो अन्तिम समय मे ऐकातिक साधना मे लग गए पर आचार्य तुलसी के चरण ८० वर्ष में भी गतिमान् है। उनकी अहिसक साधना अविराम गति से लोगो को सही इन्सान वनाने का कार्य कर रही है।"

आचार्य तुलसी के कण-कण मे अहिंसा का नाद प्रस्फुटित होता रहता है। किसी भी विपम परिस्थिति मे हिंसा की क्रियान्विति तो दूर, उसका चिन्तन भी उन्हे मान्य नही है। लोक-चेतना मे अहिंसा को जीवन-शैली का अंग वनाने के लिए उन्होने भारत की स्वतत्रता के साथ ही अणुव्रत आन्दोलन का सूत्रपात किया। कृतज्ञ राष्ट्र ने उनकी चार दशकों की तपस्या का मूल्याकन किया और उन्हे (सन् १९९३ मे) 'इन्दिरा गाधी पुरस्कार' से सम्मानित किया। पुरस्कार समर्पण के अवसर पर वे राष्ट्र को उद्वोधित करते हुए कहते है—"मै अपने समूचे सघ एव राष्ट्र से यही चाहता हू कि सव जगह एकता और सद्भावना का विस्तार हो तथा देश मे जितने भी विवादास्पद मुद्दे है, उन्हे अहिंसा के द्वारा सुलझाया जाए। अहिंसा के प्रचार-प्रसार मे उनके आशावादी दृष्टिकोण की झलक निम्न पक्तियों मे देखी जा सकती है—

"कई वार लोग मुझसे पूछते है, आप अहिंसा का मिशन लेकर चल रहे है तो क्या आप सारे संसार को पूर्ण अहिसक वना देंगे ? उन्हें मेरा उत्तर होता है—अव तक के इतिहास मे ऐसा कोई युग नही आया, जवकि सारा संसार अहिसक वना हो। फिर भी युग-युग मे अहिसक शक्तिया अपने-अपने ढंग से अहिसा की प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्न करती रही है। आज हम लोग भी वही प्रयास कर रहे है। पर मै इस भापा मे नही सोचता कि हमारे इस प्रयास से सारा ससार अहिंसक या धार्मिक वन जाएगा। वस्तुत सारे संसार के अहिसक और धार्मिक वनने की वात कर्णप्रिय और लुभावनी तो है ही पर व्यावहारिक और सम्भव नही है। व्यावहारिक और सम्भव इतनी ही है कि हमारे प्रयास से कुछ प्रतिशत लोग अहिसक और धार्मिक वन जाए। पर इसके वावजूद भी हम अपने कार्य मे सफल है। मैं तो यहा तक भी सोचता हू कि यदि एक व्यक्ति भी हमारे प्रयत्न से अहिसक या धार्मिक नही वनता है तो भी हम असफल नही है।'[1]

---

१ भोर भई, पृ० ३२-३३

अहिंसक शक्ति के संगठन के सन्दर्भ में उनकी यह प्रस्थापना कितनी मौलिक एवं प्रेरक है—"अहिंसा और धर्म की शक्ति में तेज नहीं आ रहा है। उसका सबसे बड़ा कारण है कि दो डाकू, चोर या उपद्रवी मिल जाएंगे किन्तु दो अहिंसक या धार्मिक नहीं मिल सकते। मेरा निश्चित अभिमत है कि हिंसा में जितनी शक्ति लगाई गई, उस शक्ति का लक्षांश भी यदि अहिंसा की सृष्टि में लगता तो ऐसी विलक्षण शक्ति पैदा होती, जिसके परिणाम चौंकाने वाले होते।"[1] उनका आत्म-विश्वास अनेक अवसरों पर इन शब्दों में अभिव्यक्त होता है—"जिस दिन सामूहिक रूप से अहिंसा के प्रशिक्षण एवं प्रयोग की बात सम्भव होगी, हिंसा की सारी शक्तियों का प्रभाव क्षीण हो जाएगा।"

अहिंसा के प्रशिक्षण हेतु उनकी सन्निधि में दो अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेन्सों का आयोजन भी हो चुका है। प्रथम सम्मेलन दिसम्बर १९८८ में हुआ, जिसमें २५ देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन फरवरी १९९१ में हुआ। इन दोनों सम्मेलनों का मुख्य उद्देश्य था बढ़ती हुई हिंसा की विविध समस्याओं का समाधान तथा अहिंसा का विधिवत् प्रशिक्षण देकर एक अहिंसावाहिनी का निर्माण करना। अहिंसक शक्तियों को संगठित करने में यह लघु किन्तु ठोस उपक्रम बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ। इन सम्मेलनों में ऐसी प्रशिक्षण प्रणाली प्रस्तुत की गयी, जिससे मनुष्य की शक्ति ध्वंस में नहीं, अपितु रचनात्मक शक्तियों के विकास में लगे तथा अहिंसा की सामूहिक शक्ति का प्रदर्शन किया जा सके।

अहिंसा का स्वरूप

भारतीय संस्कृति अध्यात्मप्रधान संस्कृति है। अध्यात्म की आत्मा अहिंसा है। भारतीय ऋषि-मुनियों ने अहिंसा का जो शाश्वत गीत गाया है, वह आज भी हमारे समक्ष आदर्श प्रस्तुत करता है। अहिंसा चिरन्तन जीवन-मूल्य है, अतः यह तो नहीं कहा जा सकता कि उसकी खोज किसने की, पर महात्मा गांधी कहते हैं कि उस हिंसामय जगत् में जिन्होंने अहिंसा का नियम ढूंढ निकाला, वे ऋषि न्यूटन से कहीं ज्यादा बड़े आविष्कारक थे। वे वैलिंग्टन से ज्यादा बड़े योद्धा थे, उनको मेरा साष्टांग प्रणाम है।[2]

महावीर ने अहिंसा को जीवन का विज्ञान कहा है। वेद, उपनिषद्, स्मृति, महाभारत आदि अनेक ग्रन्थों में इसका स्वरूप विश्लेपित हुआ है। पर इसके स्वरूप में आज भी बहुत विप्रतिपत्ति है। यही कारण है कि अनेक

---

१ अमृत सन्देश, पृ० ४४।

२. मेरे सपनों का भारत, पृ० ८२।

परिभाषाएं भी इसको व्याख्यायित करने मे असमर्थ रही है। आचार्य तुलसी ने इसे आधुनिक परिवेश मे परिभाषित करने का प्रयत्न किया है।

अहिंसा के विषय मे उनका चिन्तन न केवल भारतीय चिन्तन के इतिहास मे नया चिन्तन प्रस्तुत करता है, अपितु पाश्चात्य विचारधारा मे भी नई सोच पैदा करने की सामर्थ्य रखता है। उनके वाङ्मय मे अहिंसा की सैकड़ों परिभाषाए बिखरी पड़ी है, जो अहिंसा के विविध पहलुओं का स्पर्श करती हैं। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

- सत्, चित् और आनन्द की अनुभूति ही अहिंसा है।
- सब प्राणियो के प्रति आत्मीय भाव होने का नाम अहिसा है। अर्थात् सबके दर्द को अपना दर्द मानना अहिंसाभाव है।
- मन, वाणी और कर्म इन तीनो को विशुद्ध और पवित्र रखना ही अहिंसा है।[1]
- शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक--हर प्रवृत्ति मे भावक्रिया रहे, यही अहिंसा की साधना का फलित रूप है।
- अहिंसा का अर्थ है—स्वयं निर्भय होना और दूसरो को अभयदान देना।
- प्राप्त कष्टो को समभाव से सहन करना अहिंसा का विशिष्ट रूप है।
- अहिंसा का अर्थ है—बाहरी आकर्षण से मुक्ति तथा स्व का विस्तार।
- जहा भोग का त्याग हो, उन्माद का त्याग हो, आवेग का त्याग हो, वहा अहिंसा रहती है।
- यदि छोटी-छोटी बातो पर तू-तू मैं-मै होती है तो समझना चाहिए, अहिंसा का नाम केवल अधरो पर है, जीवन मे नही।
- अहिंसा का अर्थ अन्यायी के आगे दबकर घुटने टेकना नही, बल्कि अन्यायी की इच्छा के विरुद्ध अपनी आत्मा की सारी शक्ति लगा देना है।
- हम किसी दूसरे को न मारे, न पीटे, इतनी ही अहिंसा नही है। हम अपने आपको भी न मारे, न पीटे और न कोसे—यही अहिसा का मूल हार्द है।
- जो निष्काम कर्म है, वही तो आतरिक अहिंसा है।[2]
- अहिंसा के जगत् मे इस चिन्तन की कोई भाषा नही होती कि मै

---

१ मुक्तिपथ, पृ० १३ '

२ जैन भारती, २६ नव० ६१।

ही रहूं, मैं ही बचू या अन्तिम जीत मेरी ही हो। वहां की भाषा यही होती है—अपने अस्तित्व मे सब हो और सबके अस्तित्व का विकास हो।[1]

इतने व्यापक स्तर पर अहिंसा की व्याख्या इतिहास का दुर्लभ दस्तावेज है।

अहिंसा की मौलिक अवधारणा

अहिंसा के विषय में तेरापन्थ के आद्य गुरु आचार्य भिक्षु ने कुछ मौलिक अवधारणाओ को प्रतिष्ठित किया। उन नयी अवधारणाओ को तत्कालीन समाज पचा नही सका, अत उन्हें बहुत सघर्ष एव विरोध झेलना पड़ा। पर वर्तमान मे आचार्य तुलसी ने उनको आधुनिक भाषा एवं आधुनिक सन्दर्भ मे प्रस्तुत करने का प्रशस्य प्रयत्न किया है। उनमे कुछ अवधारणाओं को बिंदु रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है—

- शुद्ध अहिंसा है—हृदय-परिवर्तन के द्वारा किसी को अहिंसक बनाना। जब तक हिंसक का हृदय परिवर्तन नही होता, तब तक वह किसी न किसी रूप मे हिसा कर ही लेगा। अत: साधन-शुद्धि अहिंसा की अनिवार्य शर्त है।
- बड़ो की रक्षा के लिए छोटों को मारना, बहुमत के लिए अल्पमत का उत्सर्ग कर देना हिंसा नही है—यह मानना अहिसा को लज्जित करना है। हिंसा न छोड़ सकें, यह मानवीय कमजोरी है, पर उसे अहिंसा मानने की दोहरी गलती क्यों करे?
- अनिवार्य हिंसा को अहिंसा मानना उचित नही। आकाक्षाओ के लिए होने वाली हिंसा, जीवन की आवश्यकता-पूर्ति करने वाली हिंसा अनिवार्य हो सकती है, पर उसे अहिंसा नही कह सकते।[2]
- किसी को अहिंसक बनाने के लिए हिंसा का प्रयोग करना अहिंसा का दुरुपयोग है।
- आप लोग न मारें तो मै भी आपको नही मारूं, आप यदि गाली न दें तो मैं भी गाली न दू, ऐसा विनिमय अहिंसा मे नही होता।[3]
- अहिंसक बनने का उद्देश्य यह नही कि कोई न मरे, सब जिन्दा रहें, उसका उद्देश्य यही है कि व्यक्ति अपना आत्मपतन न होने

१. मेरा धर्म : केन्द्र और परिधि, पृ० ६५।
२. शाति के पथ पर, पृ० ४७।
३. एक बूद : एक सागर, पृ० २७०।

दे। कोई किसी को जिला सके, यह सर्वथा असम्भव बात है। पर कोई किसी को मारे नही, यह अहिसा और मैत्री का व्यावहारिक एव सम्भावित रूप है।[1] इसी बात को रूपक के माध्यम से समझाते हुए वे कहते है—पडोसी को दुर्गंध न आए, इसलिए हम घर को साफ-सुथरा बनाये रखे, यह सही बात नही है। दूसरो को कष्ट न हो इसलिए हम अहिंसक रहे, अहिंसा का यह सही मार्ग नही है। आत्मा का पतन न हो, इसलिए हिंसा न करे, यह है अहिसा का सही मार्ग। कष्ट का बचाव तो स्वय हो जाता है।[2]

अहिंसक कौन ?

अहिसक कौन हो सकता है, इस विषय मे भारतीय मनीषियो ने पर्याप्त चिन्तन किया है। आचार्य तुलसी मानते है कि अहिंसा की जय बोलने वाले तथा उसकी महिमा का बखान करने वाले अनेक अहिंसक मिल जाएगे पर वास्तव मे अहिंसा को जान वाले कम मिलेगे। अत अनेक बार दृढतापूर्वक वे इस तथ्य को दोहराते है—"अहिंसा को जितना खतरा तथाकथित अहिसको से है, उतना हिसको से नही। अहिसको का वचनापूर्ण व्यवहार तथा उनकी कथनी और करनी मे असमानता ही अहिसा पर कुठराघात है।" आचार्यश्री ने विभिन्न कोणो से अहिसक की विशेषताओ का आकलन किया है, उनमे से कुछ यहा प्रस्तुत है—

- मौत के पास आने पर जो धैर्य से उसका आह्वान करे, वही सच्चा अहिंसक हो सकता है।
- अहिंसक व्यक्ति हर परिस्थिति मे शात रहता है। उसका अन्तःकरण शीतलता की लहरो पर क्रीडा करता रहता है।
- अहिसक वही है, जो मारने की क्षमता रखता हुआ भी मारता नही है।
- अहिंसक वही हो सकता है, जिसकी दृष्टि बाह्य भेदो को पार कर आतंरिक समानता को देखती रहती है।
- अहिसक सच्चा वीर होता है। वह स्वय मरकर दूसरे की वृत्ति बदल देता है, हृदय परिवर्तित कर देता है।
- यदि हिंसक शक्तियो का मुकाबला करने मे अहिसा असमर्थ है तो मै इसे अहिंसको की दुर्बलता ही मानूगा।

---

१. प्रवचन पाथेय, भाग ८, पृ० २९,३०।

२ आचार्य तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ९८

- निम्न सात सूत्रों से जिसका जीवन परिवेष्टित है, वही अहिंसक है। व्यक्ति स्वयं को तोले कि उसका जीवन किसकी परिक्रमा कर रहा है—

(१) शांति की अथवा क्रोध की।
(२) नम्रता की अथवा अभिमान की।
(३) संतोष की अथवा आकांक्षा की।
(४) ऋजुता की अथवा दंभ की।
(५) अनाग्रह की अथवा दुराग्रह की।
(६) सामजस्य की अथवा वैषम्य की।
(७) वीरता की अथवा दुर्बलता की।

आचार्य तुलसी द्वारा उद्गीत अहिसक की ये कसौटिया उसके सर्वांगीण व्यक्तित्व को प्रस्तुत करने वाली है।

हिंसा के विविध रूप

हिंसा ऐसी चिनगारी है, जो निमित्त मिलते ही भड़क उठती है। हिंसा के बारे मे आचार्य तुलसी का मन्तव्य है कि किसी को मार देने तक ही हिंसा की व्याप्ति नही है। अहिंसा को समझने के लिए हिंसा के स्वरूप एवं उसके विविध रूपो को समझना आवश्यक है। आचार्य तुलसी हिसा के जिस सूक्ष्म तल तक पैठे है, वहा तक पहुंचना हर किसी व्यक्ति के लिए सम्भव नही है। वे हिंसा को बहुत व्यापक अर्थ में देखते है। हिसा के स्वरूप-विश्लेषण में उनके मंथन से निकलने वाले कुछ निष्कर्ष इस भाषा में प्रस्तुत किए जा सकते है—

- राग-द्वेष युक्त प्रवृत्ति से किया जाने वाला हर कार्य हिसा है।[1]
- हिसा मात्र तलवार से ही नही होती, मिलावट और शोषण भी हिंसा है, जिसके द्वारा लाखो लोगो को मौत के घाट उतार दिया जाता है। सक्षेप मे कहे तो जीवन की हर असंयत प्रवृत्ति हिंसा है।
- किसी से अतिश्रम लेने की नीति हिसा है।
- अपने विश्वास या विचार को बलपूर्वक दूसरे पर थोपने का प्रयास करना भी हिंसा है, फिर चाहे वह अच्छी धार्मिक क्रिया ही क्यो न हो।
- जैसे दूसरो को मारना हिंसा है, वैसे ही हिंसा को रोकने के लिए आत्म-बलिदान से कतराना भी हिंसा है।

---

१. मुक्तिपथ, पृ० २१

- मैं तोड़-फोड करने वालों और घेराव डालने वालों को ही हिसक नहीं मानता, किन्तु उन लोगो को भी हिसक मानता हूं, जो अपने आग्रह के कारण वैसी परिस्थिति उत्पन्न करते है तथा मानवीय सवेदनाओ का लाभ उठाकर उन्ही से अपना जीवन चलाते हैं।
- युद्ध करना ही हिसा नहीं है, घर में बैठी औरत यदि अपने पारिवारिक जनो से कलह करती है तो वह भी हिसा है।
- किसी के प्रति द्वेष भावना, ईर्ष्या, उसे गिराने का मनोभाव, किसी की बढ़ती प्रतिष्ठा को रोकने के सारे प्रयत्न हिसा मे अन्तर्गभित हैं।

आचार्य तुलसी मानते है कि हिसा और आत्महनन एक दूसरे से जुडे हुए है। हिसा हमारे सामने कितने रूपो में प्रकट हो सकती है, उसका उन्होंने मानसिक एव भावनात्मक स्तर पर सुन्दर विवेचन किया है। यहा उनके द्वारा प्रतिपादित विचारयात्रा के कुछ सन्दर्भ मननीय है—

- स्व हिंसा का अर्थ है—आत्मपतन। जहा थोड़ी या ज्यादा मात्रा मे आत्मपतन होगा, वही हिंसा होगी। वास्तव में आत्मपतन ही हिंसा है।
- व्यक्ति कहता कुछ है और करता कुछ है। यह कथनी-करनी की असमानता अप्रामाणिकता है। इससे आत्महनन होता है, जो हिंसा का ही एक रूप है।
- स्वामी की अनुमति के विना किसी की कोई वस्तु लेना चोरी है। चोरी आत्महनन है, जो हिंसा का ही एक रूप है।
- अखण्ड ब्रह्मचर्य का संकल्प लेकर चलने पर भी यदि व्यक्ति को वासना सताती हो तो यह स्पष्ट रूप से उसका आत्महनन है, जो हिंसा का ही एक रूप है।
- सम्पूर्ण अपरिग्रह का व्रत लेकर चलने पर भी यदि मन की मूर्च्छा नही टूटी है तो यह उसका आत्महनन है, जो हिंसा का ही एक रूप है।
- प्रतिकूल परिस्थिति एवं प्रतिकूल सामग्री के कारण किसी के मन में अशाति हो जाती है तो यह उसका आत्महनन है, जो हिसा का ही एक रूप है।
- व्यक्ति अपने आपको ऊचा और दूसरो को हीन मानता है। यह उसका अभिमान है, आत्महनन है, जो हिंसा का ही एक रूप है।
- काय, भाषा एव भाव की ऋजुता के अभाव में किसी के साथ

प्रवंचना करना मायाचार है। यह आत्महनन है, जो हिंसा का ही एक रूप है।

आचार्य तुलसी की दृष्टि में हिंसा के पोषक तत्त्व पूर्वाग्रह, भय, अहं, सन्देह, धार्मिक असहिष्णुता, साम्प्रदायिक उन्माद आदि हैं।[1] उनकी स्पष्ट अवधारणा है कि हिंसा जीवन के लिए जरूरी हो सकती है, पर जीवन का साध्य नहीं बन सकती। समस्या वहां होती है, जहां उसे साध्य मान लिया जाता है।[2]

हिंसा वैभाविक प्रतिक्रिया है, अतः वह जीवन-मूल्य नहीं बन सकती, क्योंकि कोई आदमी लगातार हिंसा नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त हिंसा की सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि वह निश्चित आश्वासन नहीं बन सकती। वह पारस्परिक संघर्षों, विवादों एवं समस्याओं को सुलझाने में असफल रही है इसलिए उस पर विश्वास करने वाले भी संदिग्ध और भयभीत रहते हैं।

पूर्ण अहिंसक होते हुए भी आचार्य तुलसी का दृष्टिकोण सन्तुलित है। वे मानते हैं कि यह सम्भव नहीं कि सर्वसाधारण वीतराग बन जाए, अपने स्वार्थों की बलि कर दे, भेदभाव को भुला दे और जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक हिंसा को छोड़ दे।[3]

अनावश्यक हिंसा के विरोध में जितनी सशक्त आवाज आचार्य तुलसी ने अपने साहित्य में उठाई है, इस सदी में दूसरा कोई साहित्यकार उनके समकक्ष नहीं ठहर सकता। उनका मानना है कि युद्ध जैसी बड़ी हिंसाओं से सभी चिंतित हैं पर वास्तव में छोटी हिंसाएं ही बड़ी हिंसा को जन्म देती हैं। अतः उन्होंने अपने साहित्य में हिंसा के अनेक मुखौटों का पर्दाफाश करके मानवीय चेतना को उद्बुद्ध करने का प्रयास किया है। अरब देशों में अमीरों के मनोरंजन के लिए ऊंट-दौड़ के साथ शिशुओं की होने वाली हत्या के सन्दर्भ में वे अपनी तीखी आलोचना प्रकट करते हुए कहते हैं—

"एक ओर क्षणिक मनोरंजन और दूसरी ओर मासूम प्राणों के साथ ऐसा क्रूर मजाक! क्या मनुष्यता पर पशुता हावी नहीं हो रही है? कहा तो यह जाता है कि बच्चा भगवान् का रूप होता है पर बच्चों की इस प्रकार बलि दे देना, क्या यह अमीरी का उन्माद नहीं है। इसे दूर करने के लिए जनमत को जागृत करना आवश्यक है।[4]

बीसवीं सदी में वैज्ञानिक परीक्षणों के दौरान एक नयी हिंसा का दौर और शुरू हो गया है। वह है—कन्या भ्रूण की हत्या। इसके लिए वे

१. अणुव्रत : गति प्रगति, पृ० १५८।
२. लघुता से प्रभुता मिले, पृ० २११।
३. २१ अप्रैल, ५० दिल्ली, पत्रकार सम्मेलन।
४. बैसाखियां विश्वास की, पृ० ६२।

वहिनो को भारतीय सस्कृति की गरिमा से अवगत कराते हुए उन्हे मातृत्व-वोध देना चाहते है—

"क्या मा की ममता का स्रोत सूख गया ? पाषाण खण्ड जैसे वच्चे को भी भार न मानने वाली मां एक स्वस्थ और संभावनाओ के पुंज शिशु का प्राण ले लेती है, क्या वह क्रूर हिंसा नही है ?"[1] व्यक्ति प्राणी जगत् के प्रति संवेदनशील नही हैं, इसलिए आज हिंसा प्रवल है। प्राचीनकाल मे प्रसाधन के रूप मे प्राकृतिक चीजो का प्रयोग होता था। लेकिन आज अनेक जीवित प्राणियो के रक्त और मास से रंजित वह सौन्दर्य-सामग्री कितने ही वेजुवान प्राणियो की आहों से निर्मित होती है। इस अनावश्यक हिंसा का समाधान व्यंग्य भाषा मे करते हुए वे कहते हैं—

"प्रसाधन सामग्री के निर्माण मे निरीह पशु-पक्षियो के प्राणो का जिस वर्वरता के साथ हनन होता है, उसे कोई भी आत्मवादी वांछनीय नही मान सकता। जिस प्रसाधन सामग्री मे मूक प्राणियो की कराह घुली है, उनका प्रयोग करने वाले अपने शरीर को भले ही सुन्दर वना लें पर उनकी आत्मा का सौन्दर्य सुरक्षित नही रह सकेगा।[2]

आज की घोर हिंसा एवं आतंक को देखकर भी उनका मन कम्पित या निराश नही होता। उनका विश्वास कभी डोलता नही, अपितु इन शब्दो मे स्फुटित होता है—"समूची दुनिया अहिंसा अपना नही सकती, इसलिए हमें निराश, चिन्तित या पीछे हटने की आवश्यकता नही है। हमे तो इसी भावना से अहिंसा को लेकर चलना है कि कही अहिंसा की तुलना मे हिंसा वलवान्, स्वच्छन्द और अनियन्त्रित न वन जाए।"[3] अहिंसा की तुलना मे हिंसा शक्तिशाली हो रही है। अत मात्रा के इस असन्तुलन को मिटाने की प्रेरणा एवं भविष्य की चेतावनी देते हुए उनका कहना है—"यदि अहिंसा के द्वारा हिंसा का मुकावला नही किया गया तो निश्चित समझिए कि एक दिन मन्दिर, मठ, स्थानक, आश्रम और हमारी सस्कृति पर धावा होने वाला है।[4] हिंसा की इस समस्या को समाहित करने के लिए वैज्ञानिको को सुझाव देते हुए वे कहते है कि-पहले *अन्वेषण किया जाए कि मस्तिष्क मे हिंसा* के स्रोत कहा विद्यमान है ? क्योंकि स्रोतो की खोज करके ही उन्हे परिष्कृत करने और वदलने की वात सोचकर हिसक शक्ति को नियन्त्रित तथा अहिसा को शक्तिशाली वनाया जा सकता है।[5]

---

१. वैसाखिया विश्वास की, पृ० ५९।
२. सफर : आधी शताब्दी का, पृ० ९५।
३. प्रवचन पाथेय भाग-९, पृ० २६६।
४ एक वूद : एक सागर, पृ० २६७।
५ सफर · आधी शताब्दी का, पृ० ५८।

प्राय: धर्मग्रन्थो मे हिंसा के दुष्परिणामो का करुण एवं रोमांचक वर्णन मिलता है पर आचार्य तुलसी ने आधुनिक मानसिकता को देखकर हिंसा को नरक से नही जोडा पर अहिंसा के प्रति निष्ठा जागृत करने के लिए उसका मनोवैज्ञानिक पथ प्रस्तुत किया है—

- हिंसा करने वाला किसी दूसरे का अहित नही करता वल्कि अपनी आत्मा का अनिष्ट करता है—अपना पतन करता है।[1]
- हम किसी के लिए सुख के साधन वनें या न वनें, कम से कम दु:ख का साधन तो न वनें। सन्तापहारी वनें या न वनें, कम से कम सन्तापकारी तो न वनें।[2]

निरपराध प्राणियो को मौत के घाट उतारने वाले आतकवादियो की अन्तश्चेतना जागृत करते हुए वे कहते है—"यदि कत्ले-आम करना चाहते हो तो आत्मा के उन घोर अपराजित शत्रुओ का करो, जिनसे तुम वुरी तरह जकड़े हुए हो, जो तुम्हारा पतन करने के लिए तुम्हारी ही नगी तलवारे लिए हुए खडे हैं।[3]

अहिंसा का क्षेत्र

अहिंसा का क्षेत्र आकाश की भाति व्यापक है। आचार्य तुलसी मानते है कि अहिंसा को परिवार, कुटुम्व, समाज या राष्ट्र तक ही सीमित नही किया जा सकता। उसकी गोद मे जगत् के समस्त प्राणी सुख की सांस लेते है। उसकी विशालता को व्याख्यायित करते हुए आचार्य तुलसी का कहना है—अहिंसा में साम्प्रदायिकता नही, ईर्ष्या नही, द्वेष नही, वरन् एक सार्वभौमिक व्यापकता है, जो संकुचितता और संकीर्णता को दूर कर एक विशाल सार्वजनिक भावना लिए हुए हैं।

उनके द्वारा प्रतिपादित अहिंसा कितनी व्यापक एव विशाल हैं, यह निम्न उक्ति से जाना जा सकता है—"किसी भी विचार या पक्ष के विरोध मे प्रतिरोध होते हुये भी अहिंसा यह अनुमति नही देती कि हमारे दिलो मे विरोधी के प्रति दुर्भाव या घृणा का भाव हो।"[4]

अहिंसा की शक्ति

अहिंसा की शक्ति अपरिमेय है, पर आवश्यकता है उसको सही प्रयोक्ता मिले। आचार्य तुलसी इसकी शक्ति को रूपक के माध्यम से समझाते

---

१. अहिंसा और विश्व शाति, पृ० ८।
२. शाति के पथ पर, पृ० ६१।
३. एक वूद : एक सागर, पृ० ४७७।
४ अणुव्रत : गति-प्रगति, पृ० १५६।

हुये कहते है—"माटी का एक दीया भी अंधकार की सघनता को भेदने मे सक्षम है। इसी प्रकार अहिंसा की दिशा मे उठा हुआ एक-एक पग भी मंजिल तक पहुंचाने मे कामयाबी दे सकेगा"[1] पर अहिंसा की शक्ति की थाह पाना उनके लिए असंभव है, जो हिंसा की शक्ति मे विश्वास करते है तथा इंसानियत की अवहेलना करते है। अहिंसा के अमाप्य व्यक्तित्व मे योगक्षेम की जो क्षमता है, वह अतुल और अनुपमेय है। इसी भावना को आचार्य तुलसी समाज के हर वर्ग की चेतना को झकझोरते हुए कहते है—"अगर नेता, साहित्यकार, दार्शनिक, कलाविद् और कवि हिंसा के वातावरण को फैलाना छोडकर अहिंसा के पुनीत वातावरण को फैलाने मे जुट जाएं तो सभव है कि अहिंसक क्राति की शक्ति का उज्ज्वल आलोक कण-कण मे छलक उठे।"

अहिंसा की शक्ति के प्रति अपना अमित विश्वास व्यक्त करते हुये वे कहते है—"अहिंसा मे इतनी शक्ति है कि हिंसक यदि अहिंसक के पास पहुच जाए तो उसका हृदय परिवर्तित हो जाता है पर इस शक्ति का प्रयोग करने हेतु बलिदान की भावना एवं अभय की साधना अपेक्षित है।"

अहिंसा की प्रतिष्ठा

भारतीय संस्कृति के कण-कण मे अहिसा की अनुगूज है। यहा राम, बुद्ध, महावीर, नानक, कबीर और गाधी जैसे लोगो ने अहिंसा के महान् आदर्श को जनता के समक्ष प्रस्तुत किया है। उस महान् भारतीय जीवन-शैली मे हिसा की घुसपैठ चिन्तनीय प्रश्न है।

अहिंसा की प्रतिष्ठा प्रत्येक व्यक्ति चाहता है। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय मंच से भी आज अहिसा की प्रतिष्ठा का चिन्तन चल रहा है। राजीव गाधी एवं गोर्वाच्योव ने विश्व शांति और अहिसा के लिए दस प्रस्ताव पारित किये, उनमे अधिकांश सुझाव अहिसा से संबधित है। आचार्य तुलसी का गहरा आत्मविश्वास है "हिंसा चाहे चरम सीमा पर पहुंच जाये पर अहिंसा की मूल्यस्थापना या प्रतिष्ठा कम नही हो सकती, क्योंकि हिसा हमारी स्वाभाविक अवस्था नही है। तूफान और उफान किसी अवधिविशेष तक ही प्रभावित कर सकते है, वे न स्थायी हो सकते हैं और न ही उनकी प्रतिष्ठा हो सकती है।[2] आचार्य तुलसी देश की जनता को झकझोरते हुए कहते है—"प्रश्न अब अहिंसा के मूल्य का नही, उसकी प्रतिष्ठा का है। मै मानता हूं, यह अहिंसा का परीक्षा-काल है, अहिसा के प्रयोग का काल है। इस स्वर्णिम अवसर का लाभ उठाते हुए

१. कुहासे मे उगता सूरज, पृ० २७
२. अणुव्रत . गति प्रगति, पृ० १४१।

अहिंसा यदि इन समस्याओं का समाधान देती है तो उसका तेजस्वी रूप स्वय प्रतिष्ठित हो जायेगा, अन्यथा वह हतप्रभ होकर रह जायेगी ।[1]

अहिंसा को तेजस्वी और शक्तिशाली बनाए बिना उसकी प्रतिष्ठा की बात आकाश-कुसुम की भांति व्यर्थ है। इसको स्थापित करने के लिये वे भावनात्मक परिवर्तन, हृदय-परिवर्तन या मस्तिष्कीय प्रशिक्षण को अनिवार्य मानते हैं ।[2]

आचार्य तुलसी की दृष्टि मे अहिंसा की प्रतिष्ठा मे मुख्यतः चार बाधाएं है—

१. साधन-शुद्धि का अविवेक ।
२. अहिंसा के प्रति आस्था की कमी ।
३. अहिंसा के प्रयोग और प्रशिक्षण का अभाव ।
४. आत्मौपम्य भावना का ह्रास ।

अहिंसा की प्रतिष्ठा मे पहली बाधा है—साधन-शुद्धि का अविवेक। साध्य चाहे कितना ही प्रशस्त क्यो न हो, यदि साधन-शुद्ध नही है तो अहिंसा का, शाति का अवतरण नही हो सकता। क्योकि हिंसा के साधन से शाति कैसे सभव होगी ? रक्त से रंजित कपड़ा रक्त से साफ नही होगा। आचार्यश्री कहते है—"किसी भी समस्या का समाधान हिंसा, आगजनी और लूट-खसोट मे कभी हुआ नही और न ही कभी भविष्य मे होने की संभावना है।"

अहिंसा की प्रतिष्ठा मे दूसरी बाधा है—अहिंसा के प्रति आस्था की कमी। इस प्रसंग मे वे अपने अनुभव को इन शब्दो मे व्यक्त करते है—"अहिंसा की प्रतिष्ठा न होने का कारण मैं अहिंसा के प्रति होने वाली ईमानदारी की कमी को मानता हूं। लोग अहिंसा की आवाज तो अवश्य उठाते है, किन्तु वह आवाज केवल कठो से आ रही है, हृदय से नही।[3]

अहिंसा की प्रतिष्ठा में तीसरी बाधा है—अहिंसा के प्रशिक्षण का अभाव। अहिंसा की परम्परा तब तक अक्षुण्ण नही बन सकती, जब तक उसका सफल प्रयोग एवं परीक्षण न हो। अहिंसा की प्रतिष्ठा हेतु प्रयोग एव परीक्षण करने वाले शोधकर्त्ताओं के समक्ष वे निम्न प्रश्न रखते है—

- शस्त्र की ओर सबका ध्यान जाता है, पर शस्त्र बनाने और रखने वाली चेतना की खोज किस प्रकार हो सकती है ?
- अहिंसा का संबंध मानवीय वृत्तियों के साथ ही है या प्राकृतिक

---

१. अणुव्रत : गति-प्रगति, पृ० १४०
२. अमृत-संदेश, पृ०-२३
३. अणुव्रत : गति-प्रगति, पृ० १४५

वातावरण के साथ भी है ?

- आतंक या हिंसा की स्थिति को शांत करने के लिए कहीं अहिंसा का प्रयोग हुआ ?
- अहिंसा को न मारने तक ही सीमित रखा गया है अथवा उसकी जड़ें अधिक गहरी है।
- कहा जाता है कि अहिंसक व्यक्ति के सामने हिंसक व्यक्ति हिंसा को भूल जाता है, यह विश्वसनीय सचाई है या मिथ्या ही है ?
- हिंसा के विकल्प अधिक है, इसलिए उसके रास्ते भी अधिक है। अहिंसा के विकल्प और रास्ते कितने हो सकते है ?
- शस्त्र-हिंसा मे परम्परा चलती है तो फिर अशस्त्र-अहिंसा मे परम्परा क्यो नही चलती ? किसी व्यक्ति को अपने विरोध मे शस्त्र का प्रयोग करते देख प्रतिरोध की भावना जागती है इसी प्रकार अहिंसक व्यक्ति की मैत्री भावना का भी प्रभाव होता है क्या ?

इसी प्रकार के तथ्यो को सामने रखकर अहिंसा के क्षेत्र मे शोध हो तो कुछ नयी बाते प्रकाश मे आ सकती है और अहिंसा की तेजस्विता स्वत: उजागर हो सकती है।[1]

अहिंसा की प्रतिष्ठा मे चौथी बाधा आत्म-तुला की भावना का विकास न होना है। वे अपनी अनुभवपूत वाणी इस भाषा मे प्रस्तुत करते है—"अहिंसा के जगत् मे इस चिन्तन की कोई भाषा ही नही होती कि मै ही बचूगा या अतिम जीत मेरी ही हो। वहा की भाषा यही होती है—अपने अस्तित्व मे सब हो और सबके अस्तित्व का विकास हो।[2]

अहिंसा की प्रतिष्ठा के विषय मे उनके विचारो का निष्कर्ष इस भाषा में प्रस्तुत किया जा सकता है—"जब तक मस्तिष्क प्रशिक्षित नही होगा, वहा रहे हुए हिंसा के संस्कार सक्रिय रहेंगे। उन संस्कारो को निष्क्रिय किए बिना केवल सगोष्ठियो और नारो से अनत काल तक भी अहिंसा की प्रतिष्ठा नही हो सकेगी।[3] यदि अहिंसक शक्तियां सगठित होकर अहिंसा के क्षेत्र मे रिसर्च करे, अहिंसा-प्रधान जीवन-शैली का प्रशिक्षण दे और हिंसा के मुकाबले मे अहिंसा का प्रयोग करे तो निश्चित रूप से अहिंसा का वर्चस्व स्थापित हो सकता है।[4]

अहिंसा का प्रयोग

धर्मशास्त्रो मे अहिंसा की महिमा के व्याख्यान मे हजारो पृष्ठ भरे

---

१. सफर · आधी शताब्दी का, पृ० ५९

२ मेरा धर्म : केंद्र और परिधि पृ० ६५

३ अणुव्रत पाक्षिक १६ अग०, ८८

४. कुहासे में उगता सूरज पृ० २६

पड़े है। वर्तमान काल मे गांधी के बाद आचार्य तुलसी का नाम आदर से लिया जा सकता है, जिन्होने अहिंसा को प्रयोग के धरातल पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है।

यद्यपि आचार्य तुलसी पूर्ण अहिंसक जीवन जीते है, पर उनके विचार बहुत सन्तुलित एवं व्यावहारिक है। अहिंसा के प्रयोग एवं परिणाम के बारे मे उनका स्पष्ट मन्तव्य है कि दुनिया की सारी समस्याएं अहिंसा से समाहित हो जाएंगी, यह मैं नही मानता पर इसका अर्थ यह नही कि वह निर्बल है। अहिंसा में ताकत है पर उसके प्रयोग के लिए उचित एवं उपयुक्त भूमिका चाहिए। बिना उपयुक्त पात्र के अहिंसा का प्रयोग वैसे ही निष्फल हो जाएगा जैसे ऊपर भूमि मे पड़ा बीज।[1]

अहिंसा का प्रयोग क्षेत्र कहा हो ? इस प्रश्न के उत्तर मे उनका चिन्तन निश्चित ही अहिंसा के क्षेत्र मे नयी दिशाएं उद्‌घाटित करने वाला है—"मैं मानता हूं अहिंसा केवल मन्दिर, मस्जिद या गुरुद्वारा तक ही सीमित न रहे, जीवन व्यवहार मे उसका प्रयोग हो। अहिंसा का सबसे पहला प्रयोगस्थल है — व्यापारिक क्षेत्र, दूसरा क्षेत्र है राजनीति।"

वर्तमान मे अहिंसक शक्तियो के प्रयोग में ही कोई ऐसी भूल हो रही है, जो उसकी शक्तियो की अभिव्यक्ति मे अवरोध ला रही है। उसमे एक कारण है उसका केवल निषेधात्मक पक्ष प्रस्तुत करना। आचार्य तुलसी कहते हैं कि विधेयात्मक प्रस्तुति द्वारा ही अहिंसा को अधिक शक्तिशाली बनाया जा सकता है।

जो लोग अहिंसा की शक्ति को विफल मानते हैं, उनकी भ्रान्ति का निराकरण करते हुए वे कहते हैं—"आज हिंसा के पास शस्त्र है, प्रशिक्षण है, प्रेस है, प्रयोग है, प्रचार के लिए अरबों-खरबो की अर्थ-व्यवस्था है। मानव जाति ने एक स्वर से जैसा हिंसा का प्रचार किया वैसा यदि संगठित होकर अहिंसा का प्रचार किया होता तो धरती पर स्वर्ग उतर आता, मुसीबतो के बीहड मार्ग मे भव्य एव सुगम मार्ग का निर्माण हो जाता, ऐसा नही किया गया फिर अहिंसा की सफलता मे सन्देह क्यो ?[2] वे स्पष्ट शब्दो मे कहते हैं—"मैं तो अहिंसा की ही दुर्बलता मानता हू कि उसके अनुयायियो का संगठन नही हो पाया। कुछ अहिंसा-निष्ठ व्यक्तियों का संगठन मे इसलिए विश्वास नही है कि वे उसमे हिंसा का खतरा देखते है। मैं अहिंसा की वीर्यवत्ता के लिए संगठन को उपयोगी समझता हूं। हिंसा वहा है, जहा बाध्यता हो। साधना के सूत्र पर चलने वाले प्रयत्न व्यक्तिगत स्तर पर

---

१. प्रवचन पाथेय भाग-९, पृ० २६५।
२. जैन भारती, १७ सित० ६१।

जितने शुद्ध होते हैं, समूह के स्तर पर भी उतने ही शुद्ध हो सकते हैं। सामूहिक अभ्यास से उस शुद्धता मे तेजस्विता और अधिक निखर आती है।''[1]

अहिंसा को प्रायोगिक बनाने के लिए वे अपनी भावना प्रस्तुत करते हुए कहते है—''मै चाहता हूं कि एक शक्तिशाली अहिंसक सेना का निर्माण हो। वह सेना राजनीति के प्रभाव से सर्वथा अछूती रहे, यह आवश्यक है।'' मेरी दृष्टि मे इस अहिंसक सेना मे पाच तत्त्व मुख्य होगे—

१. समर्पण—अपने कर्त्तव्य के लिए जीवन की आहुति देनी पडे तो भी तैयार रहे।
२. शक्ति—परस्पर एकता हो।
३. संगठन—सगठन में इतनी दृढता हो कि एक ही आह्वान पर हजारो व्यक्ति तैयार हो जाए।
४. सेवा—एक दूसरे के प्रति निरपेक्ष न रहे।
५. अनुशासन—परेड में सैनिको की तरह चुस्त अनुशासन हो।[2]

अहिंसक क्रांति

संसार मे अन्याय, शोषण एवं अनाचार के विरुद्ध समय-समय पर क्रांतिया होती रही हैं पर उनका साधन विशुद्ध नही रहने से उनका दीर्घकालीन परिणाम सन्दिग्ध हो गया। आचार्य तुलसी स्पष्ट कहते है कि क्रांति की सफलता और स्थायित्व मैं केवल अहिंसा मे ही देखता हूं।[3] हिंसक क्राति से शाति और समता आ जाएगी, यह दुराशामात्र है। यदि आ भी जाएगी तो वह चिरस्थायी नही होगी। उसकी तह मे अशांति और वैमनस्य की ज्वाला धधकती रहेगी।[4] अहिसक क्रांति से उनका तात्पर्य है विना कोई रक्तपात, हिंसा, युद्ध और शस्त्रास्त्र के सहयोग से होने वाली क्रांति। उनका यह अटूट विश्वास है कि भौतिक साधनो से नही, अपितु प्रेम की शक्ति से ही अहिंसक क्राति सम्भव है। अहिंसक क्रांति के सफल न होने का सबसे बड़ा कारण वे मानते हैं कि हिंसात्मक क्राति करने वालो की तोड-फोड के साधनो मे जितनी श्रद्धा होती है, उतनी श्रद्धा अहिसात्मक क्राति वालो को अपने शाति-साधनो मे नही होती।······ अहिंसात्मक क्राति को सफल होना है तो उसमे प्रतिरोधात्मक शक्ति पैदा करनी होगी।[5] इस दृढ निष्ठा से ही अहिसा तेजस्वी एवं सफल हो सकती है।

---

१ अणुव्रत गति प्रगति, पृ० १५५।
२. एक बूद : एक सागर, पृ० १७३४।
३. बेगलोर १६-९-६९ के प्रवचन से उद्धृत।
४. प्रवचन पाथेय भाग-९, पृ० २६५।
५ गृहस्थ को भी अधिकार है धर्म करने का, पृ० २५।

अहिंसा का सामाजिक स्वरूप

अहिसा कोई नारा नही, अपितु जीवन का शाश्वत दर्शन है। समय की आधी इसे कुछ धूमिल कर सकती है पर समाप्त नही कर सकती।[1] अहिसा केवल मोक्ष प्राप्ति के लिए ही नही, अपितु सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे इसकी उपयोगिता निर्विवाद है। आचार्य तुलसी के अनुसार अहिसा वह सुरक्षा कवच है, जो घृणा, वैमनस्य, प्रतिशोध, भय, आसक्ति आदि घातक अस्त्रो के प्रहार को निरस्त कर देता है तथा समाज मे शांति, सह-अस्तित्व एवं मैत्रीपूर्ण वातावरण वनाए रख सकता है। वे मानते हैं अहिसा का पथ जटिल एव ककरीला हो सकता है पर महान् वनने हेतु इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नही है। अहिसा ही वह शक्ति है, जो समाज मे मानव को पशु वनने से रोके हुए है।[2]

आचार्य तुलसी ने अहिसा को समाज के साथ जोड़कर उसे जन-आन्दोलन या क्राति का रूप देने का प्रयत्न किया है। अहिसा के सन्दर्भ में नैतिकता को व्याख्यायित करते हुए वे कहते हैं—"अहिसा का सामाजिक जीवन मे प्रयोग ही नैतिकता है। जिसमे दूसरों के प्रति मैत्री का भाव नही होता, करुणा की वृत्ति नही होती और दूसरो के कष्ट को अनुभव करने का मानस नही होता, वह नैतिक कैसे वन सकता है ?[3]

अहिसा को सामाजिक सन्दर्भ मे व्याख्यायित करते हुए वे कहते है--दूसरो की सम्पत्ति, ऐश्वर्य और सत्ता देखकर मुंह मे पानी नही भर आता, यह अहिसा का ही प्रभाव है। "अहिसा के द्वारा जीवन की आवश्यकताएं पूरी नही होती, इसलिए वह असफल है—चिन्तन की यह रेखा भूल भरे विन्दुओ से वनी है और वनती जा रही है।" समाज के सन्दर्भ में अहिसा की उपयोगिता स्पष्ट करते हुए उनका मन्तव्य है—व्यक्ति निरंकुश न हो, उसकी महत्त्वाकांक्षाएं दूसरो को हीन न समझे, उसकी प्रतिस्पर्धाए समाज मे सघर्ष न करें—इन सव दृष्टियो से अहिसा का सामाजिक विकास होना आवश्यक है।[4]

अहिसा और समाज के सन्दर्भ मे प्रतिप्रश्न उठाकर वे सामाजिक प्राणी के लिये अहिसा की सीमारेखा या इयत्ता को स्पष्ट करते हुए कहते है —"सामाजिक प्राणी के लिये यह कैसे सम्भव हो सकता है कि वह खेती, व्यवसाय या अर्जन न करे और यह भी कैसे सम्भव है कि वह अपने अधिकृत

---

१. कुहासे मे उगता सूरज, पृ० १४।

२ प्रवचन डायरी, पृ० २३।

३. गृहस्थ को भी अधिकार है धर्म करने का, पृ० ९।

४. गृहस्थ को भी अधिकार है धर्म करने का, पृ० ११।

पदार्थो या अधिकारो की सुरक्षा न करे। अर्थ और पदार्थ का अर्जन और सरक्षण हिसा के बिना नही हो सकता। ""इस सन्दर्भ मे महावीर ने विवेक दिया तुम अहिसा का प्रारभ उस विन्दु पर करो, जहा तुम्हारे जीवन की अनिवार्यताओं मे भी वाधा न आए और तुम क्रूर व आक्रामक भी न वनो।[1] इस दृष्टिकोण से प्रत्येक सामाजिक प्राणी समाज मे रहते हुए अहिंसा का पालन कर सकता है तथा इस व्यावहारिक दृष्टिकोण से उसकी सामाजिकता मे भी कही अन्तर नही आता।

आचार्य तुलसी एक सामाजिक प्राणी के लिए मध्यम मार्ग प्रस्तुत करते हुए कहते है—"हिसा जीवन की अनिवार्यता है और अहिसा पवित्र जीवन की अनिवार्यता। हिसा जीवन चलाने का साधन है और अहिसा आदर्श तक पहुंचने या लक्ष्य को पाने का साधन है।""हिंसा जीवन की शैली वन जाए, यह खतरनाक विंदु है।"[2]

अहिंसक समाज रचना आचार्य तुलसी का चिरपालित स्वप्न है। इस दिशा मे अणुव्रत के माध्यम से वे पिछले पचास सालो से अनवरत कार्य कर रहे है। २२ अप्रैल १९५० दिल्ली मे पत्रकारो के वीच एक वार्ता मे आचार्य तुलसी ओजस्वी वाणी मे अपनी अन्तर्भावना प्रकट करते है—"मै सामूहिक अशाति को जन्म देने वाली हिंसा को मिटाकर अहिसा प्रधान समाज का निर्माण करना चाहता हू। उसकी आधारशिला मे निम्न नियम कार्यकारी वन सकते है—

- जाति, धर्म, सम्प्रदाय, वर्ण आदि का भेद होने के कारण किसी मानव की हत्या न करना।
- दूसरे समाज या राष्ट्र पर आक्रमण न करना।
- निरपराध व्यक्ति को नही मारना, सव प्राणियो के प्रति आत्मौपम्य भाव का विकास।
- जीवन-यापन के लिए आवश्यक सामग्री के अतिरिक्त अन्य वस्तुओ का सग्रह न करना।
- मद्यपान और मासाहार नही करना।
- रक्षात्मक युद्ध मे भी शत्रुपक्षीय नागरिको की हत्या न करना।
- वडप्पन की भावना का अन्त करना, किसी के अधिकार का हनन न करना।
- व्यभिचार न करना।[3]

---

१ एक बूद . एक सागर, पृ० २७८।
२ सफर . आधी शताब्दी का, पृ० ५७
३ २१ अप्रैल ५०, दिल्ली, पत्रकार वार्ता।

इसके साथ ही वे अहिंसक समाज की प्रतिष्ठा मे निम्न प्रवृत्तियो का होना आवश्यक मानते है—

१. वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की पुनर्रचना—वर्तमान शिक्षा प्रणाली मे बुद्धि-पाटव और तर्कशक्ति का विकास हो रहा है पर चरित्र-शील व्यक्ति पैदा नही हो रहे है।

२. संयमी एवं त्यागी पुरुपो को महत्त्व देना। सत्ताधारी एवं पूजीपतियो को महत्त्व देने का अर्थ है—जन-साधारण को पूजी एव सत्ता के लिए लोलुप वनाना। संयम को प्रधानता देने से पूजीपति भी संयम की ओर अग्रसर होंगे। जहां सयम होगा, वहां हिंसा नही हो सकती।

३. इच्छाओ का अल्पीकरण—"आज आर्थिक असमानता चरम सीमा पर है। कोई धनकुवेर धन का अंवार लगा रहा है तो उसका पड़ोसी भूख से मर रहा है। यह असमानता हिंसा को जन्म दे रही है। इसे मिटाये विना समाज में अहिसा का विकास कम सम्भव है।"[1]

इस स्थिति मे परिवर्तन के लिए आचार्य तुलसी का सुझाव है कि व्यक्ति, आर्थिक व्यवस्था और सामाजिक व्यवस्था—इन तीनों मे सापेक्ष और सतुलित परिवर्तन हो, तभी स्वस्थ समाज या अहिंसक समाज की परिकल्पना की जा सकती है।

आचार्य तुलसी का दृढ विश्वास है कि समाज की अनेक कठिन समस्या का हल अहिसा द्वारा खोजा जा सकता है। पर उसके लिये हिंसा के स्थान पर अहिंसा, शस्त्र-प्रयोग के स्थान पर निःशस्त्रीकरण तथा क्रूरता की तुलना मे करुणा का मूल्याकन करना होगा।[2]

वैचारिक अहिंसा

महावीर ने वैचारिक एव मानसिक हिंसा को प्राण-वियोजन से भी अधिक घातक माना है। इस सन्दर्भ मे आचार्य तुलसी का मन्तव्य है कि प्राणी की हत्या करने वाला शायद उसी की हत्या करता है पर विचारो की हत्या करने वाला न जाने कितने प्राणियो की हत्या का हेतु वन जाता है।[3] अपने एक प्रवचन मे आश्चर्य व्यक्त करते हुए वे कहते हैं—"व्यक्ति धन के लिए लड़ सकता है, पत्नी के लिए भी संघर्प कर सकता है, यह सम्भव है। पर विचारो के लिए लडे, वडे-वड़े महायुद्ध करे, लाखों व्यक्तियो के खून

१ ५ अगस्त ७०, पत्रकार वार्ता, रायपुर।

२. अमृत सन्देश, पृ० ४५।

३. गृहस्थ को भी अधिकार है धर्म करने का, पृ० १७।

से होली खेले. यह तो आश्चर्यचकित करने वाली वात है ।[1]

वैचारिक हिंसा को स्पष्ट करते हुए उनका कहना है—"किसी की असत् आलोचना करना, किसी के विचारो को तोड-मरोड़कर रखना, आक्षेप लगाना, किसी के उत्कर्ष को सहन न करके उसके प्रति घृणा का प्रचार करना तथा अपने विचारो को ही प्रमुखता देना वैचारिक हिंसा है ।[2] इसी सन्दर्भ मे उनका निम्न वक्तव्य भी वजनदार है—"घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य, वासना और दुराग्रह—ये सव जीवन मे पलते रहें और अहिंसा भी सधती रहे, यह कभी सम्भव नही है ।"[3]

आज की वढती हुई वैचारिक हिंसा का कारण स्पष्ट करते हुए वे कहते है—"वैचारिक हिंसा मे प्रत्यक्ष जीवघात न होने से वह जन-साधारण के बुद्धिगम्य नही हो सकी । यही कारण है कि आज लोग जितना जीव मारने से घवराते है, उतना परस्पर विरोध, अप्रामाणिकता, ईर्ष्या, क्रोध, स्वार्थ आदि से नही घवराते ।[4]

महावीर ने अनेकात के द्वारा वैचारिक अहिंसा को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया । अनेकात के माध्यम से उन्होने मानव जाति को प्रतिवोध दिया कि स्वयं को समझने के साथ दूसरो को भी समझने की चेष्टा करो । अनेकात के विना सम्पूर्ण सत्य का साक्षात्कार नही किया जा सकता । आचार्य तुलसी ने न केवल उपदेश से वल्कि अपने जीवन के सैकडो घटना प्रसंगो से वैचारिक अहिसा का सक्रिय प्रशिक्षण भारतीय जनमानस को दिया है ।

सन् १९६२ के आसपास की घटना है । अणुव्रत गोष्ठी के कार्यक्रम मे नगर के लव्धप्रतिष्ठ वकील को भी अपने विचार व्यक्त करने के लिए निमत्रित किया गया । उन्होने वक्तव्य मे अणुव्रत के सम्वन्ध मे कुछ जिज्ञासाए एव शकाएं उपस्थित की । उन्हें सुनकर अनेक श्रद्धालुओ ने उनको उपालम्भ दे डाला । शाम को कार्यक्रम की समाप्ति पर वकील साहव ने अपने प्रातः-कालीन वक्तव्य के लिए क्षमायाचना करने की इच्छा व्यक्त की । इसे सुनकर आचार्यश्री ने कहा—"आपके विचार तो वडे प्राञ्जल और प्रभावोत्पादक थे । मैने वहुत ध्यान से आपकी वात सुनी है । मै तो आपके विचारों की सराहना करता हू कि कोई समीक्षक हमे मिला तो सही ।"[5] आचार्यवर के इन उदार विचारो को सुनकर वकील साहव अभिभूत हो गए और वोले—

---

१. प्रवचन पाथेय भाग-९, पृ० ५१ ।
२. पथ और पाथेय, पृ० ३२,३३ ।
३ गृहस्थ को भी अधिकार है धर्म करने का, पृ० १५ ।
४. पथ और पाथेय, पृ० ३३ ।
५ जैन भारती, २५ फरवरी १९६२ ।

"अपने से विरोधी विचारों को सुनना, पचा लेना, एवं ग्राह्य की प्रशंसा करना—यह कार्य आचार्य तुलसी जैसे महान् व्यक्ति ही कर सकते है। सचमुच आप स्वस्थ विचार एवं स्वस्थ मस्तिष्क के धनी है।"

अहिंसात्मक प्रतिरोध

प्रतिरोध हिंसात्मक भी होता है और अहिंसात्मक भी। हिंसात्मक प्रतिरोध क्षणिक होता है किन्तु अहिंसात्मक प्रतिरोध का प्रभाव स्थायी होता है। महावीर ने प्रतिरोधात्मक अहिंसा का प्रयोग दासप्रथा के विरोध मे किया। उसी कडी मे गांधीजी ने भी इसका प्रयोग सत्याग्रह आदोलन के रूप में किया, जो काफी अंशो मे सफल हुआ।

आचार्य तुलसी अपने दीर्घकालीन नेतृत्व के अनुभवो को वताते हुए कहते है—"जन-जन के लिए अहिसा तभी व्यवहार्य और ग्राह्य हो सकती है, जब उसमे प्रतिरोध की शक्ति आए। इसके विना अहिसा तेजहीन हो जाती है। निर्वीर्य अहिसा मे आज के युग की आस्था नही हो सकती।"[1]

जव तक प्रतिरोधात्मक शक्ति जागृत नही होती, व्यक्ति अन्याय के विरोध मे आवाज नही उठा सकता। इसी वात पर टिप्पणी करते हुये वे कहते हैं—"समाज या परिवार में जो कुछ भी गलत घटित होता है, उस समय यदि आप यह सोचे कि उससे आपका क्या विगाडता है? वुराई के प्रति यह निरपेक्षता या तटस्थता वहुत घातक सिद्ध हो सकती है। इसलिए अपने भीतर सोई प्रतिवाद की शक्ति को जागृत करना वड़ा जरूरी है। इससे अहिंसा का वर्चस्व वढ़ेगा और समाज में वुराइयों का अनुपात कम होगा।[2]

आचार्य तुलसी मानते है कि तटस्थता और विनम्रता अहिंसात्मक प्रतिरोध के आधार स्तम्भ हैं। उनकी दृष्टि मे किसी भी विचार के प्रति पूर्वाग्रह या अहंभाव टिक नही सकता। पक्ष विशेष से वन्धकर प्रतिरोध की वात करना स्वयं हिंसा है। वहा अहिंसात्मक प्रतिरोध सफल नही होता।[3]

प्रतिरोध करने वाले व्यक्ति की चारित्रिक विशेपताओ के वारे मे उनका मन्तव्य है कि अहिसात्मक प्रतिकार के लिए व्यक्ति मे सवसे पहले असाधारण साहस होना नितात अपेक्षित है। साधारण साहस हिंसा की आग देखकर काप उठता है। जहा मन मे कम्पन होता है, वहां स्थिति का समाधान हिंसा मे दिखाई पडता है। दर्शन का यह मिथ्यात्व व्यक्ति को हिंसा की प्रेरणा देता है। हिंसा और प्रतिहिंसा की यह परम्परा वरावर चलती रहती है। इस परंपरा का अन्त करने के लिये व्यक्ति को सहिष्णु वनना पडता है।

---

१. अतीत का विसर्जन : अनागत का स्वागत, पृ० १३३।
२. वीती ताहि विसारि दे, पृ० १११।
३. अणुव्रत : गति प्रगति, पृ० १५६।

सहिष्णुता के अभाव मे मानसिक सन्तुलन विगड़ जाता है। मन सन्तुलित न हो तो अहिंसात्मक प्रतिकार की वात समझ मे नही आती, इसलिये वैचारिक सहिष्णुता की वहुत अपेक्षा रहती है।[1]

मृत्यु से डरने वाला तथा कष्ट से घवराने वाला व्यक्ति थोडी-सी यातना की सम्भावना से ही विचलित हो जाता है। ऐसे व्यक्ति हिंसात्मक परिस्थिति के सामने घुटने टेक देते है। इस विषय मे आचार्य तुलसी का अभिमत है—"जो व्यक्ति कष्टसहिष्णु होते है, वे विपम स्थिति मे भी अन्याय और असत्य के सामने झुकने की वात नही सोचते। ऐसे व्यक्ति अहिंसात्मक प्रतिकार मे अधिक सफल होते है। उनकी कष्ट-सहिष्णुता इतनी वढ जाती है कि वे मृत्यु तक का वरण करने के लिये सदा उद्यत रहते है। जिन व्यक्तियों को मृत्यु का भय नही होता, वे सत्य की सुरक्षा के लिए सव-कुछ कर सकते है। प्रतिरोधात्मक अहिंसा का प्रयोग इन्ही व्यक्तियो द्वारा किया जाता है।[2]

कुछ व्यक्ति हडताल, घेराव आदि साधनो को अहिंसात्मक प्रतिकार के रूप मे स्वीकार करते है किन्तु इस विषय मे आचार्य तुलसी का दृष्टि-कोण कुछ भिन्न है। वे स्पष्ट कहते है—"घेराव में हिंसात्मक उपकरणों का सहारा नही लिया जाता, यह ठीक है, फिर भी वह अहिसा का साधन नही हो सकता, क्योकि इसमे उत्सर्ग की भावना विलुप्त है। अपनी शक्ति से किसी को वाध्य करना अहिंसा नही हो सकती क्योकि वाध्यता स्वय हिंसा है। इस प्रकार सविनय अवज्ञा आन्दोलन, सत्याग्रह, घेराव आदि साधनो की भूमिका मे विशुद्धता, तटस्थ दृष्टिकोण, देशकाल और परिस्थितियो का सही विचार और आत्मोत्सर्ग की भावना निहित हो तो मै समझता हू कि अहिंसा को इन्हे स्वीकार करने मे कोई सकोच नही होता।"

इस कथन का तात्पर्य यह है कि अन्याय से अन्याय को परास्त करना दुर्वलता है तथा अन्याय को स्वीकार करना भी वहुत वडी कायरता और हिंसा है। उनका अपना अनुभव है कि यदि माग मे औचित्य है तो उसे स्वीकार करने मे कोई वाधा नही रहनी चाहिए अन्यथा हिसा के सामने झुकना सिद्धात की हत्या करना है।" सद्भावना, मैत्री, प्रेम, करुणा की वृत्ति से हिसा को पराजित किया जा सकता है। वलप्रयोग, दवाव या वाध्यता चाहे अहिंसात्मक ही क्यो न हो, उसमे सूक्ष्म हिंसा का भाव रहता है। अहिंसात्मक प्रतिरोध की शक्ति वलिदान की भावना तथा अभय की साधना से ही सफल हो सकती है। क्योकि स्वय हिंसा भी वलिदान के

---

१. अणुव्रत के आलोक मे, पृ० ५०

२. अणुव्रत के आलोक मे, पृ० ५०।

अभाव में सफल नही हो सकती। अतः अहिंसात्मक प्रतिरोध हेतु ईमानदार और बलिदानी व्यक्तियों की आवश्यकता है अन्यथा उसकी आवाज का मूल्य अरण्य रोदन से अधिक नही होगा।

अनुशास्ता होने के कारण आचार्य तुलसी ने अपने जीवन मे अहिंसात्मक प्रतिरोध के अनेक प्रयोग किए, जो सफल रहे। कलकत्ता की धार्मिक सभाओ मे मनोमालिन्य चरम सीमा पर पहुंच गया। जयपुर चातुर्मास के दौरान आचार्य तुलसी ने एकासन तप प्रारम्भ कर दिया, साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया कि मैंने जो संकल्प किया है, वह दबाव डालने हेतु नही है। मैं दबाव को हिंसा मानता हूं। यदि इससे भी हृदय परिवर्तन नही हुआ, तो मैं और भी तगड़ा कदम उठा सकता हूं।"[1] आचार्यश्री के इस अहिंसात्मक प्रतिरोध से पारस्परिक सौहार्द एवं सामंजस्य का सुन्दर वातावरण निर्मित हुआ और उलझी हुई गुत्थी को एक समाधायक दिशा मिल गई।

अहिंसा सार्वभौम

द्वितीय विश्व युद्ध की विभीषिका से त्रस्त होकर अहिंसा और शांति के क्षेत्र में कार्य करने वाली कुछ अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं का उदय हुआ। जैसे संयुक्त राष्ट्र संघ, इन्स्टीट्यूट फोर पीस एण्ड जस्टीस, इंटरनेशनल पीस रिसर्च. कोपरेशन फोर पीस तथा गांधी शांति सेना आदि। इसी परम्परा मे आचार्य तुलसी ने अणुव्रत आंदोलन के अन्तर्गत 'अहिंसा सार्वभौम' की स्थापना करके अहिंसा के इतिहास मे एक नयी कड़ी जोड़ने का प्रयत्न किया है। उन्होंने अहिंसा का ऐसा सर्वमान्य मंच उपस्थित किया है, जहां से अहिंसा की आवाज दिगन्तों तक पहुच सकती है।

एक ओर मनुष्य की शांति प्राप्त करने की चाह तो दूसरी ओर घातक परमाणु अस्त्रों का निर्माण—इस विसंगति को तोड़कर अहिंसा को प्रयोग से जोड़ने एवं उसके प्रति आस्था निर्मित करने में अहिंसा सार्वभौम ने अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। प्रसिद्ध साहित्यकार जैनेंद्रजी आदि अनेक विद्वान् इस कार्यक्रम के साथ जुड़े। आचार्य तुलसी अहिंसा सार्वभौम को एक बहुत बड़ी क्रांति मानते हैं। इसकी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं—"अहिंसा सार्वभौम में अहिंसा के गुणगान नही हैं, अहिंसा की परिभाषा नही है, अहिंसा की व्याख्या नही है, इसमे है अहिंसा का अनुशीलन, शोध और उसके प्रयोग। प्रायोगिक होने के कारण यह एक वैज्ञानिक प्रस्थापना है।[2]

'राजस्थान विद्यापीठ' उदयपुर के संस्थापक जनार्दन राय नागर ने

---

१. जैन भारती, २८ दिसम्बर, १९७५

२. सफर : आधी शताब्दी का, पृ० ६१।

इस नए अभियान के प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा— "आज की विषम परिस्थितियो मे आवश्यक है कि अहिसा का स्वर उठे, लोक-चेतना जागे और हिसा के विरुद्ध लोकशक्ति अपना मार्ग प्रशस्त करे। अहिसा सार्वभौम इसी का प्रतीक है। गाधीजी के बाद अहिसा के क्षेत्र मे आचार्य तुलसी द्वारा महत्त्वपूर्ण कार्य हो रहा है। आचार्य तुलसी मजहब से दूर भारतीय सस्कृति को एक शुद्ध, ठोस एव आध्यात्मिक आधार प्रदान कर रहे है।"

अहिसा सार्वभौम की एक अतरग परिषद् को सम्बोधित करते हुए आचार्य तुलसी इसका उद्देश्य स्पष्ट करते हुए कहते है—"मेरा यह निश्चित अभिमत है कि ससार मे हिंसा थी, है और रहेगी। हिसा की तरह अहिसा का भी त्रैकालिक अस्तित्व है। हिंसा की प्रबलता देखकर अहिंसा की निष्ठा शिथिल हो जाए या समाप्त हो जाए, यह चिन्तन का विषय है। हिंसा का पलडा अहिसा से भारी न हो, ऐसी जागरूकता रखनी है। यह काम निराशा और कुण्ठा के वातावरण मे नही होगा। प्रसन्नता, उत्साह और लगन के साथ काम करना है, अहिसा की शक्ति को उजागर करना है। अहिसा सार्वभौम की सफलता का पहला कदम यही होगा।[1]

अहिसा और वीरता

आचार्य तुलसी कहते है—"अहिसा का पथ तलवार की धार से भी अधिक तीक्ष्ण है। इस स्थिति मे कोई भी कायर और दुर्बल व्यक्ति इस पर चलने का साहस कैसे कर सकता है?[2]

कुछ लोग अहिसा का सम्बन्ध कायरता से जोडते हुए कहते है— जैनधर्म की अहिसा ने हमे कायर बना दिया है। इस प्रश्न के उत्तर मे आचार्य तुलसी का स्पष्ट मन्तव्य है—"कायरता अहिसा का अंचल तक नही छू सकती। सोने के थाल बिना सिहनी का दूध कहा रह सकता है? उसी प्रकार अहिसा का वास वीर हृदय को छोडकर अन्यत्र असम्भव है। यह अटल सत्य है। अहिसा और कायरता का वही सम्बन्ध है, जो ३६ के अको मे तीन और छ. का है।"[3] अहिसा तो साहस और पुरुषार्थ का पर्याय है। वह कभी नही कहती कि हम अपनी सुरक्षा ही न करे। जिस प्रकार भय दिखाना हिंसा है, उसी तरह भयभीत होना भी हिंसा ही है।[4] जो लोग स्वय की कमजोरी पर आवरण डालने के लिये अहिंसा का सहारा लेते है, ऐसे तथाकथित

---

१ अमरित बरसा अरावली मे, पृ० २८१।

२ एक बूद : एक सागर, पृ० २७३।

३. शाति के पथ पर, पृ० ५७।

४. २५-४-६५ के प्रवचन से उद्धृत।

अहिंसक ही अहिंसा को कमजोर बनाते हैं।" वे मानते है--"अहिंसा व्यक्ति या समाज को कमजोर बनाती है—यह भ्रम इसलिये उत्पन्न हुआ कि सही अर्थ मे अहिंसा मे विश्वास रखने वाले धार्मिकों ने अपनी दुर्बलता को अहिंसा की ओट मे पाला-पोसा। इसी बात को वे व्यग्यात्मक भाषा मे प्रस्तुत करते है-- "शेर के सामने खरगोश कहे कि मै अहिंसक हू, इसलिए तुमको नही मारता तो क्या वह अहिंसक हो सकता है ?[1] इसी सन्दर्भ मे उनकी दूसरी टिप्पणी भी महत्त्वपूर्ण है---"मै कायरता को अहिंसा नही मानता। डर से छुपने वाला यदि अपने को अहिंसक कहे तो मै उसे प्रथम दर्जे की कायरता कहूगा। वह दूसरो को क्या मारे जो स्वयं ही मरा हुआ है।"[2] आचार्य तुलसी अहिंसक को शक्ति सम्पन्न होना अनिवार्य मानते है अतः खुले शब्दो मे आह्वान करते है —"जिस दिन अहिंसक मौत से नही घबराएगा। वह दिन हिंसा की मौत का दिन होगा। हिंसा स्वतः घबराकर पीछे हट जायेगी और अपनी हार स्वीकार कर लेगी।"[3]

लोकतंत्र और अहिंसा

"लोकतंत्र से अहिंसा निकल गयी तो वह केवल अस्थिपंजर मात्र बचा रहेगा"—आचार्य तुलसी की यह उक्ति राजनीति मे अहिंसा की महत्ता को प्रतिष्ठित करती है। अहिंसा को तेजस्वी और वर्चस्वी बनाने हेतु उनका चिन्तन है कि एक शक्तिशाली अहिंसक दल का निर्माण किया जाए, जो राजनीति के प्रभाव से सर्वथा अछूता रहे पर राजनीति को समय-समय पर मार्गदर्शन देता रहे।

हिंसा मे विश्वास रखने वाले राजनीतिज्ञो को वे चेतावनी देते हुए कहते है—"मै राजनीतिज्ञो को एक चेतावनी देता हू कि हिंसात्मक क्रांति ही सब समस्याओ का समुचित समाधान है वे इस भ्रांति को निकाल फेंके। अन्यथा स्वयं उन्हे कटु परिणाम भोगना होगा। हिंसक क्रांतियों से उच्छृंखलता का प्रसार होता है। आज के हिंसक से कल का हिंसक अधिक क्रूर होगा, फिर कैसे शाति रह सकेगी ?[4]

लोकतंत्र अहिंसा का प्रतिरूप होता है, क्योंकि उसमें व्यक्ति स्वातत्र्य को स्थान है। पर आज की बढ़ती हिंसा से वे अत्यत चिंतित ही नही, आश्चर्यचकित भी है—"दिन है और अंधकार है—इस उक्ति मे जितना

१ एक बूद : एक सागर, पृ० २५२।
२. एक बूद : एक सागर, पृ० २७४।
३. पथ और पाथेय, पृ० ३६।
४. जैन भारती, ३१ मार्च १९६८।

अन्तर्विरोध है, उतना ही अर्तविरोध इस स्थिति मे है कि लोकतंत्र है और हिसा की प्रवलता है।" अभय, समानता, स्वतत्रता, सहानुभूति आदि तत्त्व लोकतत्र को जीवित रखते है। लोकतत्र मे अहिंसा के विकास की सर्वाधिक सम्भावनाए होती है। यदि लोकतंत्र मे अच्छाइयो का विकास न हो तो इससे अधिक आश्चर्य की वात क्या होगी ?[1]

अहिसक लोकतत्र की कल्पना गाधीजी ने रामराज्य के रूप मे की पर वह साकार नही हो सकी क्योकि गाधीवाद के सिद्धातो एवं आदर्शों ने वाद का रूप तो धारण कर लिया पर उनका जीवन मे सक्रिय प्रशिक्षण नही हो सका। आचार्य तुलसी ने अहिसक जनतत्र की कल्पना प्रस्तुत की है, उसके मुख्य विदु निम्न हैं—

१ व्यक्ति स्वातत्र्य का विकास।
२. मानवीय एकता का समर्थन।
३ शातिपूर्ण सह-अस्तित्व।
४. शोषण मुक्त व नैतिक समाज की रचना।
५ अतर्राष्ट्रीय नैतिक मूल्यो की प्रतिष्ठापना।
६. सार्वदेशिक निःशस्त्रीकरण के सामूहिक प्रयत्न।
७. मैत्री व शाति सगठनो की सार्वदेशिक एकसूत्रता।[2]

अहिंसा और युद्ध

युद्ध की विभीपिका का इतिहास अति-प्राचीन है। प्राचीनकाल से ही आवेश की क्रियान्विति युद्ध के रूप मे होती रही है। जिस देश मे युद्ध के प्रसग जितने अधिक उपस्थित होते थे, वह देश उतना ही अधिक शौर्य सम्पन्न समझा जाता था। युद्ध के वारे मे किए गए एक सर्वेक्षण के अनुसार ईसा पूर्व ३६०० वर्प से लेकर आज तक मानव जाति कुल २९२ वर्प ही शाति से रह सकी है। इस वीच छोटे वडे १४५१४ युद्ध लडे गए। उन युद्धो मे तीन अरव से भी अधिक लोगो को अपने प्राणो की आहुति देनी पडी।

वर्तमान युग के नाभिकीय एवं अणु रासायनिक युद्ध का परिणाम विजेता और विजित दोनो राष्ट्रो को सदियो तक समान रूप से भोगना पडता है। युद्ध भौतिक हानि के अतिरिक्त मानवता के अपाहिज और विकलाग होने मे भी वहुत वडा कारण है।[3] इससे पर्यावरण इतना प्रदूषित हो जाता है कि सालो तक व्यक्ति शुद्ध सास और भोजन भी प्राप्त नही कर सकता। वैज्ञानिक इस वात की घोपणा कर चुके है कि भविष्य मे युद्ध मे

१. अतीत का विसर्जन . अनागत का स्वागत, पृ० ११७।
२ जैन भारती, २८ दिस० १९६५।
३. अणुव्रत, १ दिस० १९५६।

प्रत्यक्ष रूप मे भाग लेने वाले कम और दुष्परिणामो का शिकार वनने वाले संसार के सभी प्राणी होगे। युद्ध के भयावह परिणामो की उद्घोषणा करते हुए आचार्य तुलसी का कहना है—"युद्ध वह आग है, जिसमें साहित्यकारो का साहित्य, कलाकारो की कला, वैज्ञानिको का विज्ञान, राजनीतिज्ञो की राजनीति और भूमि की उर्वरता भस्मसात् हो जाती है।"[१] इसी सन्दर्भ मे उनके काव्य की निम्न पंक्तिया भी पठनीय है—

साथ उनके हो गई कितनी कलाए लुप्त है।
युद्ध से उत्पन्न क्षति भी क्या किसी से गुप्त है।
देखते ही अमित जन-धन का हुआ संहार है।
हाय ! फिर भी रक्त की प्यासी खड़ी तलवार है ॥[२]

वैयक्तिक अहकार, सत्ता की महत्त्वाकांक्षा, स्वार्थ तथा स्वयं को शक्तिशाली सिद्ध करने की इच्छा आदि युद्ध के मूल कारण है। आचार्य तुलसी मानते है कि युद्ध मूलतः असन्तुलित व्यक्ति के दिमाग में उत्पन्न होता है।[3] युद्ध और अहिसा के बारे मे भारतीय मनीषियो ने गहन चितन किया है। भारत-पाक युद्ध के समय रामधारीसिंह दिनकर आचार्य तुलसी के पास आकर बोले– "आचार्यजी ! आप न तो युद्ध को अच्छा समझते है, न समर्थन करते है और न ही युद्ध मे भाग लेने हेतु अनुयायियो को आदेश देते है। देश के ऊपर आए ऐसे सकट के समय मे आपकी अहिसा क्या कहती है ? आचार्य तुलसी ने इस प्रश्न का सटीक एवं सामयिक उत्तर देते हुए कहा— "मै युद्ध को न अच्छा मानता हू और न समर्थन ही करता हू—यहा तक इस कथन मे अवश्य सचाई है किन्तु युद्ध मे भाग लेने का निषेध करता हू, यह कहना सही नही है। क्योकि जब तक समाज के साथ परिग्रह जुड़ा हुआ है, मै हिंसा और युद्ध की अनिवार्यता देखता हूं। परिग्रह के साथ लिप्सा का गठबधन होता है। लिप्सा भय को जन्म देती है और भय निश्चित रूप से हिसा और संघर्ष को आमत्रण देता है। समाज मे जीने वाला और समाज की सुरक्षा का दायित्व ओढने वाला आदमी युद्ध के अनिवार्य कारणो को देखता हुआ भी नकारने का प्रयत्न करे—इसे मैं खण्डित मान्यता मानता हूं।"[४]

युद्ध की परिस्थिति अनिवार्य होने पर समाज के कर्त्तव्य का स्पष्टीकरण करते हुए उनका निम्न कथन न केवल चौकाने वाला, अपितु करणीय की ओर यथार्थ इंगित करने वाला है—"जहा व्यक्ति युद्ध के मैदान से भागता

---

१. एक बूद : एक सागर, पृ० ११४२।
२. भरतमुक्ति, पृ० १००
३. जैन भारती, १८ अग० १९६८।
४. अणुव्रत : गति प्रगति पृ० १४७।

है, समाज पर आई कठिन घडियो के समय घरो मे छिपकर अ' नी
बचाने का उपाय करता है, वहा भले ही वह स्थूल रूप से हिसा से व
है किंतु सूक्ष्मता से और गहरे मे वह हिसक ही है। वहां हिंसा ही हो
अहिसा नही। क्योकि जहा व्यक्ति प्राणो के व्यामोह से अपनी जान
फिरता है, वहां कायरता है, भय है, मोह है, इसलिए हिंसा है।
मारना भी हिसा है, भागना भी हिसा है, किंतु जहा व्यक्ति सर्वथा अ
निर्भय है, वहा अहिसा है।"[1]

इसी सन्दर्भ में उनकी दूसरी टिप्पणी भी मननीय है—"व्यक्ति
मे जीता है अतः समाज और राष्ट्र की सुरक्षा का दायित्व ओढ़ने व
व्यक्ति युद्ध के अनिवार्य कारणो को देखता हुआ भी उसे नकार नही सक
जहा युद्ध की स्थिति को टाला न जा सके वहा अहिसा का अर्थ यह नही
कायरतापूर्वक युद्ध के मैदान से भागा जाए।"[2] साथ ही वे यह भी स्पष्ट क
है कि राष्ट्रीय सुरक्षा हेतु युद्ध अनिवार्य हो सकता है, एक सामाजिक
उससे विमुख नही हो सकता पर युद्ध मे होने वाली हिसा को अहिसा
कोटि मे नही रखा जा सकता। अनिवार्य हिंसा भी अहिसा नही
सकती।"

युद्ध की स्थिति मे भी अहिसा को जीवित रखा जा सकता है, हिसा
अल्पीकरण हो सकता है—इस बारे मे आचार्य तुलसी ने पर्याप्त चिंतन कय
है। वे कहते है—"युद्ध मे होने वाली हिसा को अहिसा नही माना ज
सकता किंतु उसमे अहिसा के लिए बहुत बडा क्षेत्र खुला है। जैसे—ज क्रात
न बने, निरपराध को न मारे, अपाहिजो के प्रति क्रूर व्यवहार न करे,
अस्पताल, धर्मस्थान, स्कूल, कालेज आदि पर आक्रमण न करे, आबादी वाले
स्थानो पर बमबारी न करे आदि नियम युद्ध मे भी अहिसा की प्रतिष्ठा
करते है।[3]

क्या युद्ध का समाधान अहिसा बन सकती है? इस प्रश्न के समाधान
मे उनका मतव्य है—"युद्ध का समाधान असंदिग्ध रूप से अहिसा और
मैत्री है। क्योकि शस्त्र परम्परा से कभी युद्ध का अंत नही हो सकता। शक्ति
सन्तुलन के अभाव मे बंद होने वाले युद्ध का अंत नही होता। वह विराम
दूसरे युद्ध की तैयारी के लिये होता है।"[4] इस सन्दर्भ मे उनका निम्न
प्रवचनाश उद्धरणीय है—"मनुष्य कितना भी युद्ध करे, अत मे उसे समझौता

---

१. दायित्व का दर्पण : आस्था का प्रतिबिम्ब, पृ० १३-१४।
२. शाति के पथ पर, पृ० ७०।
३. अणुव्रत : गति प्रगति, पृ० १५१।
४. अणुव्रत : गति प्रगति, १५०-१५१।

करना पड़ता है। मै चाहता हू मनुष्य की यह अन्तिम शरण प्रारंभिक शरण बने।"[1]

आचार्य तुलसी के चितन मे युद्ध मे अहिसक प्रयोग के लिए समुचित भूमिका, प्रभावशाली नेतृत्व, अहिसा के प्रति अनन्य निष्ठा तथा उसके लिये मर मिटने वाले बलिदानियो की अपेक्षा रहती है।[2] आक्रमण एवं युद्ध का अहिसक प्रतिकार करने वाले मे आचार्य तुलसी तीन विशेषताए आवश्यक मानते है—

१ वह अभय होगा, मौत से नहीं डरेगा।

२. वह अनुशासन और प्रेम से ओत-प्रोत होगा, मानवीय एकता मे आस्था रखेगा।

३. वह मनोवली होगा—अन्याय के प्रति असहयोग करने की भावना किसी भी स्थिति मे नही छोडेगा।[3]

युद्ध अनिवार्य हो सकता है, फिर भी युद्ध के वारे मे उनका अतिम सुझाव या निर्णय यही है कि युद्ध मे जय निश्चित हो फिर भी वह न किया जाए क्योकि उसमे हिंसा और जनसहार तो निश्चित है पर समस्या का स्थायी समाधान नही है"""युद्ध आज के विकसित मानव समाज पर कलंक का टीका है।"[4] वे कहते है—"युद्ध परिस्थितियों को दवा सकता है पर शात नही कर सकता। दवी हुई चीज जव भी अवसर पाकर उफनती है, दुगुने वेग से उभरती है।"

लोगो को मस्तिष्कीय प्रशिक्षण देते हुए वे कहते है—"युद्ध करने वाले और युद्ध को प्रोत्साहन देने वाले किसी भी व्यक्ति को आज तक ऐसा कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण प्रोत्साहन नही मिला, जो उसे गौरवान्वित कर सके। युद्ध तो वरवादी हे, अशाति है, अस्थिरता है और जानमाल की भारी तवाही है।[5]

अहिंसा और विश्वशांति

आचार्य तुलसी की दृष्टि मे शाति उस आह्लाद का नाम है, जिससे आत्मा मे जागृति, चेतनता, पवित्रता, हल्कापन और मूल-स्वरूप की अनुभूति होती है।"[6] आज सारा संसार शांति की खोज मे भटक रहा है पर आणविक अस्त्रों के निर्माण ने विश्व शांति के अस्तित्व को खतरे मे डाल दिया है। पूरी

१. तेरापथ टाईम्स, १८ फरवरी १९८१।
२. अणुव्रत : गति प्रगति, पृ० १५१।
३-४. क्या धर्म बुद्धिगम्य है ? पृ० ७३।
५. कुहासे मे उगता सूरज, पृ० २७।
६. अणुव्रत, १५ अक्टूबर १९५७।

दुनिया मे प्रति मिनिट एक करोड चालीस लाख से भी अधिक रुपये हथियारो के निर्माण मे खर्च हो रहे हैं। स्वय परमाणु अस्त्र निर्माता भी अपने अस्तित्व की सुरक्षा के लिये भयभीत है। आचार्य तुलसी की अहिसक चेतना आज की इस स्थिति से उद्वेलित है। अणुशक्ति पर विश्वास रखने वालो को वे व्यग्य मे पूछते है—"शाति के लिए सब कुछ हो रहा है—ऐसा सुना जाता है। युद्ध भी शाति के लिए, स्पर्धा भी शाति के लिए, अशाति के जितने बीज है, वे सब शाति के लिए—यह मानसिक झुकाव भी कितनी भयकर भूल है। बात चले विश्वशाति की और कार्य हो अशाति के तो शाति कैसे सम्भव हो? विश्वशाति के लिये अणुबम आवश्यक है, यह घोषणा करने वालो ने यह नही सोचा कि यदि यह उनके शत्रु के पास होता तो।[1]" यद्यपि आचार्य तुलसी व्यक्तिगत चितन के स्तर पर शाति एव सद्भाव की स्थापना के लिए अणुशस्त्रो के निर्माण के कट्टर विरोधी है। फिर भी भारत के बारे मे उनकी निम्न टिप्पणी चिन्तन की नयी दिशाए उद्घाटित करने वाली है—"भारत विज्ञान और एटमबम का देश नही, अध्यात्म और अहिसा का देश है। अहिसा और अध्यात्म के देश मे विज्ञान न हो, बम न हो, ऐसी बात नही, किन्तु हम इन चीजो को प्रधानता नही देते है, यह इस सस्कृति की विशेषता है।"

आचार्य तुलसी का चिन्तन है कि शाति और सद्भाव को प्रतिष्ठित करने से पूर्व अशाति और असद्भाव के कारणो को जान लेना जरूरी है। उनकी दृष्टि मे सयमहीन राष्ट्रीयता की भावना, रगभेद और जातिभेद की भित्ति पर टिकी हुई उच्चता और नीचता की परिकल्पना, अधिकार-विस्तार की भावना और अस्त्रो की होड—ये सभी विश्वशाति के लिये खतरे है।[2] वे स्पष्ट कहते है जब तक जीवन मे दम्भ रहेगा, क्षोभ रहेगा, तब तक शाति का अवतरण हो सके, यह कम सम्भव है।"[3] वे अनेक बार इस सत्य को अभिव्यक्त करते है कि इच्छाओ का विस्तार ही विश्वशाति का सबसे बडा खतरा है। अत: दूसरो के अधिकारो पर हाथ न उठाना ही विश्वशाति का मूलस्रोत है।"[4]

हिंसक क्राति द्वारा विश्व-शाति लाने वाले लोगो को आचार्य तुलसी की चेतावनी है कि हिंसा की धरती पर शाति की पौध नही उगायी जा सकती। अहिसा की विशाल चादर के प्रयोग से ही विश्वशाति की

---

१. जैन भारती, २३ जून १९६८।
२. जैन भारती, ६ जुलाई १९५८।
३. प्रवचन डायरी, भाग १, पृ० १५७।
४. एक बूद : एक सागर, पृ० १२६७।

कल्पना सार्थक की जा सकती हैं क्योकि शाति के सारे रहस्य अहिसा के पास है। अहिसा से बढ़कर कोई शास्त्र नहीं है, शस्त्र भी नही है।[1]

उनके दिमाग मे यह प्रत्यय स्पष्ट है कि अहिसा और अनेकात की आखों मे ही विश्वशाति का सपना उतर सकता है पर वह बलप्रयोग से नहीं, हृदयपरिवर्तन द्वारा ही सम्भव है।

इसी भावना से प्रेरित होकर उन्होंने अणुव्रत का रचनात्मक उपक्रम मानव जाति के समक्ष उपस्थित किया। न्यूनतम मानवीय मूल्यों के प्रति वैयक्तिक वचनबद्धता प्राप्त कर विश्व को हिंसा से मुक्ति दिलाने का यह अनूठा प्रयोग है। व्रतो को आन्दोलन का रूप देकर उनके द्वारा शाति स्थापित करने का यह विश्व के इतिहास मे पहला प्रयास है। अणुव्रत के कुछ नियम जैसे—मैं निरपराध प्राणी की हिंसा नही करूंगा, तोड़-फोड़ मूलक प्रवृत्तियो मे भाग नही लूगा। मैं किसी पर आक्रमण नही करूंगा। आक्रामक नीति का समर्थन नही करूगा। विश्वशाति तथा निःशस्त्रीकरण के लिए प्रयत्न करूंगा। साम्प्रदायिक उत्तेजना नही फैलाऊगा। मानवीय एकता मे विश्वास करूगा। जाति रंग के आधार पर किसी को ऊंच-नीच नही मानूगा। अस्पृश्य नही मानूंगा—ये सभी नियम विश्वशाति के आधारभूत स्तम्भ है। यदि हर व्यक्ति इन नियमो को स्वीकार कर अणुव्रती बन जाए तो विश्व-शाति की स्थापना बहुत सम्भव है।

प्रकाशित रूप से आचार्य तुलसी का सबसे प्राचीन सन्देश है—'अशात विश्व को शाति का सन्देश।' इस पूरे सन्देश मे उन्होंने विश्वशाति के लिए १३ सूत्रो का निर्देश किया है, जिसे पढ़कर महात्मा गाधी ने अपनी टिप्पणी व्यक्त करते हुए कहा—"क्या ही अच्छा होता जब सारी दुनिया इस महापुरुष के बताए मार्ग पर चलती।"

कोरियन पर्यटक एक प्रोफेसर ने जब आचार्य तुलसी से अहिंसा, शाति और अणुव्रत का सन्देश सुना तो वह आश्चर्य मिश्रित दुःखद स्वरो में बोला—"काश! हम पश्चिम वालों को यह सन्देश कोई सुनाने वाला होता तो हम निरन्तर महायुद्धो मे पड़कर बर्बाद नही होते।"

निःशस्त्रीकरण

शस्त्रीकरण के भयावह दुष्परिणामों से समस्त विश्व भयाक्रात है इसीलिए आज निःशस्त्रीकरण की आवाज चारो ओर से उठ रही है। महावीर ने आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व इस सत्य को अभिव्यक्त किया था कि शस्त्र परम्परा का कही अन्त नही होता। इसके लिए व्यक्ति के मन मे जो शस्त्र बनाने की चेतना है, उसे मिटाना आवश्यक है। आचार्य तुलसी की

१. कुहासे मे उगता सूरज, पृ० १७३।

अवधारणा है कि ये भौतिक शस्त्र उतने खतरनाक नही जितना सचेतन ... मनुष्य है। सचेतन शस्त्र को परिभाषित करते हुए वे कहते है—"शस्त्र व बनता है, जो असंयत होता है। शस्त्र वह बनता है, जो क्रूर होता है। .. वह बनता है, जो प्राणी-प्राणी मे भेद समझता है।"[1] उनका मानना कि केवल कुछ प्रक्षेपास्त्रो को कम करने से नि:शस्त्रीकरण का नारा बुल नही किया जा सकता।

शक्ति सन्तुलन के लिए भी वे शस्त्र-निर्माण की बात से सहमत नही है क्योकि इससे अपव्यय तो होता ही है साथ ही किसी के गलत हाथो ... दुरुपयोग होना भी बहुत सम्भव है। आज से ३३ साल पूर्व भारत के सम्बन्ध मे कही गयी उनकी यह उक्ति अत्यन्त मार्मिक एव प्रेरणादायी है— "आज हमारे पास राकेट नही, बम नही। मै कहूगा यह भारत के पास न हो। भारत इस माने मे दरिद्र ही रहे। कारण यह कि डर तो न रहे। डर तो उनको है, जिनके पास बम है। हमारे पास तो सबसे बड़ी सम्पत्ति अहिसा की है। जब तक हमारे पास यह सम्पत्ति सुरक्षित है, कोई भी भौतिकवादी हमारे सामने देख नही सकेगा। अगर हमने यह सम्पत्ति खो दी तो हमारा बचाव होना मुश्किल है।"[2] उनका स्पष्ट मन्तव्य है कि जिस राष्ट्र की नीति मे दूसरे राष्ट्रो को दबाने के लिए शस्त्रो का विकास किया जाता है, वह राष्ट्र विश्वशाति के लिए सबसे अधिक बाधक है।

अहिसक विश्व रचना की उनके दिल मे कितनी तडप है, यह उनकी निम्न उक्ति से पहचानी जा सकती है—"जिस दिन अणु-अस्त्रों पर सम्पूर्ण प्रतिबन्ध लगेगा, क्रूर हिसा रूपी राक्षसी को कील दिया जायेगा, वह दिन समूची मानव जाति के लिए महान् उपलब्धि का दिन होगा। यह मेरा व्यक्तिगत सपना है।"[3] वे कहते है सामजस्य और समन्वय के बिना कोई रास्ता नही कि शस्त्र-निर्माण के स्थान पर अहिसा की प्रतिष्ठा हो सके क्योकि अभय, सद्भाव और सहिष्णुता नि शस्त्रीकरण के बीज है।[4]

आचार्य तुलसी के अहिंसक प्रयोग

"अहिसा मे मेरा अधविश्वास नही है। वह मेरे जीवन की प्रकाश-रेखा है। मैने इससे अपने जीवन को आलोकित करने का प्रयत्न किया है। मै इससे बहुत सन्तुष्ट और प्रसन्न हूं"—"आचार्य तुलसी की यह अनुभव-पूत वाणी उनके अहिसक व्यक्तित्व की प्रतिध्वनि है। उनके साये मे आने

१ लघुता से प्रभुता मिले, पृ० ३७।
२ जैन भारती, १७ जुलाई १९६०।
३. कुहासे मे उगता सूरज, पृ० २४।
४. कुहासे मे उगता सूरज, पृ० २८-२९।

वाला हिंसक व्यक्ति भी अहिंसा की भावधारा से अनुप्राणित हो जाता है। उनके जीवन के सैकड़ों ऐसे प्रसंग है, जहां तीव्र हिंसात्मक वातावरण में भी वे अहिंसात्मक प्रयोग करते रहे। । वे कभी अपनी समता, सहिष्णुता और धृति से विचलित नही हुए। उनकी इसी क्षमता ने उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर प्रतिष्ठित कर दिया है। अपने अनुभवों को वे इस भाषा में प्रस्तुत करते हैं—"मेरे जीवन में अनेक प्रसंग आए हैं, जहां कुछ लोगों ने मेरे प्रति हिंसा का वातावरण तैयार किया। वे लोग चाहते थे कि मैं अपनी अहिंसात्मक नीति को छोड़कर हिंसा के मैदान में उतर जाऊं, पर मेरे अन्तःकरण ने कभी भी उनका साथ नहीं दिया और मैंने हर हिंसात्मक प्रहार का प्रतिकार अहिंसा से किया।"[1]

आचार्य तुलसी हर विरोधी एवं विषम स्थिति को विनोद कैसे मानते रहे, इसका अनुभव बताते हुए वे कहते हैं—"अहिंसा का साधक कटु सत्य भी नही बोल सकता, फिर वह कटु आक्षेप, प्रत्याक्षेप या प्रत्याक्रमण कैसे कर सकता है? इसी बोधपाठ ने मुझे हर परिस्थिति में संयत और सन्तुलित रहना सिखाया है।"

समाचार-पत्रों में जब वे आतंकवादियों की हिंसक वारदातों के विषय मे सुनते या पढ़ते हैं तो अनेक बार अपनी अन्तर्भावना इन शब्दों में व्यक्त करते है—"मेरे मन मे अनेक बार यह विकल्प उठता है कि उपद्रवी और हिंसक भीड़ के बीच मे खड़ा हो जाऊं और उन लोगो से कहूं कि तुम कौन होते हो निरपराध एवं निर्दोष प्राणियों को मौत के घाट उतारने वाले?"

आचार्यश्री ने अपने जीवन मे विष को अमृत बनाया है, संघर्ष की अग्नि को समत्व के जल से शांत करने का प्रयत्न किया है, उनके जीवन की सैकड़ो ऐसी घटनाएं हैं, जो उनके इस अहिंसक व्यक्तित्व की अमिट रेखाएं हैं। पर उन सबका यहां संकलन एवं प्रस्तुतीकरण सम्भव नही है। यहां उनके जीवन के कुछ अहिंसक प्रयोग प्रस्तुत किए जा रहे हैं—

साम्प्रदायिक उन्माद

आचार्य बनने के बाद आचार्य तुलसी का प्रथम चातुर्मास बीकानेर मे था। चातुर्मास समाप्ति के पश्चात् मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा के मध्याह्न मे उन्होंने विहार किया। पूर्व निर्धारित मार्ग पर अभी कुछेक कदम ही आगे बढ़े थे कि अप्रत्याशित रूप से सहसा एक अन्य सम्प्रदाय के आचार्य का जुलूस उन्हें सामने की दिशा से आता हुआ दिखाई दिया। संकरे मार्ग से एक जुलूस भी मुश्किल से गुजर रहा था, वहां दो जुलूसों का एक साथ गुजरना तो सम्भव ही नही था। सामने वाले जुलूस में 'हटो' 'हटो' का

स्वर प्रखरता से मुखर हो रहा था। आचार्य श्री ने स्थिति की गंभीरता का आकलन किया और बिना इसे प्रतिष्ठा का बिन्दु बनाए पास के चौक मे एक ओर हटते हुए सामने वाले जुलूस के लिए रास्ता छोड दिया। हालांकि आचार्यश्री का यह निर्णय जुलूस मे सम्मिलित गर्म खून वाले अनुयायियों को बहुत अप्रिय लगा पर तेरापन्थ सघ के अनुशासन की ऐसी गौरवशाली परम्परा रही है कि आचार्य का कोई भी प्रिय अप्रिय निर्णय बिना किसी ननुनच के स्वीकार्य होता है। इसलिए जुलूस मे सम्मिलित सभी सन्त तथा हजारो लोग भी आचार्यश्री का अनुगमन करते हुए एक तरफ हट गए। सामने वाले जुलूस के गुजर जाने के पश्चात् ही उन्होंने अपने गन्तव्य के लिए प्रस्थान किया। पूरे शहर मे इस घटना की तीव्र प्रतिक्रिया हुई।

प्रतिपक्ष के समझदार लोगो ने भी यह महसूस किया कि आचार्यश्री ने सूझ-बूझ एव अहिंसक नीति के आधार पर सही समय पर सही निर्णय लेकर शहर को एक सम्भावित रक्तरंजित सघर्ष से बचा लिया। तत्कालीन बीकानेर नरेश महाराज गगासिहजी ने कहा—"आचार्यश्री भले ही अवस्था मे छोटे हों, पर उनकी यह सूझ-बूझ वृद्धो की सी है। उन्होंने बडी समझदारी एव शाति से काम लिया।" यह उनकी अहिसा एव शातिवादिता की प्रथम विजय थी।

सन् १९६१ के आसपास की घटना है। आचार्यश्री बाडमेर, बायतू होते हुए जसोल पधार रहे थे। विरोधियो ने ऐसे पेम्पलेट निकाले की कही धर्मवृद्धि के स्थान पर सिरफोडी न हो जाए। इससे भी आगे उन्होने नियत प्रवचनस्थल पर वंचनापूर्वक अड्डा जमा लिया। इससे श्रद्धालुओ के मन मे रोप उभर आया। आचार्यश्री इस विरोधी विप को भी शंकर की तरह पी गए। वे शहर के बाहर ही किसी के मकान मे ठहर गए। पर लोग तो वहां भी पहुच गए।

उनमे कुछ श्रद्धालु थे तो कुछ आचार्यश्री की आखो मे रोष की झलक देखने आए थे। आचार्यवर ने दोनो ही पक्षो के लोगो की मनःस्थिति को ध्यान मे रखते हुए कहा—"हमे विरोध का उत्तर शाति से देना है। मुझे ताज्जुब हुआ जब मैने यह पढा कि धर्मवृद्धि के स्थान पर कही सिर-फोडी न हो जाए। क्या हम आग लगाने आते है? सन्यस्त होकर भी क्या हम रोटी, कपडा और स्थान के लिए झगडे? हममे क्राति के भाव जागे कि गाली का उत्तर भी शाति से दे सकें। मैने सुना है कि कुछ अनुयायी कहते है—आचार्यश्री को जाने दो फिर देखेगे। यदि मेरे जाने के बाद उनकी आखो मे उबाल आ गया तो मै कहना चाहता हूं कि तुम लोगो ने केवल नारे लगाए है आचार्य तुलसी को नही पहचाना है। 'शठे शाठ्य समाचरेद्' यह राजनीति का सूत्र हो सकता है, धर्मनीति का नही। हमे तो बुरो के दिल

को भी भलाई से बदलना है। जो अड़ता है, उनसे हमें टल जाना है। दूसरा जलता है तो हमें जल बन जाना है।[1] यद्यपि आए हुए उभार को रोकना समुद्र के ज्वार को रोकना है पर आचार्यश्री के इस ओजस्वी वक्तव्य ने न केवल श्रद्धालु लोगों को शान्त कर दिया, वरन् विरोधियो को भी सोच की एक नयी दृष्टि प्रदान की।

आचार्यश्री के जीवन मे जब-जब विरोध के क्षण आए, वे इसी बात को बार-बार दोहराते रहे—"विरोधी लोग क्या करते है इस ओर ध्यान न देकर, हमे क्या करना चाहिए, यही अधिक ध्यान देने की बात है। हमे विरोध का शमन विरोध और हिंसा से नही, अपितु शान्ति और अहिंसा से करना है। अपना अनुभव डायरी में लिखते हुए वे कहते है—"अहिंसा का जोश आज मेरे हृदय में रह-रहकर उफान पैदा कर रहा है, मेरा सीना इससे तना हुआ है और यही मुझमे अहिंसा को जनशक्ति मे केन्द्रित करने की एक अज्ञात प्रेरणा जागृत कर रहा है।"

विधायक दृष्टिकोण

आचार्य तुलसी का दृष्टिकोण विधायक है। यही कारण है कि वे हर बुराई मे अच्छाई खोज लेते है। वे मानते है—"जहा तक अहिंसा का प्रश्न है, वहा हमारा आचरण और व्यवहार अलौकिक होना चाहिए—इस सिद्धात मे मेरी गहरी आस्था है।"[2] आचार्य तुलसी के जीवन की सैकड़ो घटनाए इस आस्था की परिक्रमा कर रही हैं।

जोधपुर (सन् १९५४) मे अणुव्रत का अधिवेशन था। साम्प्रदायिक लोगो ने विरोध मे अनेक पर्चे निकाले। दीवारे ही नही, सडको को भी पोस्टरो से पाट दिया। मध्याह्न मे आचार्यवर पादविहार कर अधिवेशन स्थल पर पहुचे। वहा अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए उन्होने कहा— साम्प्रदायिक लोग कभी-कभी अनजाने मे हित कर देते है। यदि आज सडको पर ये पोस्टर बिछे नही होते तो पैर कितने जलते ? दुपहरी के समय मे डामर की सडको पर नंगे पैर चलना कितना कठिन होता ? इन पोस्टरो ने हमारी कठिनाई कम कर दी इस अवसर पर आचार्यश्री ने यह घोष दिया **"जो हमारा हो विरोध, हम उसे समझें विनोद।"**[3]

जहां दृष्टिकोण इतना विधायक और उदार हो वहा विरोध की कोई भी स्थिति व्यक्ति को विचलित नही कर सकती। उस व्यक्तित्व के सामने अभिशाप वरदान मे तथा शत्रुता मित्रता मे परिणत हो जाती है।

---

१ जैन भारती १७ सित० १९९१।

२ एक बूद : एक सागर, पृ० १६३७।

३. धर्मचक्र का प्रवर्त्तन, पृ० २६४।

कानपुर का प्रसंग है। स्थानीय अनेक पत्र-पत्रिकाओं में आचार्यश्री के विरोध में तरह-तरह की बातें छपीं। इस स्थिति से उद्वेलित होकर एक वकील आचार्यवर के उपपात में पहुंचा और बोला "अमुक पत्र का सम्पादक मेरा किराएदार है। आप विरोध का प्रत्युत्तर लिखकर दे दें, मैं उसे वैसा ही छपवा दूंगा।" आचार्यवर ने उत्तर दिया- "कीचड़ में पत्थर डालने से क्या लाभ? आलोचना का उत्तर मैं कार्य को मानता हूं। यदि स्तर का विरोध या आलोचना हो तो उसके उत्तर में शक्ति लगायी जाए अन्यथा शक्ति लगाना व्यर्थ है। निरुद्देश्य और निरर्थक विरोध अरण्य प्रलाप की तरह एक दिन स्वयं शांत हो जाएगा। मुझे तो विरोध देखकर दुःख नहीं, बल्कि नादानी पर हंसी आती है। ये विरोध तो मेरे सहयोगी हैं। इनसे मुझे अधिक कार्य करने की प्रेरणा मिलती है। यदि विरोध से घबराने लगे तो कुछ भी कार्य नहीं कर सकेंगे।"

बाल दीक्षा का विरोध

जयपुर में जब बाल-दीक्षा के विरुद्ध में विरोध का वातावरण बना तो तेरापंथी लोगों में भी कुछ आक्रोश उभरने लगा। संगठित संघ होने के कारण अनेक स्थानों से हजारों-हजारों लोग उसका प्रतिकार करने के लिए पहुंच गए। यद्यपि उन्हें शांत रखना कोई सहज कार्य नहीं था, पर अहिंसा की तेजस्विता प्रकट करने के लिए यह हर स्थिति में आवश्यक था। उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने अपने अनुयायियों को प्रतिबोध देते हुए कहा- "हिंसा को हिंसा से जीतना कोई मौलिक विजय नहीं होती। हिंसा को अहिंसा से जीतना चाहिए। हम साधन-शुद्धि पर विश्वास करते हैं, अतः पथ की समस्त बाधाओं को स्नेह और सौहार्द से ही पार करना होगा। उत्तेजित होकर काम को बिगाड़ा ही जा सकता है, सुधारा नहीं जा सकता। मैं यह नहीं कहता कि आप विरोधों के सामने झुक जाएं। यह तो उन्हीं की सफलता मानी जाएगी। किन्तु आप यदि उस समय भी शांत रहें तो यह आपकी सफलता होगी। मैं आशा करता हूं कि कोई भी तेरापंथी भाई न उत्तेजित होगा और न उत्तेजना बढ़े, वैसा कार्य करेगा। दूसरा पक्ष कुछ करता है, यह उसके सोचने की बात है। पर हमारा मार्ग सदैव शांति का रहा है और इसी में हमारी सफलता के बीज निहित हैं।" आचार्यश्री का उपर्युक्त प्रतिबोध सचमुच ही [illegible] प्रभावी सिद्ध हुआ। लोगों के मनों में उफन रहे आक्रोश को [illegible] उसने जल के छींटे का सा काम किया। अहिंसा की तेज[illegible] [illegible]।

अग्नि-परीक्षा बनाम [illegible]

आचार्य तुलसी [illegible] र में था। वहां उनका अभूतपूर्व

स्वागत हुआ। किन्तु उस चातुर्मास के दौरान कुछ लोग उनकी लोकप्रियता को सह नही सके। उनके खण्डकाव्य 'अग्नि-परीक्षा' को आधार वनाकर कुछ गलत तत्त्वो ने साम्प्रदायिक हिंसा का वातावरण तैयार कर दिया। उन्होंने आचार्यश्री पर यह आरोप लगाया कि उन्होने सीता को गाली दी है। जनता इस वात को सुनकर भडक उठी। स्थान-स्थान पर आचार्यश्री के पुतले जलाए गये, पथराव हुआ तथा और भी हिंसात्मक वारदाते होने लगी। इस वातावरण को देखकर पत्रकारो को संवोधित करते हुए आचार्यश्री ने अपना संक्षिप्त वक्तव्य दिया—"मै अहिंसा और समन्वय मे विश्वास करता हूं। मेरे कारण से दूसरो को पीडा पहुची, इससे मुझे भी पीडा हुई। प्रस्तुत चर्चा के दौरान कुछ विद्वानो के मूल्यवान् सुझाव मेरे सामने आए है। अग्रिम सस्करण में उन पर मै गंभीरतापूर्वक विचार करूंगा।"

इसके वावजूद भी विरोधी सभाओ का आयोजन हुआ, जुलूस आदि निकाले गये। स्थिति जटिल एव गंभीर वन गई। उस स्थिति मे भी वे वीर अहिंसक की भाति अडोल रहे तथा शाति स्थापना हेतु अपना मतव्य व्यक्त करते हुए कहा—"मेरे लिए प्रतिष्ठा और अप्रतिष्ठा का प्रश्न मुख्य नही है। यदि शाति के लिए मेरा शरीर भी चला जाए तो भी मैं उसे ज्यादा नही मानता। प्रतिष्ठा की वात पहले भी नही थी, किन्तु परिस्थिति कुछ दूसरी थी। आज स्थिति उससे भिन्न है। मुझे निमित्त वनाकर हिंसा का वातावरण उभारा जा रहा है। मै नही चाहता कि मैं हिंसा का कारण वनू, पर किसी प्रकार बना दिया गया हूं। मैं इसके लिए किसी को दोप नही देता। मैने अपने मिशन को चलाने का वरावर प्रयत्न किया है और आगे भी करता रहूंगा। ऐसी स्थिति केवल मेरे लिए ही वनी है, ऐसा नही है। महावीर, गाधी और विनोवा के साथ भी ऐसा ही हुआ है।"[1]

उनकी करुणा और अहिंसा की पराकाष्ठा तो उस समय देखने को मिली, जव हिसा के दौरान कुछ विरोधी व्यक्ति पुलिस के द्वारा पकडे गये तव उनके प्रति अधिकारियों से अपना आत्मनिवेदन उन्होंने इस भाषा में रखा—"आज जो लोग गिरफ्तार हुए, उसकी मुझे पीडा है। मुझे उनके प्रति सहानुभूति है। मेरे मन मे उनके प्रति किसी प्रकार का रोप नही है। मैं आप लोगो से अनुरोध करता हू कि यदि संभव हो सके तो आज रात्रि मे ही गिरफ्तार लोगो को मुक्त कर दिया जाए।"

विरोधी लोगों द्वारा पंडाल जलाने पर भी वे वही स्थिरयोगी वनकर वैठे रहे। आचार्यश्री का यह स्पष्ट मंतव्य है कि अहिंसक कायर नही हो सकता। जो मरने से डरता है, वह अहिंसा का अंचल भी नही छू सकता। लोगो के निवेदन करने पर भी वे दृढतापूर्वक कहते है—मै यही वैठा हूं देखता हूं क्या होता है? उस भयावह स्थिति मे भी वे प्रकम्पित नही हुए।

उनकी इस दृढ़ता और मजबूती को देखकर आग लगाने वालो ने भी ~
मन मे लज्जा और कायरता का अनुभव किया।

इस विषम एवं हिंसक वातावरण मे भी वे लोगो को ओजस्वी ,
मे कहते रहे—"आज मैं इस अवसर पर अपने शुभचिन्तकों को ..
से संयमित रहने का निर्देश देता हू। मुझे पूर्ण विश्वास है कि वे किसी
स्थिति मे अहिंसा को नही भूलेंगे। हमारी विजय शाति मे है। शाति न..
थकती, थकता है विरोध।" इस घटना से उनकी अहिंसा के प्रति ..
निष्ठा और शातिप्रियता की स्पष्ट झलक मिलती है।

उदार दृष्टिकोण

यह निर्विवाद सत्य है कि उदार व्यक्ति ही अहिसा का पालन कर
सकता है। विना उदारता के व्यक्ति विपक्ष को सह नही सकता। आचार्य
तुलसी उदारता की प्रतिमूर्ति है। इसका ज्वलन्त निदर्शन है—मेवाड और
कलकत्ता का घटना प्रसग। कानोड गाव से विहार कर आचार्यवर आगे
पधार रहे थे। उनके साथ मे सैकडो लोग नारे लगाते हुए आगे वढ रहे थे।
आचार्यवर को ज्ञात हुआ कि जुलूस जिस मार्ग से आगे वढ रहा है, उस मार्ग
मे अन्य मुनियो का व्याख्यान हो रहा है। आचार्य तुलसी दो क्षण रुके और
निर्देश की भाषा मे श्रावको से कहा—"नारे वंद कर दिए जाएं। श्रद्धालुओ
ने प्रश्न उपस्थित किया—हम किसी को वाधा नही पहुचाना चाहते पर
अपने मन के उत्साह को कैसे रोके? सदा से ही ऐसा होता रहा है।
फिर आज यह नयी वात क्यो उठी? आचार्यवर ने उनके मानस को
समाहित करते हुए कहा—"आगे मुनियो का प्रवचन हो रहा है। नारे
लगाने से श्रोताओं को सुनने मे वाधा पहुचेगी।" मनोवैज्ञानिक ढंग से
अपनी वात को समझाते हुए आचार्यश्री ने कहा—"तुम्हारी धर्मसभा मे
साधु-साध्वियो का या मेरा प्रवचन होता है, उस समय दूसरे लोग नारे
लगाते हुए वहा से गुजरे तो तुम्हे कैसा लगेगा?" आचार्यश्री की यह वात
उनके अत.करण को छू गयी और सभी अनुयायी शातभाव से आगे वढने
लगे। शात जुलूस को देखकर दर्शक तो आश्चर्यचकित हुए ही, दूसरे सप्रदाय
के लोगो पर भी इतना गहरा असर हुआ कि वे सहयोग कि भावना प्रदर्शित
करने लगे। यह समन्वय एव सह-अस्तित्व का मार्ग है।

सन् १९५९ कलकत्ता चातुर्मास की समाप्ति पर एक पत्रकार
आचार्यश्री के चरणो मे उपस्थित हुआ और वोला—मुझे आपका आशीर्वाद
चाहिए। आचार्यश्री ने कहा—"मैने अभिशाप और दुराशीष कव दी थी?
तुमने चार महीने जी भरकर हमारे विरुद्ध लिखा, न लिखने की वात भी
लिखी पर मैंने कभी तुम्हारे प्रति दुर्भावना नही की, क्या यह आशीर्वाद नही

है ? मै उस समय भी अपनी साधना मे था, आज भी अपनी साधना में हूं। तुम्हारे प्रति मुझे कोई रोप नही है। हा, इस वात की प्रसन्नता है कि किसी भी समय यदि मनुष्य मे अध्यात्म के भाव जागते है तो वह श्रेय का पथ है।" यह घटना उनके सहिष्णु व्यक्तित्व की कथा कह रही है। आलोचनाएं सुन-सुनकर आचार्यश्री की मानसिकता इतनी परिपक्व हो गयी है कि उनके मन पर विरोधी वातावरण का कोई विशेप प्रभाव नहीं होता।

विनोवा भावे के छोटे भाई शिवाजी भावे महाराष्ट्र यात्रा में आचार्यश्री से मिले। मिलने का प्रयोजन वताते हुए उन्होने कहा—"आपके विरोध मे प्रकाशित साहित्य विपुल मात्रा में मेरे पास पहुंचा है। उसे देखकर मैने सोचा, जिस व्यक्ति के विरोध में इतना साहित्य छपा है, जो विरोध का प्रतिकार विरोध द्वारा नही करता, निश्चय ही वह कोई प्राणवान् एवं जीवन्त व्यक्ति होना चाहिए। आपसे मिलने के वाद मन में आता है कि यदि मैं यहा नही आता तो मेरे जीवन मे वहुत वडा धोखा रह जाता।"

युवाचार्य महाप्रज्ञजी कहते है—"ऐसा लगता है कि आचार्य तुलसी की जन्म कुंडली ख्याति और संघर्ष की कुंडली है। ख्याति और सघर्प को अलग-अलग नही किया जा सकता। ख्याति सघर्प को जन्म देती है और संघर्प ख्याति को जन्म देता है। यह अनुभव से निष्पन्न सचाई है।"

आचार्यश्री के जीवन मे अनेक वार वाह्य और अंतरंग संघर्प आये है। पर उन्होने हर संघर्प को समताभाव से सहन किया है।

आचार्यश्री देवास मे प्रवचन कर रहे थे। अचानक कुछ अज्ञानी लोगो ने पत्थर फेंका। वह आचार्यश्री की पीठ पर लगा पर वे शांत रहे और इस घटना को तटस्थ भाव से देखते रहे। एक वार वे उज्जैन के रास्ते से गुजर रहे थे। एक भाई ने इत्र एवं फूलमाला से स्वागत किया। पर आचार्यश्री मुस्कराकर आगे वढ गए। आचार्यश्री दोनो घटनाओ मे मध्यस्थ रहे। न क्रोध, न प्रसन्नता। इन दोनो घटनाओ के परिप्रेक्ष्य मे वे स्वानुभव की चर्चा करते हुए कहते हैं—"समय कितना विचित्र होता है। देवास मे पर्वतपुत्र (पत्थर) से कुछ लोगो ने स्वागत किया तो यहां पर तरुवरपुत्र (पुप्प) से स्वागत हो रहा है। पर हम तो दोनों को ही अस्वीकार करते है। वे कहते है—"मै अपने विपय मे अनुभव करता हूं कि जैसे-जैसे अहिसा का मर्म हृदयगम हुआ है, वैसे-वैसे अधिक मध्यस्थ वना हू।"

महाश्रमणी साध्वी प्रमुखा कनकप्रभाजी के शव्दों मे उनका व्यक्तित्व निन्दा के वातूल से विचलित नही होता तथा प्रशंसा की थपकियो से प्रमत्त नही वनता, इसलिए वे महापुरुप है।

इन घटनाओ के आलोक मे आचार्य तुलसी की अहिसा का मूर्त्तरूप स्वत. हमारे दृष्टिपथ पर अवतरित हो जाता है। उनकी यह तेजस्वी अहिसा दूसरो के लिए भी अहिसा, प्रेम और मैत्री का वोधपाठ वन सकती है।

धर्म-चिन्तन

धर्म का स्वरूप

भारतीय सस्कृति की आत्मा धर्म है। यही कारण है कि यहा अनेक धर्म पल्लवित एव पुष्पित हुए है। सबने अपने-अपने ढग से धर्म की व्याख्या की है।

सुप्रसिद्ध लेखक लार्ड मोर्ले ने लिखा है—"आज तक धर्म की लगभग १० हजार परिभाषाए हो चुकी है, पर उनमे भी जैन, बौद्ध आदि कितने ही धर्म इन व्याख्याओ से बाहर रह जाते है।" लार्ड मोर्ले की इस बात से यह चिन्तन उभर कर सामने आता है कि ये सब परिभाषाए धर्म-सम्प्रदाय की हुई है, धर्म की नही। आचार्य तुलसी कहते है—"सम्प्रदाय अनेक हो सकते है, पर उनमे निहित धर्म का सन्देश सबका एक है।"

आचार्य तुलसी ने क्लिष्ट शब्दावली से बचकर धर्म के स्वरूप को सहज एव सरल ढंग से प्रस्तुत किया है। उनके साफ, स्पष्ट, प्रौढ एव सुलझे हुए विचारों ने जनता मे धर्म के प्रति एक नई जिज्ञासा, नया आकर्षण और नया विश्वास जागृत किया है। वे इस सत्य को स्वीकारते है कि हम जिस युग मे धर्म की पुन. प्रतिष्ठा की बात कर रहे है, वह उपलब्धि की दृष्टि से वैज्ञानिक, शक्ति की दृष्टि से आणविक और शिक्षा की दृष्टि से बौद्धिक है। क्या अबौद्धिक, अवैज्ञानिक और शक्तिहीन पद्धति से धर्म का उत्कर्ष सम्भव है ?

उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म की कसौटी पर कट्टर नास्तिक भी अपने को धार्मिक कहने मे गौरव का अनुभव करता है। धर्म के स्वरूप को विश्लेषित करती उनकी ये पक्तिया कितनी वैज्ञानिक एव वेधक बन पडी है-- "मै उस धर्म का पक्षपाती नही हू, जो केवल क्रियाकाडो तक सीमित है, जो जड उपासना पद्धति से सम्बन्धित है, जो अवस्था विशेष के बाद ही किया जाता है। अथवा जिसमे अन्य सब कार्यो से निवृत्त होने की अपेक्षा रहती है। मेरी दृष्टि मे धर्म है—जीवन का स्वभाव।"[1] वे स्पष्ट शब्दो मे कहते है—"जो धर्म जीवन को परिवर्तन की दिशा नही देता, मनुष्य के व्यवहार मे जीवन्त नही होता, वह धर्म नही, सम्प्रदाय है, क्रियाकाड है, उपासना है।"

पथ, सम्प्रदाय या वर्ग तक ही धर्म को सीमित करने वालो की विवेक-चेतना जागृत करते हुए वे कहते है—"धर्म न तो पथ, मत, सम्प्रदाय,

---

१. क्या धर्म बुद्धिगम्य है ?, पृ० ७७।

मन्दिर या मस्जिद मे है और न धर्म के नाम पर पुकारी जाने वाली पुस्तके ही धर्म है। धर्म तो सत्य और अहिंसा है। आत्मशुद्धि का साधन है।" जिन लोगो ने सामाजिक सहयोग को धर्म का वाना पहना दिया है, उनको प्रतिबोध देते हुए उनका कहना है—"किसी को भोजन देना, वस्त्र की कमी मे सहायता प्रदान करना, रोग आदि का उपचार करना अध्यात्म धर्म नही, किन्तु पारस्परिक सहयोग है, लौकिक धर्म है।"[1]

आचार्य तुलसी एक ऐसे धर्म के पक्षधर है, जहां सुख-शाति की पावन गगा-यमुना प्रवाहित होती है। इस विषय में वे कहते हैं—"मै तो उसी धर्म का प्रचार व प्रसार करने मे लगा हुआ हू, जो त्रस्त, दुःखी व व्याकुल मानव-जीवन को आत्मिक सुख-शांति व राहत की ओर मोड़ने वाला है, जो नारकीय धरातल पर खडे जन-जीवन को सर्वोच्च स्वर्गीय धरातल की ओर आकृष्ट करने वाला है।"[2]

इस सन्दर्भ मे उनकी दूसरी टिप्पणी भी विचारणीय है—"मै जिस धर्म की प्रतिष्ठा देखना चाहता हू, वह आज के भेदात्मक जगत् मे अभेदात्मक स्वरूप की कल्पना है। धर्म को मै निर्विशेषण देखना चाहता हूं। आज तक उसके पीछे जितने भी विशेषण लगे, उन्होने मनुष्य को वांटने का ही प्रयत्न किया है। इसलिए आज एक विशेषणरहित धर्म की आवश्यकता है, जो मानव-मानव को आपस मे जोड़ सके। यदि विशेषण ही लगाना चाहे तो उसे मानव-धर्म कह सकते है। इस धर्म का स्थान मदिर, मठ या मस्जिद नही, अपितु मनुष्य का हृदय है।"[3]

धार्मिक कौन ?

धर्म और धार्मिक को अलग नही किया जा सकता। धर्म धार्मिक के जीवन में मूर्त रूप लेता है किन्तु आज धार्मिक का व्यवहार धर्म के सिद्धान्तो से विपरीत है। आचार्य तुलसी कहते है—"मेरा विश्वास अधार्मिक को धार्मिक वनाने से पहले तथाकथित धार्मिक को सच्चा धार्मिक वनाने में है। आज अधार्मिक को धार्मिक वनाना उतना कठिन नही, जितना कठिन एक धार्मिक को वास्तविक धार्मिक वनाना है।[4] धर्मस्थान मे धार्मिक और वाहर निकलते ही अन्याय, अत्याचार एव शोपण—इस विरोधाभासी दृष्टिकोण के वे सख्त विरोधी है। धार्मिक के दोहरे व्यक्तित्व पर व्यंग्य करते हुए आचार्य तुलसी कहते है—"आज धार्मिक भगवान् से

१. एक बूद : एक सागर, पृ० ७४१।
२. जैन भारती, ३० मई १९५४।
३. हिसार, स्वागत समारोह मे प्रदत्त प्रवचन से उद्धृत।
४. ५-७-८४ जोधपुर में हुए प्रवचन से उद्धृत।

मिलना चाहते है, किन्तु पड़ोसी से मिलना नही चाहते। वे मन्दिर मे जाकर भक्त कहलाना चाहते है लेकिन दुकान और बाजार मे ग्राहको को धोखा देने से वचना नही चाहते।"

धर्म जीवन का रूपान्तरण करता है। पर जिनमे परिवर्तन घटित नही होता उन धार्मिको को सम्बोधित करते हुए वे कहते है—"मै उन धार्मिको से हैरान हू, जो पचास वर्षो से धर्म करते आ रहे है, किन्तु जीवन मे परिवर्तन नही आ रहा है।"

धार्मिक की सबसे वडी पहचान है कि वह प्रेम और करुणा से भरा होता है। धार्मिक होकर भी व्यक्ति लडाई, झगडे, दगे-फसाद करे, यह देखकर आश्चर्य होता है। इस विषय मे आचार्य तुलसी दु.ख भरे शब्दो मे अपने विचार व्यक्त करते हुए कहते है—"धार्मिक अधर्म से लडे, यह तो समझ मे आता है, किन्तु एक धार्मिक दूसरे धार्मिक से लडे, यह दु.ख का विषय है।"

वे धर्म और नैतिकता को विभक्त करके नही देखते। धार्मिक होकर यदि व्यक्ति नैतिक नही है तो यह धर्म के क्षेत्र का सबसे वडा विरोधाभास है। वे इस बात को गणितीय भाषा मे प्रस्तुत करते है—"आज देश की लगभग ८० करोड की आवादी मे सत्तर करोड जनता धार्मिक मिल सकती है पर जहा तक ईमानदारी का प्रश्न है, दो करोड भी सम्भव नही है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि बेईमान धार्मिको की सख्या अधिक है।"[1] वे कहते है—"एक धार्मिक कहलाने वाला व्यक्ति चरित्रहीन हो, हिंसा पर उतारू हो, आक्राता हो, धोखाधडी करने वाला हो, छुआछूत मे उलझा हुआ हो, शराव पीता हो, दहेज की माग करता हो और भी अनेक अनैतिक आचरण करता हो, क्या वह धार्मिक कहलाने का अधिकारी है?[2]

सच्चे धार्मिक की पहचान वताते हुए वे कहते है—"अशाति मे जो आदमी शांति को ढूढ निकालता है, अपवित्रता मे से जो पवित्रता को ढूढ लेता है, असन्तुलन मे से जो सन्तुलन को खोज लेता है और अन्धकार मे से प्रकाश को ढूढ लेता है, वह धार्मिक है।[3]

वे धार्मिक की कसौटी मन्दिर या धर्मस्थान मे जाना नही मानते अपितु उसकी सही कसौटी दुकान पर वैठकर पवित्र रहना मानते है।[4] इसी बात को वे साहित्यिक शैली मे प्रस्तुत करते हुए कहते है—

---

१. विज्ञप्ति स० ८२७।
२. एक बूद : एक सागर, पृ० ६१।
३. क्या धर्म वुद्धिगम्य है? पृ० १२।
४ १३-७-६९ के प्रवचन से उद्धृत।

"अप्रमाणिक या अनैतिक जीवन मे धार्मिक होने का दावा फटे टाट मे रेशमी पैवन्द लगाने जितना उपहासास्पद है।"

उनके साहित्य मे उन लोगो के समक्ष अनेक ऐसे प्रश्न उपस्थित है, जो पीढियों से अपने को धार्मिक मानते आ रहे है। ये प्रश्न उन्हें अपने बारे मे नए ढग से सोचने को विवश करते है तथा अन्तर मे झाकने के लिए प्रेरित करते है। यद्यपि ये प्रश्न बहुत सामान्य एवं व्यावहारिक है पर रूपांतरण घटित करने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते है। यहां कुछ प्रश्नो को उपस्थित किया जा रहा है:—

१. समता या मैत्री का व्रत लिया है, पर दूसरो के प्रति क्रूरता कम हुई या नही, इसकी आलोचना करे।
२. सत्य के प्रति निष्ठा दरसाई है, पर ईमानदारी की वृत्ति बढी या नही, इसका अनुवीक्षण करे।
३. सरल जीवन बिताने का संकल्प लिया है। पर वक्रता का भाव छूटा या नही, इसे टटोले।
४ सयम का पथ चुना है, पर जीवन की आवश्यकताएं कम हुई या नही, मुड़कर देखे।[1]

धर्म और राजनीति

धर्म और राजनीति दो भिन्न-भिन्न धाराए है। दोनो का उद्देश्य भी भिन्न-भिन्न है। धर्म व्यक्तित्व रूपान्तरण की प्रक्रिया है और राजनीति राज्य को सही दिशा मे ले चलने वाली प्रक्रिया। आचार्य तुलसी के शब्दों मे राजनीति का सूत्र है—दूसरो को देखो और धर्मनीति का सूत्र है—अपने आपको देखो।" आचार्य तुलसी की यह बहुत स्पष्ट अवधारणा है कि धर्म जब अपनी मर्यादा से दूर हटकर राज्य सत्ता मे घुलमिल जाता है तो वह विष से भी अधिक घातक बन जाता है।"[2] उनका चिन्तन है कि यदि राजनीति से धर्म का विसंबंधन नही रहा तो वह विरोध, संघर्ष और युद्ध का साधनमात्र रह जाएगा।[3] जहां कही धर्म का राजनीति के साथ गठबन्धन कर उसे जनता पर थोपा गया, वहा हिंसा और रक्तपात ने समूचे राष्ट्र मे तबाही मचा दी।[4] इसका कारण स्पष्ट करते हुए वे कहते है—"राजनीति अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिए हिंसा के कंधे पर सवारी कर लेती है पर धर्म का हिंसा के साथ दूर का भी रिश्ता नही है।"

---

१. पथ और पाथेय, पृ० ९१-९२।
२. धर्म और भारतीय दर्शन, पृ० ५।
३. जैन भारती, ८ मई १९५५।
४. एक बूद : एक सागर, पृ० ७४०।

आचार्य तुलसी के उपरोक्त चिन्तन ने उनके व्यक्तित्व मे एक ऐसा आकर्षण पैदा किया है कि अनेक राष्ट्र-नायक समय-समय पर उनके चरणो मे उपस्थित होते रहते हैं पर आचार्यश्री अपना अनुभव इन शब्दो मे व्यक्त करते हैं—धर्माचार्य और राजनयिक के मिलन का अर्थ यह कभी नही है कि धर्म और राजनीति एक हो गए। राजनीति ने वहुत वार हमारे दरवाजे पर आकर दस्तक दी है, पर हमने उसे विनम्रतापूर्वक लौटा दिया।"

धर्म और राजनीति को विरोधी मानते हुए भी आचार्य तुलसी आज की भ्रष्ट, स्वार्थी, पदलोलुप और मायायुक्त राजनीति की छवि को स्वच्छ वनाने के लिए राजनीति मे धर्मनीति का समावेश आवश्यक मानते है। उनका चिन्तन है कि निस्पृह होने के कारण धर्मनेता मे ही वह शक्ति होती है कि वे राजनीति पर अकुश रख सके, उसे उच्छृंखल होने से वचा सके। वे अनेक वार अपनी प्रवचन सभाओ मे स्पष्ट कहते है—"यदि धर्म नही रहा तो राजनीति अनीति वन जाएगी। उसकी सफलता क्षणस्थायी होगी या फिर वह असफल, भ्रष्ट और दलवदलू हो जाएगी। पर, आचार्य तुलसी धर्म का राजनीति मे हस्तक्षेप नैतिक नियन्त्रण और मार्गदर्शन तक ही उचित मानते है, उससे आगे नही। प्रसिद्ध साहित्यकार सरदारपूर्णसिंह 'सच्ची वीरता' मे यहा तक लिख देते है कि हमारे असली और सच्चे राजा ये साधु पुरुप ही है।

धर्म और राजनीति मे समन्वय करता हुआ उनका निम्न उद्धरण आज की दिशाहीन राजनीति को नया प्रकाश देने वाला है—"धर्म के चार आधार है—क्षाति, मुक्ति, आर्जव और मार्दव। मुझे लगता है लोकतन्त्र के भी चार आधार है। लोकतन्त्र के सन्दर्भ मे क्षाति का अर्थ होगा—सहिष्णुता। मुक्ति का अर्थ होगा—निर्लोभिता या पद के प्रति अनासक्ति। ऋजुता का अभिप्राय होगा—मन, वचन और शरीर की सरलता, कुटिलता का अभाव तथा मार्दव का अर्थ होगा—व्यवहार की मृदुता, विरोधी दल पर छीटाकशी का अभाव।"[1]

धर्म और राजनीति इन दो विरोधी तत्त्वो मे सामजस्य करते हुए उनका चिन्तन कितना सटीक है—"यद्यपि इस वात से इन्कार नही किया जा सकता कि धर्म की विकृतियो को मिटाने के लिए राजनीति और राजनीति की विकृतियो को मिटाने के लिए धर्म का अपना उपयोग है। पर जव इन्हे एकमेक कर दिया जाता है तो अनेक प्रकार की समस्याए खडी होती है। अभी कुछ राष्ट्रों मे इन्हे एकमेक किया जा रहा है पर इससे समस्याएं भी वढ़ी है।"[2]

---

१. १-१२-६९ के प्रवचन से उद्धृत।
२. जैन भारती, १६ अगस्त १९७०।

आचार्य तुलसी ने राष्ट्र की अनेक समस्याओ का हल राजनेताओं के समक्ष प्रस्तुत किया है क्योंकि उनकी दृष्टि में राजनैतिक वादो की समस्याओ का हल भी धर्म के पास है। साम्यवाद और पूजीवाद का सामंजस्य करते हुए ५० वर्ष पूर्व कही गयी उनकी निम्न टिप्पणी कितनी महत्त्वपूर्ण है—

"अमर्यादित अर्थ-लालसा समस्या का मूल है। पूजीपति शोषण की सुरक्षा दान की आड मे चाहते हैं। पर अब वह युग बीत गया है। पूंजीपति यदि संग्रह के विसर्जन की बात नही समझे तो वैषम्य का चालू प्रवाह न एटमबम और उद्जनबम से रुकेगा और न अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण से। आज के त्रस्त जन-हृदय में विप्लव है।..........संग्रह की निष्ठा आज हिंसा को निमंत्रण है। आवश्यकताओ का अल्पीकरण अपरिग्रह की दिशा है। यही पूजीवाद और साम्यवाद के तनाव को मिटाने का व्यवहार्य मार्ग है।'[1]

उनके इसी समाधायक व्यक्तित्व से प्रभावित होकर भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिह ने हजारो की उपस्थिति में आचार्यश्री के चरणों मे अपनी भावना प्रस्तुत करते हुए कहा—"आपको सरकार की नहीं, अपितु सरकार को आपकी जरूरत है।"

धर्म और विज्ञान

धर्म और विज्ञान को विरोधी तत्त्व मानकर बहुत सारे धर्माचार्य विज्ञान की उपेक्षा करते रहे हैं। यही कारण है कि अध्यात्म और विज्ञान परस्पर लाभान्वित नही हो सके। आचार्य तुलसी ने इस दिशा मे एक नई पहल करते हुए दोनो मे सामंजस्य स्थापित करने का सफल प्रयत्न किया है। वे धर्म और विज्ञान को एक ही सिक्के के दो पहलू मानते है जिनको कि अलग नही किया जा सकता। वे बहुत स्पष्ट शब्दो मे कहते हैं कि धर्म की तेजस्विता विज्ञान से ही संभव है, क्योकि विज्ञान प्रयोग से जुड़ा होने के कारण धर्म को रूढ होने से बचाता है। साथ ही प्रकृति के रहस्यो का उद्घाटन करके विज्ञान ने जो शक्ति मानव के हाथों मे सौंपी है, उस शक्ति का सही उपयोग धार्मिक हाथों से ही संभव है।[2]

उनका अनुभव है कि धर्म और विज्ञान एक-दूसरे के पूरक और सापेक्ष होकर चले तो भारतीय संस्कृति में नव उन्मेष संभव है। क्योकि विज्ञान जहां बाह्य सुख-सुविधा प्रदान करता है, वहां अध्यात्म आन्तरिक पवित्रता एवं सुख-शांति देता है। सन्तुलित एवं शातिपूर्ण जीवन के लिए दोनो आवश्यक हैं। अन्यथा ये दोनो खण्डित सत्य को ही अभिव्यक्ति देते रहेंगे।"[3]

१. नैतिकता की ओर, पृ० ४।
२. जैन भारती, १४ सितम्बर १९६९।
३. २७-८-६९ के प्रवचन से उद्धृत।

अपने एक प्रवचन मे दोनो की उपयोगिता एव कार्यक्षेत्र पर प्रकाश डालते हुए वे कहते है—"विज्ञान की आशातीत सफलता देखकर लगता है, विज्ञान के बिना मनुष्य की गति नही है। पर साथ ही आंतरिक शक्ति के विकास बिना बाह्य शक्ति का विकास अपूर्ण ही नही, विनाशकारी भी है।[1] एक गेय गीत मे भी वे इस सत्य का सगान करते है—

"कोरी आध्यात्मिकता युग को त्राण नही दे पाएगी,
कोरी वैज्ञानिकता युग को प्राण नही दे पाएगी,
दोनो की प्रीत जुड़ेगी, युगधारा तभी मुड़ेगी।"

उनका सन्तुलित दृष्टिकोण जहा दोनों की अच्छाई देखता है, वहा बुराई की भी समीक्षा करता है। विज्ञान की समालोचना करते हुए वे कहते है—"वर्तमान विज्ञान जड तत्त्वो की छान-बीन मे लगा हुआ है। वह भौतिकवादी दृष्टिकोण के सहारे पनपा है अतः आत्म-अन्वेषण से उदासीन है।" इसी प्रकार धर्म के बारे मे भी उनका चिन्तन स्पष्ट है—"जिस धर्म के सहारे सुख-सुविधा के साधन जुटाए जाते है, प्रतिष्ठा की कृत्रिम भूख को शात किया जाता है, प्रदर्शन और आडम्बर को प्रोत्साहन दिया जाता है, उस धर्म की शरण से शाति नही मिल सकती।"[2]

वे इस बात से चिन्तित है कि वैज्ञानिक आविष्कारो ने पृथ्वी का अनावश्यक दोहन प्रारम्भ कर दिया है। विश्व को पलक झपकते ही समाप्त किया जा सके, ऐसे अणुशस्त्रो का निर्माण हो चुका है। ऐसी स्थिति मे उनका समाधायक मन कहता है कि अध्यात्म ही वह अकुश है, जो विज्ञान पर नियन्त्रण कर सकता है।

धर्म और सम्प्रदाय

साम्प्रदायिकता का उन्माद प्राचीनकाल से ही हिंसा एव विध्वस का ताडव नृत्य प्रस्तुत करता रहा है। इतिहास गवाह है कि एक मुस्लिम शासक ने अपने राज्यकाल के ११ वर्षो मे धर्म और प्रान्त के नाम पर खून की नदिया ही नही बहाईं बल्कि एक ग्रन्थालय का ईधन के रूप मे उपयोग किया, जो १० लाख बहुमूल्य ग्रन्थो से परिपूर्ण था। वे पुस्तके पांच हजार रसोइयों के लिए छह मास के ईन्धन के रूप मे पर्याप्त थी। इस दुष्कृत्य का तार्किक समाधान करते हुए साप्रदायिक अभिनिवेश मे रगा वह शासक बोला—"यदि ये पुस्तके कुरान के अनुकूल है तो कुरान ही पर्याप्त है। यदि कुरान के प्रतिकूल है तो काफिरो की पुस्तको की कोई आवश्यकता नही।" धर्म और मज़हब के नाम से ऐसे भीषण अत्याचारो से इतिहास के पृष्ठ भरे पडे है।

---

१. जैन भारती, १४ सितम्बर १९६९।
२. खोए सो पाए, पृ० ६३।

किसी भी महापुरुष ने धर्म का प्रारम्भ किसी सीमित दायरे मे नहीं किया पर उनके अनुगामी संख्या के व्यामोह मे सम्प्रदाय के घेरे मे बन्ध जाते है तथा धर्म के स्वरूप को विकृत कर देते हैं। सम्प्रदाय के सन्दर्भ में आचार्य तुलसी का चिन्तन बहुत स्पष्ट एवं मौलिक है—"मेरी आस्था इस बात में है कि सम्प्रदाय अपने स्थान पर रहे और उसका उपयोग भी है किन्तु वह सत्य का स्थान न ले। सत्य का माध्यम ही बना रहे, स्वयं सत्य न बने।"[1]

आचार्य तुलसी के अनुसार सप्रदाय के नाम पर मानव जाति की एकता और अखंडता को बांटना अक्षम्य अपराध है। इस सन्दर्भ मे उनका चिन्तन है कि भौगोलिक सीमा, जाति आदि ने मनुष्य जाति को बाटा तो उसका आधार भौतिक था। इसलिए उन्हे दोष नहीं दिया जा सकता पर धर्म-सम्प्रदाय ही मानव जाति को विभक्त कर डाले, यह अक्षम्य है।[2] उनका चिन्तन है कि जो लोगो को बांटते हैं, ऐसे तथाकथित धार्मिकों से तो वे नास्तिक ही भले है, जो धर्म को नही मानते तो धर्म के नाम पर ठगी भी नही करते।[3]

आचार्य तुलसी का मानना है कि साम्प्रदायिक भावनाओ को प्रश्रय देने वाले सप्रदाय खतरे से खाली नही है। उनका भविष्य कालिमापूर्ण है।[4] एक धर्म-सम्प्रदाय के आचार्य होते हुए भी वे स्पष्ट कहते है—"एक संप्रदाय के लोग दूसरे सम्प्रदाय पर कीचड उछालें और यह कहे—धर्म तो हमारे सम्प्रदाय मे है अन्य सब झूठे हैं। हमारे सम्प्रदाय मे आने से ही मुक्ति होगी यह सकुचित दृष्टि समाज का अहित कर रही है।"[5]

आचार्य तुलसी ने अपने साहित्य मे साप्रदायिकता का जितना विरोध किया है उतना किसी अन्य आचार्य ने किया हो, यह इतिहासकारो के लिए खोज का विषय है। अपने एक प्रवचन मे वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं— "संप्रदायवादी बातो से मुझे चिढ हो गयी है। फलतः मुझे ऐसा अभ्यास हो गया है कि मै एक महीने तक निरन्तर प्रवचन करू, उसमे धर्म विशेष का नाम लिए बिना मैं नैतिक बाते कह सकता हूं। मै अपनी प्रवचन सभाओ मे ऐसे प्रयोग करता रहता हू, जिससे कट्टरपन्थी विचारको को भी मुक्तभाव से सोचने का अवसर मिले। इतना ही नही, जहां साप्रदायिक संकीर्णता नही, वह समारोह किसी भी जाति का हो, किसी भी सम्प्रदाय द्वारा आयोजित

१. एक बूंद : एक सागर, पृ० १७२३।
२ जैन भारती, १६ मई १९५४।
३ बहता पानी निरमला, पृ० ९८।
४ जैन भारती, २० अप्रैल १९५८।
५. दक्षिण के अंचल मे, पृ० ७१८।

हो, नैतिक एव आध्यात्मिक मूल्यो की प्रतिष्ठा के लिए मै सदैव उनके साथ हूं और रहूंगा ।[1]

आचार्य तुलसी का स्पष्ट कथन है कि सम्प्रदायो की अनेकता धर्म की एकता को खंडित नही कर सकती क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने आपमे एक सम्प्रदाय है । सम्प्रदाय को मिटाने का अर्थ है—व्यक्ति के अस्तित्व को मिटाना ।[2] साथ ही वे यह भी कहते है कि जिस प्रकार धूप और छाव को किसी घर के अन्दर वन्द नही किया जा सकता, उसी प्रकार धर्म को भी किसी एक सप्रदाय या वर्ग तक सीमित नही किया जा सकता । धर्म तो आकाश की तरह व्यापक है, सप्रदाय तो उसमे झांकने की खिडकिया है ।"

आचार्य तुलसी ने अणुव्रत के मच पर सव धर्म के वक्ताओ को उन्मुक्त भाव से आमन्त्रित किया है । वम्वई मे फादर विलियम अणुव्रत के वारे मे अपने विचार व्यक्त करने लगे । कार्यक्रम समाप्ति पर एक भाई आचार्यश्री के पास आकर वोला—"आपने फादर विलियम को अपने मच पर खडा करके खतरा मोल लिया है । तेरापन्थी भाई उसके भाषण से प्रभावित होकर ईसाई वन जाएगे ।" आचार्यश्री ने उस भाई को उत्तर देते हुए कहा—"एक अन्य सम्प्रदाय का व्यक्ति यदि अपने जीवन पर अणुव्रत के प्रभाव को व्यक्त करता है तो इससे अन्य लोगो को भी अणुव्रती वनने की प्रेरणा मिलती है । इस स्थिति मे यदि कोई तेरापन्थी ईसाई वनता है तो मुझे कोई चिन्ता नही । मै तो ऐसे अनुयायी देखना चाहता हू जो विरोधी तत्त्वो को सुनकर भी अप्रकम्पित रहे ।"[3] इस घटना के आलोक मे उनके उदार एव असाम्प्रदायिक विचारो को पढा जा सकता है ।

रायपुर के अशात एव हिंसक वातावरण मे वे सार्वजनिक प्रवचन मे स्पष्ट शव्दो मे कहते है—"यदि मेरे अनुयायी साम्प्रदायिक अशाति मे योग देने की भावना रखेगे तो मैं उनसे यही कहूगा कि उन्होने आचार्य तुलसी को पहचाना नही है ।" इसी सन्दर्भ मे एक पत्रकार के साथ हुई वार्ता को उद्धृत करना भी अप्रासगिक नही होगा । पत्रकार "आचार्यजी ! क्या आप अणुव्रत के माध्यम से अधिक से अधिक लोगो को तेरापन्थी वनाने की वात तो नही सोच रहे है ? आचार्यश्री—"यदि आप ऐसा सोचते है तो समझिए आप अधकार मे है, असम्भव कल्पना लेकर चलते है ।" अणुव्रत की ओट मे सम्प्रदाय वढाने की वात सोचना क्या जनता के साथ धोखा नही होगा ? मेरी मान्यता है कि अणुव्रत के प्रकाश मे व्यक्ति अपना जीवन देखे और उसे

---

१ एक वूद · एक सागर, पृ० १७२२ ।

२. जैन भारती, १२ नव० १९६१ ।

३. जैन भारती, १८ नव० ६२ ।

सही पथ पर ले चले। फिर चाहे वह जैन, बौद्ध, मुस्लिम या ईसाई कोई भी हो। किसी भी जाति, दल या समाज का हो।"

ऐसे हजारों प्रसंगो को उद्धृत किया जा सकता है जो अणुव्रत के व्यापक, असाम्प्रदायिक और सार्वजनीन स्वरूप को प्रकट करते है।

साम्प्रदायिक उन्माद को दूर करने हेतु उनका चिन्तन है कि जितना बल उपासना पर दिया जाता है, उससे अधिक बल यदि क्षमा, सत्य, सयम, त्याग ·········आदि पर दिया जाए तो धर्म प्रधान हो सकता है और सम्प्रदाय गौण।"[1] उनके विशाल चिन्तन का निष्कर्ष यही है कि धर्म वही कुण्ठित होता है, जहां धार्मिक या धर्मनेता धर्म की अपेक्षा सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा का ख्याल अधिक रखते हैं।"

धार्मिक सद्भाव

आचार्य तुलसी ने धर्म के क्षेत्र मे एकता और समन्वय का उद्घोष किया है। उन्हें इस बात का आश्चर्य होता है कि जो धर्म एक दिन सभी प्रकार के झगडों का निपटारा करता था, उसी धर्म के लिए लोग आपस मे लड रहे है।[2] साम्प्रदायिक उन्माद से होने वाली हिंसा एवं अकृत्य को देखकर वे अनेक बार खेद प्रकट करते हुए कहते हैं "धार्मिक समाज के हीनत्व की बात जब भी मेरे कानो में पडती है, मुझे अत्यन्त पीड़ा की अनुभूति होती है। मैं सहअस्तित्व और समन्वय मे विश्वास करता हूं। इसलिए मैंने सभी समाजो और सम्प्रदायों के साथ समन्वय साधने का प्रयत्न किया है। इस संदर्भ में उनकी निम्न उक्ति मननीय है—"एक धर्माचार्य होते हुए भी मुझे खेद के साथ कहना पडता है कि दो विरोधी राजनेता परस्पर मिल सकते है, शाति से विचार-विनिमय कर सकते है, किन्तु दो धर्माचार्य नही मिल सकते। धर्म गुरुओं की पारस्परिक ईर्ष्या, कलह और विद्वेष को देखकर लगता है पानी मे आग लग गई। बधुओ! मै इस आग को बुझाना चाहता हू। और इसके लिए आप सबका सहयोग चाहता हू।[3]" निम्न दो उद्धरण भी उनके उदार मानस के परिचायक है—

"मै चाहता हूं कि भारत के सभी धर्म फले-फूले। अपनी बात कहता हूं कि मैं किसी धर्म पर आक्षेप करता नही, करना चाहता नही और करने देता नही।"[4]

---

१ क्या धर्म बुद्धिगम्य है ? पृ० १३।

२ विवरण पत्रिका, अप्रैल १९४७।

३ दक्षिण के अचल मे, पृ. ३४५।

४. एक बद : एक सागर, पृ० १७२२।

"मै नही मानता कि धर्म का सम्पूर्ण अधिकारी मै ही हू, दूसरे सव अधार्मिक है। मैं अपने साथ उन सव व्यक्तियो को धार्मिक मानता हू, जिनका विश्वास सत्य मे है, अहिसा मे है, मैत्री मे है।"[1]

जन-जीवन मे समन्वय एव सौहार्द की प्रेरणा भरने हेतु वे अपने साहित्य मे अनेक वार इस वात को दोहराते रहते है—"एक धार्मिक सप्रदाय, इतर धार्मिक सम्प्रदाय के साथ अमानवीय व्यवहार करता है। एक दूसरे पर आक्षेप व छीटाकशी करता है, एक के विचारो को विकृत वनाकर लोगो को भड़कने व वहकाने के लिए प्रचार करता है तो यह अपने आपके साथ धोखा है। अपनी कमजोरी का प्रदर्शन है। अपने दुष्कृत्यो का रहस्योद्घाटन है और अपनी सकीर्ण भावना व तुच्छ मनोवृत्ति का परिचायक है।[2]

उनके असाम्प्रदायिक एव उदार दृष्टि के उदाहरण मे निम्न प्रवचनाश को उद्धृत किया जा सकता है—"मुझसे कई वार लोग पूछते है— सवसे अच्छा कौन-सा धर्म है? मै कहा करता हू—"सवसे अच्छा धर्म वही है, जो धर्मानुयायियो के जीवन मे अहिसा और सत्य की व्याप्ति लाए। जिसका पालन करने वालो का जीवन त्याग, सयम और सदाचरण की ओर झुका हो।[3] वे स्पष्ट उद्घोषणा करते है—"मेरा सम्प्रदाय ही श्रेष्ठ है—यह सोचना धार्मिक उन्माद का प्रतिफल है और चितन शक्ति का दारिद्र्य है।[4]

आचार्य तुलसी धर्म को इतना व्यापक देखना चाहते है कि वहा तव और मम का भेद ही न रहे। वे अपनी मनोभावना प्रकट करते हैं कि मै उस समय का इंतजार कर रहा हू, जव विना किसी जातिभेद के मानव-मानव धर्मपथ पर प्रवृत्त होगा।[5]

आचार्य तुलसी धार्मिक सद्भाव एव समन्वय के परिपोषक है पर उनकी दृष्टि मे धर्म-समन्वय का अर्थ अपने सिद्धातो को ताक पर रखकर अपने आपका विलय करना कतई नही है। पाचो अगुलियो को एक वनाने जैसी काल्पनिक एकता को वे वहुमूल्य नही मानते। वे मानते है कि व्यक्तिगत रुचि, आस्था, मान्यता आदि सदा भिन्न रहेगी, पर उनमे आपसी टकराव न हो, परस्पर सहयोग, सद्भाव एव सापेक्षता वनी रहे, यह आवश्यक है।[6]

---

१ जैन भारती, ९ नवम्वर १९६९।
२ जैन भारती, २० जून १९५४।
३ जैन भारती, ८ अप्रैल १९५६।
४ एक बूद : एक सागर, पृ. ७६४।
५ १-१२-६४ के प्रवचन से उद्धृत।
६. राजपथ की खोज, पृ १८२।

समन्वय की व्याख्या उनके शब्दो में इस प्रकार है—"मेरे अभिमत मे सद्भाव और समन्वय का अर्थ है—मतभेद रहते हुए भी मनभेद न रहे, अनेकता में एकता रहे।[1] अपने विचारों को सशक्त भाषा मे रखें पर दूसरो के विचारों को काटकर या तिरस्कृत करके नहीं। स्वयं द्वारा स्वीकृत सही सिद्धांतो के प्रति दृढ विश्वास रहे पर दूसरो के विचारो के प्रति सहिष्णुता हो।[2] आचार्य तुलसी के विचार मे सर्वधर्मसद्भाव का विचार अनाग्रह की पृष्ठभूमि पर ही फलित हो सकता है।

सर्वधर्म एकता के लिए उन्होने रायपुर चातुर्मास (सन् १९७०) मे त्रिसूत्री कार्यक्रम की रूपरेखा भी प्रस्तुत की—[3]

१. सभी धर्म-सम्प्रदायो के आचार्य या नेता समय-समय पर परस्पर मिलते रहे। ऐसा होने से अनुयायी वर्ग एक दूसरे के निकट आ सकता है और भिन्न-भिन्न संप्रदायो के बीच मैत्री भाव स्थापित हो सकता है।

२. समस्त धर्मग्रन्थो का तुलनात्मक अध्ययन हो। ऐसा होने से धर्म-सम्प्रदायो मे वैचारिक निकटता बढ सकती है।

३. समस्त धर्मो से कुछ ऐसे सिद्धात तैयार किए जाएं जो सर्वसम्मत हो। उनमे संप्रदायवाद की गंध न रहे, ताकि उनका पालन करने मे किसी भी संप्रदाय के व्यक्ति को कठिनाई न हो।

असाम्प्रदायिक धर्म : अणुव्रत

एक धर्मसंघ एवं सम्प्रदाय से प्रतिबद्ध होने पर भी आचार्य तुलसी का दृष्टिकोण असाम्प्रदायिक रहा है। इस बात की पुष्टि के लिए निम्न उद्धरण पर्याप्त होंगे—

- जैन धर्म मेरी रग-रग मे, नस-नस मे रमा हुआ है, किन्तु साम्प्रदायिक दृष्टि से नही, व्यापक दृष्टि से। क्योकि मैं सम्प्रदाय मे रहता हू पर सम्प्रदाय मेरे दिमाग मे नहीं रहता।
- तेरापंथ किसी व्यक्ति विशेष या वर्गविशेष की थाती नहीं है बल्कि जो प्रभु के अनुयायी हैं, वे सब तेरापंथ के अनुयायी हैं और जो तेरापंथ के अनुयायी हैं, वे सब प्रभु के अनुयायी हैं।[4]
- मैं सोचता हू मानव जाति को कुछ नया देना है तो सांप्रदायिक दृष्टि से नही दिया जा सकता, संकीर्ण दृष्टि से नही दिया जा सकता, व्यापक

---

१. जैन भारती, २१ अप्रैल १९६८।
२. अमृत महोत्सव स्मारिका पृ० १३।
३. समाधान की ओर, पृ. ४२।
४. जैन भारती, २६ जून १९५५।

दृष्टि से ही दिया जा सकता है। यही कारण है कि मैंने सम्प्रदाय की सीमा को अलग रखा और धर्म की सीमा को अलग।"

इसी व्यापक दृष्टिकोण को ध्यान मे रखकर आचार्य तुलसी ने असाम्प्रदायिक धर्म का आंदोलन चलाया, जो जाति, वर्ण, वर्ग, भाषा, प्रांत एव धर्मगत संकीर्णताओ से ऊपर उठकर मानव-जाति को जीवन-मूल्यो के प्रति आकृष्ट कर सके। इस असाम्प्रदायिक मानव-धर्म का नाम है— **'अणुव्रत आंदोलन।'** अणुव्रत को असाम्प्रदायिक धर्म के रूप मे प्रतिष्ठित करने वाला उनका निम्न उद्धरण इसकी महत्ता के लिए पर्याप्त है—

"इतिहास मे ऐसे धर्मो की चर्चा है, जिनके कारण मानव जाति विभक्त हुई है। जिन्हे निमित्त बनाकर लडाइया लडी गई है किन्तु विभक्त मानव जाति को जोडने वाले अथवा सघर्ष को शान्ति की दिशा देने वाले किसी धर्म की चर्चा नही है। क्यो ? क्या कोई ऐसा धर्म नही हो सकता, जो संसार के सब मनुष्यो को एकसूत्र में बांध सके। अणुव्रत को मैं एक धर्म के रूप मे देखता हू पर किसी संप्रदाय के साथ इसका गठबन्धन नही है। इस दृष्टि से मुझे यह स्वीकार करने मे कोई आपत्ति नही है कि अणुव्रत धर्म है, पर यह किसी वर्ग विशेष का धर्म नही है।"[1]

अणुव्रत जीवन को अखड बनाने की बात कहता है। अणुव्रत के अनुसार ऐसा नही हो सकता कि व्यक्ति मदिर मे जाकर भक्त बन जाए और दुकान पर बैठकर क्रूर अन्यायी। अणुव्रत कहता है—"तुम मदिर, मस्जिद, चर्च कही भी जाओ या न जाओ, अगर रिश्वत नही लेते हो, बेईमानी नही करते हो, आवेश के अधीन नही होते हो, दहेज की माग नही करते हो, व्यसनो को निमत्रण नही देते हो, अस्पृश्यता से दूर हो तो सही माने मे धार्मिक हो।"[2]

धार्मिकता के साथ नैतिकता की नयी सोच देकर अणुव्रत ने एक नया दर्शन प्रस्तुत किया है। पहले धार्मिकता के साथ केवल परलोक का भय जुडा था। उसे तोडकर अणुव्रत ने इहलोक सुधारने की बात कही तथा धर्माराधना के लिए कोई खास देश या काल की प्रतिबद्धता निर्धारित नही की।

भारत के गिरते नैतिक एव चारित्रिक मूल्यो को देखकर अणुव्रत ने एक आवाज उठाई—"जिस देश के लोग धार्मिकता का दंभ नही भरते, वहाँ अनैतिक स्थिति होती है तो क्षम्य हो सकती है क्योकि उनके पास कोई

१. बैसाखिया विश्वास की, पृ० ५।
२. एक बूंद : एक सागर, पृ० ४९।

आध्यात्मिक दर्शन नहीं होता, कोई रास्ता दिखाने वाला नहीं होता। किन्तु यह विषम स्थिति महावीर, बुद्ध और गांधी के देश मे हो रही है, जहां से सारे संसार को चरित्र की शिक्षा मिलती थी। भारत की माटी के कण-कण में महापुरुषों के उपदेश की प्रतिध्वनियां हैं। यहां गाव-गाव में मंदिर हैं, मठ हैं, धर्मस्थान हैं, धर्मोपदेशक हैं। फिर भी यह चारित्रिक दुर्बलता! एक अनुत्तरित प्रश्न आज भी आक्रांत मुद्रा में खड़ा है।"[1]

अणुव्रत के माध्यम से आचार्य तुलसी अपने संकल्प की अभिव्यक्ति निम्न शब्दों में करते हैं—"अणुव्रत ने यह दावा कभी नहीं किया है कि वह इस धरती से भ्रष्टाचार की जड़ें उखाड़ देगा। वह सदाचार की प्रेरणा देता है और तब तक देता रहेगा, जब तक हर सुबह का सूरज अन्धकार को चुनौती देकर प्रकाश की वर्षा करता रहेगा।"[2]

अणुव्रत की आचार संहिता से प्रभावित होकर स्वतंत्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा राजेन्द्रप्रसाद अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहते हैं—"अणुव्रत आंदोलन का उद्देश्य नैतिक जागरण और जनसाधारण को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करना है। यह प्रयास अपने आपमे इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसका सभी को स्वागत करना चाहिए। आज के युग में जबकि मानव अपनी भौतिक उन्नति से चकाचौंध होता दिखाई दे रहा है और जीवन के नैतिक और आध्यात्मिक तत्त्वों की अवहेलना कर रहा है, वहां ऐसे आंदोलनों के द्वारा ही मानव अपने संतुलन को बनाए रख सकता है और भौतिकवाद के विनाशकारी परिणामों से बचने की आशा कर सकता है।"

अणुव्रत आंदोलन ने अपने व्यापक दृष्टिकोण से सभी धर्मों के व्यक्तियों को धर्म एव नैतिक मूल्यों के प्रति आस्थावान् बनाया है। वह किसी की व्यक्तिगत आस्था या उपासना पद्धति में हस्तक्षेप नहीं करता। व्यक्ति अपने जीवन को पवित्र एवं चरित्र को उन्नत बनाए, यही अणुव्रत का उद्देश्य है।

अणुव्रत आंदोलन का जन-जन मे प्रचार करते हुए आचार्य तुलसी अपना अनुभव बताते हुए कहते है—"हिन्दुस्तान की एक विशेषता मैंने देखी कि मुझे इस देश मे कोई नास्तिक नहीं मिला। ऐसे लोग, जिन्होंने प्रथम बार में धर्म के प्रति असहमति प्रकट की, किन्तु अणुव्रत धर्म की असाम्प्रदायिक एवं व्यावहारिक व्याख्या सुनकर वे स्वयं को धार्मिक मानने में गौरव की अनुभूति करने लगे।" आचार्य तुलसी के शब्दों मे अणुव्रत आंदोलन के निम्न फलित हैं—

---

१. अनैतिकता की धूप : अणुव्रत की छतरी, पृ० १८०।

२. बैसाखियां विश्वास की, पृ० ४।

१. मानवीय एकता का विकास
२. सह अस्तित्व की भावना का विकास
३. व्यवहार मे प्रामाणिकता का विकास
४. आत्मनिरीक्षण की प्रवृत्ति का विकास
५ समाज मे सही मानदण्डो का विकास।

उच्च आदर्शो को लेकर चलने वाला यह आंदोलन जनसम्मत एवं लोकप्रिय होने पर भी आचरणगत एवं जीवनगत नही हो सका, इस कमी को वे स्वयं भी स्वीकार करते है—"यह वात मैं नि:संकोच रूप से स्वीकार कर सकता हू कि अणुव्रत सैद्धान्तिक स्तर पर जितना लोकप्रिय हुआ, आचरण की दिशा मे यह इतना आगे नही बढ सका। इसका कारण है कि किसी भी सिद्धान्त को सहमति देना वुद्धि का काम है और उसे प्रयोग मे लाना जीवन के वदलाव से सम्वन्धित है।"[1]

फिर भी आचार्य तुलसी अणुव्रत के स्वर्णिम भविष्य के प्रति आश्वस्त है। इसके उज्ज्वल भविष्य की रूपरेखा उनके शब्दो मे यो उतरती है— "इक्कीसवी सदी के भारत का निर्माता मानव होगा और वह अणुव्रती होगा। अणुव्रती गृह सन्यासी नही होगा। वह भारत का आम आदमी होगा और एक नए जीवन-दर्शन को लेकर इक्कीसवी सदी मे प्रवेश करेगा।"[2]

धार्मिक विकृतियां

आचार्य तुलसी के अनुसार धर्मक्षेत्र मे विकृति आने का सवसे वडा कारण धर्म का पूजी के साथ गठवंधन होना है। वे मानते है—"जव-जव धर्म का गठवंधन पूजी के साथ हुआ, तव-तव धर्म अपने विशुद्ध स्थान से खिसका है। खिसकते-खिसकते वह ऐसी डावाडोल स्थिति मे पहुंच गया है, जहा धर्म को अफीम कहा जाता है।"[3] धन और धर्म को जव तक अलग-अलग नही किया जाएगा तव तक धर्म का विशुद्ध स्वरूप जनता तक नही पहुच सकता। धर्म का धन से सम्वन्ध नही है इसको तर्क की कसौटी पर कसकर चेतावनी देते हुए वे कहते है—"मै अनेक वार लोगो को चेतावनी देता हूं कि यदि धर्म पैसे से खरीदा जाता तो व्यापारी लोग उसे खरीद कर गोदाम भर लेते। यह खेत मे उगता तो किसान भारी सग्रह कर लेते।"[4]

जो लोग धर्म के साथ धन की वात जोडकर अपने को धार्मिक मानते हैं, उन पर तीखा व्यग्य करते हुए वे कहते है—"एक मनुष्य ने लाखो रुपया

१ अनैतिकता की धूप . अणुव्रत की छतरी, पृ १६५।
२. एक बूद . एक सागर, पृ. ४८।
३. जैन भारती, २६ जून १९५५।
४. हस्ताक्षर, पृ ३।

ब्लैक में कमाया, उसने दो हजार रुपयों से एक धर्मशाला बनवा दी, एक मंदिर बनवा दिया, अब वह सोचता है कि मानो स्वर्ग की सीढी ही लगा दी, यह दृष्टिकोण का मिथ्यात्व है। धर्म, धन से नहीं, त्याग और संयम से होता है।"[1] इसी संदर्भ में उनकी निम्न टिप्पणी भी मननीय है— "एक तरफ लाखो करोड़ों का ब्लैक तथा दूसरी तरफ लोगों को जूठी पत्तल खिलाकर पुण्य और स्वर्ग की कामना करना सचमुच बड़ी हास्यास्पद बात है।"

धर्मस्थानों में पूंजी की प्रतिष्ठा देखकर उनका हृदय क्रंदन कर उठता है। इस बेमेल मेल को उनका बौद्धिक मानस स्वीकार नहीं करता। धर्मस्थलों में पूंजीकरण के विरुद्ध उनकी निम्न पंक्तियां कितनी सटीक हैं— "तीर्थस्थान, जो भजन और उपासना के केन्द्र थे, वे आज आपसी निंदा और अर्थ की चर्चा के केन्द्र हो रहे हैं। मंदिर, मठ, उपाश्रय और धर्मस्थानों में ऊपरी रूप ज्यादा रहता है। जिसके फर्श पर अच्छा पत्थर जड़ा होता है, मोहरें और हीरे चमकते रहते है, वह मंदिर अच्छा कहलाता है। मूर्ति, जो ज्यादा सोने से लदी होती है, बढ़िया कहलाती है। वह ग्रन्थ, जो सोने के अक्षरों में लिखा जाता है, अधिक महत्वशील माना जाता है। ऐसा लगता है, मानो धर्म सोने के नीचे दब गया है।"[2]

धर्म के क्षेत्र में चलने वाली धांधली एवं रिश्वतखोरी पर करारा व्यंग्य करते हुए उनका कहना है—"यदि दर्शनार्थी मंदिर जाकर दर्शन करना चाहे तो पुजारी फौरन टका सा जवाब दे देगा कि अभी दर्शन नहीं हो सकेंगे, ठाकुरजी पोढे हुए है। लेकिन यदि उससे धीरे से कहा जाए कि भइया! दर्शन करके, इतने रुपये कलश में चढाने है तो फौरन कहेगा— अच्छा! मैं टोकरी बजाता हूं, देखें, ठाकुरजी जागते है या नहीं?"[3]

इसी संदर्भ में उनकी निम्न टिप्पणी भी विचारोत्तेजक है—"लोग भगवान् को प्रसन्न रखने के लिए उन्हे कीमती आभूषणों से सजाते है। उनकी सुरक्षा के लिए पहरेदारों को रखा जाता है। मैं नहीं समझता कि जो भगवान् स्वयं अपनी रक्षा नहीं कर सकता, वह दूसरों की सुरक्षा कैसे कर सकेगा?[4]

महावीर ने अपार वैभव का त्याग करके दिगम्बर एवं अपरिग्रही जीवन जीया पर उनके अनुयायियों ने उन्हें आभूषणों से लाद दिया। दुनिया को अपरिग्रह का सिद्धांत देने वाले महावीर को परिग्रही देखकर वे मृदु

१. प्रवचन पाथेय भाग ९ पृ. १६५।
२. जैन भारती, २९ मार्च १९६४।
३ विवरण पत्रिका, २७ नव० १९५२।
४. जैन भारती, २० मई १९७१।

कटाक्ष करने से नही चूके है—"कही-कही तो हमने महावीर को इतने ठा। वाट से सजा हुआ देखा कि उतना एक सम्राट् भी नही सजता। लाखे करोडो की सपत्ति भगवान के शरीर पर लाद दी जाती है। महावीर स्व अपने इस शरीर को देखकर शायद पहचान भी नही सकेंगे, क्या यह मैं ह हू ? यह सदेह उन्हे व्यथित नही तो विस्मित अवश्य कर देगा।"[1]

धर्म के क्षेत्र में साधन और साध्य की शुद्धि पर आचार्य तुलसी अतिरिक्त वल दिया है। धर्म का गलत उपयोग करने वालो पर उनक व्यग्य पठनीय है—"तम्वाकू पीने वाला कहता है, चिलम सुलगाने को ज। आग दे दो, वडा धर्म होगा। भीख मागने वाला दुआ देता है, एक पैसा दे दो, बड़ा धर्म होगा। इतना ही नही हिंसा और शोषण मे लगा व्यक्ति भी अपने कार्यो पर धर्म की छाप लगाना चाहता है। स्वार्थान्ध व्यक्ति ने धर्म का कितना भयानक दुरुपयोग किया।[2]

धार्मिक की धर्म और भगवान से ही सब कुछ पाने की मनोवृत्ति उनकी दृष्टि मे ठीक नही है। इससे धर्म तो वदनाम होता ही है, साथ ही साथ अकर्मण्यता आदि अनेक विकृतिया भी पनपती है। असत्य और अन्याय की रक्षा के लिए भगवान की स्मृति करने वालो की तीखी आलोचना करते हुए वे कहते है—"जव व्यक्ति न्यायालय मे जाता है, तव भगवान से आशीर्वाद मागकर जाता है और जव जीत जाता है, तव भगवान की मनौती करता है। भगवान यदि झूठो की विजय करता है तो वह भगवान कैसे होगा ? झूठ चलाने के लिए जो भगवान की शरण लेता है, वह भक्त कैसे होगा ? धार्मिक कैसे होगा ?[3]

धर्म मे विकृति आने का एक कारण उनके अनुसार यह है कि धर्म के अनुकूल अपने को न वनाकर धर्म को लोगो ने अपने अनुकूल वना लिया, इससे धर्म की आत्मा मृतप्राय हो गयी है।

धर्म के क्षेत्र मे विकृति के प्रवेश का एक दूसरा कारण उनकी दृष्टि मे यह है कि व्यक्ति का उद्देश्य सम्यक् नही है। धर्म का मूल उद्देश्य चित्त की निर्मलता और आत्मशुद्धि है पर लोगो ने उसे वाह्य वैभव प्राप्त करने के साथ जोड दिया है। गौण को मुख्य वनाने से यह विसगति पैदा हुई है। इस वात की प्रस्तुति वे वहुत सटीक शब्दो मे करते है—"धर्म की शरण पवित्र और शुद्ध वनने के लिए नही ली जाती, वुराई का फल यहा भी न मिले, अगले जन्म मे कभी और कही भी न मिले, इसलिए ली जाती है।

१. वहता पानी निरमला, पृ० ८२।
२. जैन भारती, ६ अप्रैल, १९५८।
३. अनैतिकता की धूप : अणुव्रत की छतरी, पृ० २४०।

तात्पर्य यह है कि वुरा बने रहने के लिए आदमी धर्म का कवच धारण करता है। यही है धर्म के साथ खिलवाड़ और आत्मवंचना।[1]

आचार्य तुलसी अनेक वार इस वात को कहते है—"ऐश्वर्य सम्पदा धर्म का नही, परिश्रम का फल है। धर्म का फल है शाति, धर्म का फल है—पवित्रता, धर्म का फल है—सहिष्णुता और धर्म का फल है—प्रकाश।[2]

अशिक्षा, सामाजिक रूढियो एव विकृतियो की तो जनक है ही, धर्म क्षेत्र मे फैलने वाली विकृतियो मे भी इसका वहुत वडा हाथ है। आचार्य तुलसी ने असाम्प्रदायिक नीति से धर्मक्षेत्र मे पनपने वाली विकृतियो की ओर अंगुलिनिर्देश ही नही किया, रूपान्तरण एव परिष्कार का प्रयास भी किया है। काव्य की निम्न पक्तियों मे वे रूढ धार्मिकों को चेतावनी दे रहे है—

इस वैज्ञानिक युग में ऐसे धर्म न चल पाएंगे।
केवल रूढिवाद पर जो चलते रहना चाहेंगे॥

पदयात्रा के दौरान उनके प्रवचनो से प्रभावित होकर भी अनेक लोगो ने धार्मिक रूढियो का परित्याग किया है। दिनाक २८ अगस्त १९६९ की घटना है। आचार्य तुलसी कर्नाटक प्रदेश की यात्रा पर थे। एक गाव मे उन्होने देखा कि एक जुलूस निकल रहा है। वह जुलूस राजनैतिक नही, अपितु धर्म और भगवान् के नाम पर था। जुलूस के साथ अनेक निरीह प्राणियो का झुंड चल रहा था। जुलूस का प्रयोजन पूछने पर ज्ञात हुआ कि अकाल की स्थिति को दूर करने के लिए भगवान् को प्रसन्न करने के लिए यह उपक्रम किया गया है। आचार्य तुलसी ने सायंकालीन प्रवचन सभा मे ग्रामवासियो को प्रतिवोधित करते हुए कहा—"प्राकृतिक प्रकोप से सघर्ष करके उस पर विजय पाना तो वुद्धिगम्य है पर वेचारे निरीह प्राणियो की वलि देकर देवता को प्रसन्न करना तो मेरी समझ के वाहर है……… आज के वैज्ञानिक युग मे भी ऐसे क्रूरतापूर्ण कार्य सार्वजनिक रूप से हो, और उसे शिक्षित एव सभ्य कहलाने वाले लोग देखते रहे, इससे वड़ी चिंता एवं शर्म की वात क्या हो सकती है?[3] राजस्थान के अनेको गावो मे आचार्य तुलसी की प्रेरणा से लोग इस वलि प्रथा से मुक्त हुए है।

धर्मक्षेत्र मे पनपी विकृतियो को दूर करने के लिए आचार्य तुलसी तीन उपाय प्रस्तुत करते है—

१ हमारे विचार शुद्ध, असकीर्ण और व्यापक हो।
२. विचारो के अनुरूप ही हमारा आचार हो।

---

१ रामराज्य पत्रिका (कानपुर), अक्टू०, १९५८।
२. क्या धर्म वुद्धिगम्य है? पृ० ९।
३ जैन भारती, २३ मार्च १९६९।

३. हम सत्य के पुजारी हों।[1]

पर इसके लिए वे उपदेश को ही पर्याप्त नही मानते। इसके साथ शोध, प्रयोग और प्रशिक्षण भी जुडना आवश्यक है।

उनका अनुभव है कि जब तक धर्म मे आयी विकृतियो का अत नही होगा, धार्मिको का धर्मशून्य व्यवहार नही बदलेगा, देश की युवापीढी धर्म के प्रति आस्था नही रख सकेगी।"[2] वे दृढविश्वास के साथ कहते है—"धर्म के क्षेत्र मे पनपने वाली विकृतियो को समाप्त कर दिया जाए तो वह अधकार मे प्रकाश बिखेर देता है, विषमता की धरती पर समता की पौध लगा देता है, दु:ख को सुख मे बदल देता है और दृष्टिकोण के मिथ्यात्व को दूर कर व्यक्ति को यथार्थ के धरातल पर लाकर खडा कर देता है। यथार्थदर्शी व्यक्ति धर्म के दोनो रूपो को सही रूप मे समझ लेता है, इसलिए वह कही भ्रान्त नही होता।"[3]

धर्मक्रांति

भारत की धार्मिक परम्परा मे आचार्य तुलसी ऐसे व्यक्तित्व का नाम है, जिन्होने जड उपासना एव क्रियाकाण्ड तक सीमित मृतप्राय: धर्म को जीवित करने मे अपनी पूरी शक्ति लगाई है। बीसवी सदी मे धर्म के नए एव क्रातिकारी स्वरूप को प्रकट करने का श्रेय आचार्य तुलसी को जाता है। वे अपने संकल्प की अभिव्यक्ति निम्न शब्दो मे करते है—"मै उस धर्म की शुद्धि चाहता हू, जो रूढिवाद के घेरे मे बन्द है, जो एक स्थान, समय और वर्गविशेष मे बदी हो गया है।"

धर्मक्रान्ति के सदर्भ मे एक पत्रकार द्वारा पूछे गए प्रश्न के उत्तर मे वे कहते है—"आचार को पहला स्थान मिले और उपासना को दूसरा। आज इससे उल्टा हो गया है, उसे फिर उल्टा देने को मै धर्मक्राति मानता हू।"[4] उनकी क्रातिकारिता निम्न पक्तियो से स्पष्ट है—"मेरे धर्म की परिभाषा यह नही कि आपको तोता रटन की तरह माला फेरनी होगी। मेरी दृष्टि मे आचार, विचार और व्यवहार की शुद्धता का नाम धर्म है।"[5] इसी सदर्भ मे उनका निम्न उद्धरण भी विचारोत्तेजक है—"मै धर्म को जीवन का अभिन्न तत्त्व मानता हू। इसलिए मै बार-बार कहता हू, भले ही आप वर्ष भर मे धर्मस्थान मे न जाए, मै इसे क्षम्य मान लूगा। बशर्ते कि आप

---

१ जैन भारती, २१ जून १९७०।

२. सफर आधी शताब्दी का, पृ० ८४।

३ विज्ञप्ति स० ८०७।

४. जैन भारती, ३ मार्च १९६८।

५ दक्षिण के अचल मे, पृ. १७६।

कार्यक्षेत्र को ही धर्मस्थान बना ले, मंदिर बना लें।"[1]

आचार्य तुलसी समय-समय पर अपने क्रांतिकारी विचारों को जनता के समक्ष प्रस्तुत करते रहते हैं, जिससे अनेक आवरणों में छिपे धर्म का विशुद्ध और मौलिक स्वरूप जनता के समक्ष प्रकट हो सके। वे धर्म को प्रभावी, तेजस्वी एवं कामयाबी बनाने के लिए उसके प्रयोगात्मक पक्ष को पुष्ट करने के समर्थक हैं। इस संदर्भ में उनका विचार है—"धर्म को प्रायोगिक बनाए बिना किसी भी व्यक्ति को यथेष्ट लाभ नहीं मिल सकता। इसलिए थ्योरिकल धर्म को प्रेक्टिकल रूप देकर इसकी उपयोगिता प्रमाणित करनी है क्योंकि धर्म के प्रायोगिक स्वरूप को उपेक्षित करने से ही अवैज्ञानिक परम्पराओं और क्रियाकाण्डों को पोषण मिलता है।"[2] आचार्य तुलसी ने 'प्रेक्षाध्यान' के माध्यम से धर्म का प्रायोगिक रूप जनता के समक्ष प्रस्तुत किया है। जिससे हजारों-लाखों लोगों ने तनाव मुक्त जीवन जीने का अभ्यास किया है। 'चतुर्थ प्रेक्षाध्यान शिविर' के समापन समारोह पर अपने चिरपोषित स्वप्न को आंशिक रूप में साकार देखकर वे अपना मनस्तोष इस भाषा में प्रकट करते हैं—

"मेरा बहुत वर्षों का एक स्वप्न था, कल्पना थी कि जिस प्रकार नाटक, सिनेमा को देखने, स्वादिष्ट पदार्थों को खाने में लोगों का आकर्षण है, वैसा ही या इससे बढ़कर आकर्षण धर्म व अध्यात्म के प्रति जागृत हो। लोगों को धर्म व अध्यात्म की बात सुनने का निमन्त्रण नहीं देना पड़े, बल्कि आंतरिक जिज्ञासावश और आत्मशान्ति की प्राप्ति के लिये वे स्वयं उसे सुनना चाहें, धार्मिक बनना चाहें और धर्म व अध्यात्म को जीना पसंद करें। मुझे अत्यधिक प्रसन्नता है कि मेरा वह चिर संजोया स्वप्न अब साकार रूप ले रहा है।"[3] आचार्य तुलसी के धर्म सम्बन्धी कुछ स्फुट क्रांत विचारों को यहां प्रस्तुत किया जा रहा है—

"केवल परलोक सुधार का मीठा आश्वासन किसी भी धर्म को तेजस्वी नहीं बना सकता। इस लोक को बिगाड़कर परलोक सुधारने वाला धर्म बासी धर्म होगा, उधार का धर्म होगा। हमें तो नगद धर्म चाहिए। जब भी धर्म करें, हमारा सुधार हो। वह नगद धर्म है—बुराइयों का त्याग।"

केवल भगवान् का गुणगान करने से जीवन में रूपान्तरण नहीं आ सकता। सच्ची भक्ति और उपासना तभी संभव है, जब भगवान् द्वारा

१. एक बूंद : एक सागर, पृ १७११।
२. सफर : आधी शताब्दी का, पृ. ८४।
३. सोचो ! समझो !! भाग ३, पृ० १४१।

प्ररूपित आदर्श जीवन में उतरें। इस प्रसंग मे धार्मिको के स ध
प्रश्न हैं—

- भगवान् का चरणामृत लेने वाले आज बहुत मिल सकते उनकी सवारी पर फूल चढाने वालों की भी कमी नही है भगवान् के पथ पर चलने वाले कितने है ?
- व्यापार मे जो अनैतिकता की जाती है, क्या वह मेरी प्रशंसा से धुल जाने वाली है। दिन भर की जाने वाली ईर्ष्या, ला। एक दूसरे को गिराने की भावना का पाप, क्या मेरे पैरो मे। रखने मात्र से साफ हो जाएगे ? ये प्रश्न मुझे वडा बेचैन देते है।[1]

धर्म मानव-चेतना को विभक्त करके नही देखता। इसी वात वे उदाहरण की भाषा मे प्रस्तुत करते है—

- "जिस प्रकार कुए आदि पर लेवल लगा दिए जाते है 'हिन्दुओ लिए' 'मुसलमानो के लिए' 'हरिजनो के लिए' आदि-आदि क्या धर्म के दरवाजे पर भी कही लेवल मिलता है ? हां। ~ ही लेवल मिलता है—"आत्म उत्थान करने वालो के लिए।"[2]

धर्म की सुरक्षा के नाम पर हिंसा करने वाले साम्प्रदायिक तत्त्वों को प्रतिवोध देते हुए वे कहते है—

- "कहा जाता है–**धर्मो रक्षति रक्षितः** "धर्म की रक्षा करो, धर्म तुम्हारी रक्षा करेगा।" इसका तात्पर्य यह नही कि धर्म को वचाने के लिए अड़गे करो, हिंसाए करो। इसका अर्थ हैं कि धर्म को ज्यादा से ज्यादा जीवन में उतारो, धर्माचरण करो, धर्म तुम्हारी रक्षा करेगा, तुम्हे पतन से वचाएगा।"[3]

इस प्रसग मे राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की मार्मिक एवं प्रेरणा-दायी पक्तियो को उद्धृत करना भी अप्रासगिक नहीं होगा—

हम आड लेकर धर्म की, अव लीन है विद्रोह मे,
मत ही हमारा धर्म है, हम पड़ रहे है मोह मे।
है धर्म वस नि स्वार्थता ही प्रेम जिसका मूल है,
भूले हुए है हम इसे, कैसी हमारी भूल है॥

धर्म के क्षेत्र मे वलप्रयोग और प्रलोभन दोनो को स्थान नही है। इन दोनो विकृतियो के विरुद्ध आचार्य भिक्षु ने सशक्त स्वरो में क्रान्ति की। धर्म भौतिक प्रलोभन एव सुख-सुविधा के लिए नही, अपितु आत्म-शाति के

---

१. एक बूद : एक सागर, पृ. १७०४।
२-३. प्रवचन पाथेय, भाग ९ पृ. ८।

लिए आवश्यक है। जो लोग वाह्य आकर्षण से प्रेरित होकर धर्म करते हैं, वे धर्म का रहस्य नही समझते। इसी क्रांति को वुलंदी दी आचार्य तुलसी ने। वे कहते है—"धर्म के मंच पर यह नही हो सकता कि एक धनवान् अपने चंद चांदी के टुकड़ो के वल पर तथा एक वलवान् अपने डण्डे के प्रभाव से धर्म को खरीद ले और गरीव व निर्वल अपनी निराशा भरी आंखों से ताकते ही रह जाएं। धर्म को ऐसी स्वार्थमयी असंतुलित स्थिति कभी मंजूर नही है। उसका धन और वलप्रयोग से कभी गठवंधन नही हो सकता। उसे उपदेश या शिक्षा द्वारा हृदय-परिवर्तन करके ही पाया जा सकता है।"[1]

आचार्य तुलसी ने स्पष्ट शब्दों मे धर्मक्षेत्र की कमजोरियों को जनता के समक्ष प्रस्तुत किया है। उनके द्वारा की गयी धर्मक्रान्ति ने प्रचण्ड विरोध की चिनगारियां प्रज्वलित कर दी। पर उनका अडोल आत्मविश्वास किसी भी परिस्थिति मे डोला नही। यही कारण है कि आज समाज एवं राष्ट्र ने उनका मूल्याकन किया है। वे स्वयं भी इस सत्य को स्वीकारते हैं—"एक धर्माचार्य धर्मक्रान्ति की वात करे, यह समझ में आने जैसी घटना नही थी। पर जैसे-जैसे समय वीत रहा है, परिस्थितियां वदल रही हैं, यह वात समझ में आने लगी है। मेरा यह विश्वास है कि शाश्वत से पूरी तरह से अनुवंधित रहने पर भी सामयिक की उपेक्षा नही की जा सकती।"

जो धार्मिक विकृतियो को देखकर धर्म को समाप्त करने की वात सोचते हैं, उन व्यक्तियो को प्रतिवोध देने में भी आचार्य तुलसी नही चूके है। इस सदर्भ मे वे सहेतुक अपना अभिमत प्रस्तुत करते है—"आज तथाकथित धार्मिको का व्यवहार देखकर एक ऐसा वर्ग उत्तरोत्तर वढ़ रहा है, जो धर्म को ही समाप्त करने का विचार लेकर चलता है। लेकिन यह वात मेरी समझ में नही आती कि क्या पानी के गंदा होने से मानव पानी पीना ही छोड़ दे? यदि धर्म वीमार है या संकुचित हो गया है तो उसे विशुद्ध करना चाहिए पर उसे समाप्त करने का विचार ठीक नही हो सकता। मेरी ऐसी मान्यता है कि विना धर्म के कोई जीवित नही रह सकता।"[2] धर्म का विरोध करने वालो को भविष्य की चेतावनी के रूप में वे यहां तक कह चुके है—"जिस दिन धर्म की मजवूत जड़े प्रकम्पित हो जाएंगी, इस धरती पर मानवता की विनाशलीला का ऐसा दृश्य उपस्थित होगा, जिसे देखने की क्षमता किसी भी आख में नही रहेगी।"[3]

---

१. जैन भारती, २० जून १९५४।
२. जैन भारती, ३१ मई १९७०।
३. एक बूंद : एक सागर, पृ. ७२५।

राष्ट्र-चिंतन

किसी भी देश की माटी को प्रणम्य बनाने एव कालखड को अमरता प्रदान करने मे साहित्यकार की अहंभूमिका होती है। धर्मनेता होते हुए भी आचार्य तुलसी राष्ट्र की अनेक समस्याओ के प्रति जागरूक ही नही रहे है बल्कि उनके साहित्य मे वर्तमान भारत की समस्याओ के समाधान का विकल्प भी प्रस्तुत है। इसलिए राष्ट्रीय भावना उत्पन्न करने में उनका साहित्य अपनी अहंभूमिका रखता है।

भारत की स्वतंत्रता के साथ अणुव्रत के माध्यम से देश के नैतिक एव चारित्रिक अभ्युदय के लिए आचार्य तुलसी ने स्वय को पूर्णतः समर्पित कर दिया। विशेष अवसरो पर अनेक वार वे इस सकल्प को व्यक्त कर चुके है—"मै देश की चप्पा-चप्पा भूमि का स्पर्श करना चाहता हूं। अपनी पदयात्राओ के द्वारा मै देश के हर वर्ग, जाति, वर्ण एव सम्प्रदाय के लोगो से इंसानियत और भाईचारे के नाते मिलकर उन्हे जीवन के लक्ष्य से परिचित कराना चाहता हू।"[1]

राष्ट्रीयता

राष्ट्रीयता का अर्थ राष्ट्र की एकता एव राष्ट्रीय चेतना से है। रामप्रसाद किचलू कहते है कि यदि कोई कवि या साहित्यकार अपने साहित्य मे देश के गौरव तथा उसकी सास्कृतिक एव सामाजिक चेतना को जगाने का कार्य करता है तो यह कार्य राष्ट्रीय ही है।[2] आचार्य तुलसी की हर पुस्तक मे राष्ट्रीय विचारो की झलक स्पष्टत देखी जा सकती है। राष्ट्र के प्रति दायित्व वोध कराने वाली उनकी निम्न पक्तियां सवमे जोश एव उत्साह भरने वाली हैं—

"प्रत्येक व्यक्ति अपने राष्ट्र से कुछ अपेक्षाए रखता है तो उसे यह भी सोचना होगा कि जिस राष्ट्र से मेरी इतनी अपेक्षाए है, वह राष्ट्र मुझसे भी कुछ अपेक्षाए रखेगा। क्या मै उन अपेक्षाओ को समझ रहा हूं? अव तक मैने अपने राष्ट्र के लिए क्या किया? मेरा कोई काम ऐसा तो नही है, जिससे राष्ट्रीयता की भावना का हनन हो—चिन्तन के ये कोण राष्ट्रीय दायित्व का बोध कराने वाले है।"[3]

---

१ एक बूद : एक सागर, पृ० १७३१।

२. आधुनिक निबध, पृ० १९३।

३ मनहंसा मोती चुगे, पृ० १८६।

आचार्य तुलसी मानते हैं कि राष्ट्र को हम परिवार का महत्व दे, तभी व्यक्ति मे राष्ट्र-प्रेम की भावना उजागर हो सकती है। इस प्रसंग मे उनका निम्न वक्तव्य कितना प्रेरक बन पड़ा है—"व्यक्ति का अपने परिवार के प्रति प्रेम होता है तो वह पारिवारिक जनों के साथ विश्वासघात नही करता है। यदि वैसा ही प्रेम राष्ट्र के प्रति हो जाए तो वह राष्ट्र के साथ विश्वासघात कैसे करेगा? राष्ट्र-प्रेम विकसित हो तो जातीयता, सांप्रदायिकता और राजनैतिक महत्वाकाक्षाए दूसरे नम्बर पर आ जाती है, राष्ट्र का स्थान सर्वोपरि रहता है।"[1]

आचार्य तुलसी ने भारत की स्वतंत्रता के साथ ही जनता के समक्ष यह स्पष्ट कर दिया कि अंग्रेजों के चले जाने मात्र से देश की सारी समस्याओ का हल होने वाला नही है। बाह्य स्वतंत्रता के साथ यदि आतरिक स्वतन्त्रता नही जागेगी तो यह व्यर्थ हो जाएगी। प्रथम स्वाधीनता दिवस पर प्रदत्त प्रवचन का निम्न अंश उनकी जागृत राष्ट्र-चेतना का सबल सबूत है—"कल तक तो अच्छे बुरे की सब जिम्मेदारी एक विदेशी हुकूमत पर थी। यदि देश मे कोई अमंगल घटना घटती या कोई अनुत्तरदायित्वपूर्ण बात होती तो उसका दोष, उसका कलक विदेशी सरकार पर मढ दिया जाता या गुलामी का अभिशाप बताया जा सकता था। लेकिन आज तो स्वतंत्र राष्ट्र की जिम्मेदारी हम लोगों पर है। ·······स्वतंत्र राष्ट्र होने के नाते अब अच्छे बुरे की सब जिम्मेदारी जनता और उससे भी अधिक जन-सेवको (नेताओं) पर है। अब किसी अनुत्तरदायित्वपूर्ण बात को लेकर दूसरो पर दोष भी नही मढ सकते। अब तो वह समय है, जबकि आत्मस्वतंत्रता तथा विश्वशाति के प्रसार मे राष्ट्र को अपनी आध्यात्मिक वृत्तियो का परिचय देना है और यह तभी संभव है जबकि राष्ट्रनेता और राष्ट्र की जनता दोनों अपने उत्तरदायित्व का ख्याल रखे।"[2]

इसी संदर्भ मे स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधानमत्री पंडित नेहरू के मिलन प्रसंग को उद्धृत करना भी अप्रासगिक नही होगा। पडित नेहरू जब प्रथम बार दिल्ली मे आचार्य तुलसी से मिले तो उन्होने कहा—आचार्यजी! आपको क्या चाहिए? आचार्यश्री ने उत्तर देते हुए कहा—पडितजी! हम लेने नही, आपको कुछ देने आए हैं। हमारे पास त्यागी एव पदयात्री साधु कार्यकर्त्ताओ का एक बडा समुदाय है। उसे मैं नवोदित देश के नैतिक उत्थान के कार्य मे लगाना चाहता हूं क्योंकि मेरा ऐसा मानना है

१. तेरापथ टाइम्स, २४ सित. १९९०।
२. सदेश, पृ० २०,२१।

कि आज राष्ट्र राजनैतिक दासता से मुक्त हो गया है पर उसे मानसिक दासता से मुक्त करना अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए हम अणुव्रत आदोलन के माध्यम से देश मे स्वस्थ वातावरण वनाना चाहते है। अपनी वात जारी रखते हुए आचार्य तुलसी ने कहा—"मै राष्ट्र का वास्तविक विकास वडे-वडे वाधो, पुलो और सडको मे नही देखता। उसका सच्चा विकास उसमे रहने वाले मानवो की चरित्रशीलता, सदाचरण, सचाई और ईमानदारी मे मानता हूं। मेरा मानना है कि नैतिकता के विना राष्ट्रीय एकता परिपुष्ट नही हो सकती। अत· नैतिक आदोलन अणुव्रत के कार्यक्रम की अवगति देना ही हमारे मिलन का मुख्य उद्देश्य है"। पडित नेहरू आचार्य तुलसी के इस उत्तर से अवाक् तो थे ही, साथ ही श्रद्धा से नत भी हो गए। तभी से आचार्य तुलसी ने अणुव्रत आदोलन के माध्यम से मानवता की सेवा का व्रत ले लिया। आचार्य तुलसी अनेक वार यह भविष्यवाणी कर चुके है—"जव कभी भारत को स्वर्णिम भारत, अच्छा भारत या रामराज्य का भारत वनना है, अणुव्रती भारत वनकर ही वह इस आकाक्षा को पूरा कर सकता है।[1]

आचार्य तुलसी की स्पष्ट अवधारणा है कि यदि व्यक्तितत्र, समाजतत्र या राजतंत्र नैतिक मूल्यो को उपेक्षित करके चलता है तो उसका सर्वांगीण विकास होना असभव है। कभी-कभी तो वे यहा तक कह देते है—"मेरी दृष्टि मे नैतिकता के अतिरिक्त राष्ट्र की दूसरी आत्मा सभव नही है। विशेप अवसरो पर वे अनेक वार यह सकल्प व्यक्त कर चुके है—"मैं देश मे फैले हुए भ्रष्टाचार और अनैतिकता को देखकर चिंतित हूं। नैतिकता की लौ किसी न किसी रूप मे जलती रहे, मेरा प्रयास इतना ही है।"[2] उनका विश्वास है कि नैतिक आंदोलनो के माध्यम से असत्य से जर्जरित युग मे भी सत्यनिष्ठ हरिश्चन्द्र को खडा किया जा सकता है, जो जीवन की सत्यमयी ज्योति से एक अभिनव आलोक प्रस्फुटित कर सके।"[3]

भारतीय संस्कृति

आचार्य तुलसी का मानना है कि जिस राष्ट्र ने अपनी सस्कृति को भुला दिया, वह राष्ट्र वास्तव मे एक जीवित और जागृत राष्ट्र नही हो सकता। वे भारतीय सस्कृति की गरिमा से अभिभूत है अत देशवासियो को अनेक वार भारत के विराट् सास्कृतिक मूल्यो की अवगति देते रहते है। उनकी निम्न पक्तियां हिंदू सस्कृति के प्राचीन गौरव को उजागर करने वाली है—"जो लोग पदार्थ-विकास मे विश्वास करते हैं, वे असहिष्णु हो सकते है। जो लोग शस्त्रशक्ति में विश्वास करते हैं, वे निरपेक्ष हो सकते हैं।

---

१ मनहंसा मोती चुगे, पृ० ८७।

२,३. एक बूद : एक सागर, पृ० १७०७, १७३१।

जो लोग अपने लिए दूसरो के अनिष्ट को क्षम्य मानते हैं, वे अनुदार हो सकते हैं पर भारतीय संस्कृति की यह विलक्षणता रही है कि उसने पदार्थ को आवश्यक माना पर उसे आस्था का केन्द्र नही माना। शस्त्रशक्ति का सहारा लिया पर उसमे त्राण नही देखा। अपने लिए दूसरों का अनिष्ट हो गया पर उसे क्षम्य नही माना। यहां जीवन का चरम लक्ष्य विलासिता नही, आत्मसाधना रहा; लोभ-लालसा नही, त्याग-तितिक्षा रहा।"[1]

अपने प्रवचनो के माध्यम से वे भारतीय जनता के सोए आत्म-विश्वास एवं अध्यात्मशक्ति को जगाने का उपक्रम करते रहते हैं। इस संदर्भ मे अतीत के गौरव को उजागर करने वाली उनकी निम्न उक्ति अत्यन्त प्रेरक एवं मार्मिक है—"एक समय भारत अध्यात्म-शिक्षा की दृष्टि से विश्व का गुरु कहलाता था। आज वही भारत भौतिक विद्या की तरह आत्मविद्या के क्षेत्र मे भी दूसरो का मुंहताज बन रहा है।....इस सदी मे भी भारतीय संतो, मनीषियों और वैज्ञानिको के मौलिक चिंतन एवं अनुसंधान ने संसार को चमत्कृत किया है। समस्या यह नहीं है कि भारतीय लोगों ने अपनी अन्तर्दृष्टि खो दी। समस्या यह है कि उन्होंने अपना आत्मविश्वास खो दिया।.... "आज सबसे बड़ी अपेक्षा यह है कि भारत अपना मूल्यांकन करना सीखे और खोई प्रतिष्ठा को पुनः अर्जित करे।"[2] इसी व्यापक एवं गहन चिन्तन के आधार पर उनका विश्वास है कि सही अर्थ मे अगर कोई संसार का प्रतिनिधित्व कर सकता है तो भारत ही कर सकता हैं क्योकि भारत की आत्मा मे आज भी अहिंसा की प्राणप्रतिष्ठा हैं। मैं मानता हूं कि यदि भारत आध्यात्मिकता को भुला देगा तो अपनी मौत मर जाएगा।"

छत्तीसवे स्वतत्रता दिवस पर दिए गए राष्ट्र-उद्बोधन मे उनके क्रांतिकारी एव राष्ट्रीय विचारों की झलक देखी जा सकती है, जो सुषुप्त एव मूर्च्छित नागरिको को जगाने मे संजीवनी का कार्य करने वाला है—"एक स्वतंत्र देश के नागरिक इतने निस्तेज, निराश और कुंठित क्यो हो गए, जो अपने विश्वास और आस्थाओ को भी जिंदा नही रख पाते!....

....'एक बड़ा कालखंड बीत जाने के बाद भी यह सवाल उसी मुद्रा मे उपस्थित है कि एक स्वतंत्र राष्ट्र के नागरिको के अरमान पूरे क्यों नही हुए? इस अनुत्तरित प्रश्न का समाधान न आंदोलनों मे है, न नारेबाजी में है और न अपनी-अपनी डफली पर अपना-अपना राग अलापने में है। इसके लिए तो सामूहिक प्रयास की अपेक्षा है, जो जनता के चिंतन को बदल सके,

---

१. क्या धर्म बुद्धिगम्य है?, पृ० ५८

२. अणुव्रत, १६ मार्च, १९९१

लक्ष्य को वदल सके और कार्यपद्धति को वदल सके।"[1]

आचार्यश्री का चिंतन है कि भारतीय सस्कृति सवसे प्राचीन ही नही, समृद्ध और जीवन्त भी है। अत: किसी भी राष्ट्रीय समस्या का हल हमे अपने सास्कृतिक तत्त्वो के द्वारा ही करना चाहिए अन्यथा मानसिक दासता हमे अपनी सस्कृति के प्रति उतनी गौरवशील नही रहने देगी। इसी प्रसग मे उनके एक प्रवचनाश को उद्धृत करना अप्रासगिक नही होगा—"लोग कहते है भारत मे कम्युनिज्म-साम्यवाद आने से शोषण मिट सकता है। मैं उनसे कहूंगा—वे अपनी भारतीय सस्कृति को न भूले। उसकी पवित्रता मे अव भी इतनी ताकत है कि वह शोषण को जड-मूल से मिटा सकती है, अन्याय का मुकावला कर सकती है। उसके लिये विदेशवाद की जरूरत नही है।"[2]

इसी प्रकार निम्न घटना प्रसग मे भी उनकी राष्ट्र के प्रति अपूर्व प्रेम की झलक मिलती है—व्यास गाव मे जोरावरसिह नामक सरदार आचार्यश्री के पास आकर वोला—भारत वदमाशो एव स्वार्थी लोगो का देश है, अत. मै इस देश को छोडकर विदेश जाने की वात सोचता हू। इसके लिए आप मुझे क्या परामर्श देगे?

आचार्य तुलसी गम्भीर स्वरो मे वोले—"तुमको देश बुरा लगा और विदेश अच्छा, वहा क्या कुछ नही हो रहा है? मारकाट क्या वहा नही है? ईरान मे क्या हो रहा है? वहा के कत्लेआम की वात सुनकर तुम पर कोई असर नही हुआ? कम्वोडिया से ४ लाख लोग भाग गए, २० लाख निकम्मे है। मैं समझता हू कि देश खराव नही होता, खराव होता है आदमी।"[3]

पवित्र हिन्दू संस्कृति मे गलत तत्त्वो के मिश्रण से वे अत्यन्त चिन्तित है। ४३ वर्ष पूर्व प्रदत्त उनका निम्न वक्तव्य कितना हृदय-स्पर्शी एवं वेधक है—" भारतीय जीवन से जो सतोष, सहिष्णुता, शौर्य और आत्मविजय की सहज धारा वह रही है वह दूसरो को लाखो यत्न करने पर भी सुलभ नही है। यदि इन गुणो के स्थान पर भौतिक सघर्ष, सत्तालोलुपता या पद की आकांक्षा वढती है तो मै इसे भारत का दुर्भाग्य कहूगा।"

भारतीय सस्कृति के परिप्रेक्ष्य मे उनका वार्तमानिक अनुभव कितना प्रेरणादायी एव मार्मिक वन पडा है—"यह भारत भूमि, जहा राम-भरत की

---

१ वहता पानी निरमला, पृ० २४७।

२ प्रवचन पाथेय भाग ९, पृ० १४३,१४४।

३ सस्मर[illegible] वातायन, पृ० १-२।

मनुहारो मे चौदह वर्ष पादुकाएं राज-सिंहासन पर प्रतिष्ठित रही, महावीर और बुद्ध जहां व्यक्ति का विसर्जन कर विराट बन गए, कृष्ण ने जहां कुरुक्षेत्र में गीता का ज्ञान दिया और गांधीजी संस्कृति के प्रतीक बनकर अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर एक आलोक छोड गए, उस देश मे सत्ता के लिए छीना-झपटी, कुर्सी के लिए सिद्धातों का सौदा, वैभव के लिए अपवित्र प्रतिस्पर्धा और विलासितने हाथो राष्ट्र-प्रतिमा का अनावरण हृदय मे एक चुभन पैदा करता है।"[1]

वे पाश्चात्य संस्कृति की अच्छाई ग्रहण करने के विरोधी नही हैं पर सभी बातो में उनका अनुकरण राष्ट्र के हित मे नही मानते। उनका चिंतन है कि पाश्चात्य संस्कृति का आयात हिंदू संस्कृति के पवित्र माथे पर एक ऐसा धब्बा है, जिसे छुड़ाने के लिए पूरी जीवन-शैली को बदलने की अपेक्षा है। वे विदेशी प्रभाव मे रंगे भारतीय लोगो को यहा तक चेतावनी दे चुके हैं— "हिन्दू सस्कारों की जमीन छोडकर आयातित सस्कृति के आसमान में उडने वाले लोग दो चार लम्बी उडानो के बाद जब अपनी जमीन पर उतरने या चलने का सपना देखेंगे तो उनके सामने अनेक प्रकार की मुसीबते खडी हो जाएंगी।"[2]

भारतीय सस्कृति प्रकृति मे जीने की संस्कृति है पर विज्ञान ने आज मनुष्य को प्रकृति से दूर कर दिया है। प्रकृति से दूर होने का एक निमित्त वे टेलीविजन को मानते हैं। भारतीय जीवन-शैली में दूरदर्शन के बढते प्रभाव से वे अत्यत चिन्तित हैं। इससे होने वाले खतरो की ओर समाज का ध्यान आकृष्ट करते हुए उनका कहना है—"टी०वी० इस युग की संस्कृति है। पर इसने सास्कृतिक मूल्यो पर पर्दा डाल दिया है और पारिवारिक संबंधो की मधुरिमा में जहर घोल दिया है। यह जहर घुली सस्कृति मनुष्य के लिए सबसे बडी त्रासदी है। ......टी०वी० की सस्कृति शोषण की संस्कृति है। यह चुपचाप आती है और व्यक्ति को खाली कर चली जाती है। .... मै मानता हूं कि टी०वी० की संस्कृति से उपजी हुई विकृति मनुष्य को सुखलिप्सु और स्वार्थी बना रही है।"[3]

इन उद्धरणो से उनके कथन का तात्पर्य यह नही निकाला जा सकता कि वे आधुनिक मनोरंजन के साधनो के विरोधी हैं। निम्न उद्धरण के आलोक मे उनके सतुलित एवं सटीक विचारो को परखा जा सकता है— आधुनिक मनोरजन के साधनो की उपयोगिता के आगे प्रश्नचिह्न लगाना

१. राजपथ की खोज, पृ० १३७।
२. एक बूंद · एक सागर, पृ० १६८०।
३. कुहासे मे उगता सूरज, पृ० ४२,४३।

मेरा काम नही है पर यह निश्चित है कि आधुनिकता के प्रयोग मे यदि औचित्य की प्रज्ञा जागृत नही रही तो पारम्परिक सस्कारो की इतनी निर्मम हत्या हो जाएगी कि उनके अवशेप भी देखने को नही मिलेगे। सस्कारो का ऐसा हनन किसी व्यक्ति या समाज के लिए नही, पूरी मानव-सस्कृति के लिए वडा खतरा है।"[1]

भारतीय जीवन-शैली मे विकृति एव अपसस्कृति की घुमपैठ होने पर भी वे इस सस्कृति को विश्व की सर्वोच्च संस्कृति के रूप मे स्वीकार करते है। इस संदर्भ मे उनका निम्न प्रवचनाश उल्लेखनीय है—"विश्व के दूसरे-दूसरे देशो मे छोटी-छोटी वातो को लेकर क्रातिया हो जाती है पर हिंदुस्तानी लोग वहुत-कुछ सहकर भी खामोश रहते है।"

विवेकानन्द की भाति भारतीय सस्कृति के गौरव को विदेशो तक फैलाने की उनकी तीव्र उत्कंठा भी समय-समय पर मुखर होती रहती है। १२ दिस० १९८९ को भारत मे सोवियत महोत्सव हुआ। उस समय भारत की प्राचीन महिमामडित संस्कृति को रूसी युवको के सामने उजागर करने हेतु सरकार को दायित्ववोध देती हुई उनकी निम्न पंक्तिया मार्मिक एव प्रेरक ही नही, उत्कृष्ट राष्ट्र-चेतना का परिचय भी दे रही है—"जिस समय सोवियत संघ की सड़को पर एक तिनका भी गिरा हुआ नही मिलता, उस समय भारत की राजधानी की सडको पर घूमने वाले रूसी युवक उन सडको को किस नजरिए से देखेगे? मिट्टी, पत्थर, काच, कागज, फलो के छिलके आदि क्या कुछ नही विखरा रहता है यहा? और तो क्या, वलगम और श्लेष्म भी सडको की शोभा वढाते है। एक ओर गन्दगी, दूसरी ओर वीमारी के कीटाणु तथा तीसरी ओर केले आदि के छिलको से फिसलने का भय। क्या हमारे देश के विकास की कसौटिया यही है? ... भारतीय लोग अपने जीवन के लिए और अपनी भावी पीढी के लिए नही तो कम से कम उन आगन्तुक यायावरो के मन पर अच्छी छाप छोडने के लिए भी सास्कृतिक और नैतिक मूल्यो की सुरक्षा करे तो देश की छवि उजली रह सकती है। अन्यथा कोई विदेशी दल यहां के लोक-जीवन की उजडी-उखडी शैली को इतिहास के पृष्ठो पर उकेर देगा तो हमारी शताब्दियों-पूर्व की गरिमा खण्ड-खण्ड नही हो जाएगी? ... क्या भारत सरकार और राष्ट्रीय एव सामाजिक सस्थाओ का यह दायित्व नही है कि वे अपने आगंतुक अतिथियो को इस देश की मूलभूत सस्कृति से परिचित कराए? क्या उनके मन पर ऐसी छाप नही छोडी जा सकती, जिसे वे रूस पहुचने के वाद भी पोछ न सके?[2]

१. कुहासे मे उगता सूरज, पृ० १०७।
२. वही, पृ० ७-८।

आचार्य तुलसी ने भारतीय जनता के समक्ष एक नया जीवन दर्शन एवं नई जीवन-शैली प्रस्तुत की है, जिससे युगीन समस्याओं का समाधान कर सही जीवन-मूल्यो को प्रतिष्ठित किया जा सके। उस जीवन-शैली का नाम है—**'जैन जीवन-शैली'**। 'जैन' शब्द मात्र से उसे साम्प्रदायिक नही माना जा सकता। क्योंकि यह भारतीय सस्कृति के मूल्यो पर आधृत है। इस बात को उनके निम्न उद्धरण के आलोक मे भी पढा जा सकता है—"जैन जीवन-शैली मे सकलित सूत्रो मे न तो साम्प्रदायिकता की गध है और न अतिवादी कल्पना का समावेश है। जीवन-निर्माण मे सहायक मानवीय एवं सास्कृतिक मूल्यो को आत्मसात् करने वाली यह जीवन-शैली केवल जैन समाज के लिए ही नही है, मानव मात्र को मानवता का मगल पथदर्शन करने वाली है। यह जीवन-शैली जन-जीवन की सर्वमान्य शैली बन जाए, ऐसी मेरी आकाक्षा है।"[1]

इस शैली के व्यापक प्रचार-प्रसार हेतु आचार्य तुलसी की सन्निधि मे अनेक शिविरो का समायोजन भी किया जा चुका है, क्योकि वे मानते है कि दीपक बोलता नही, जलता है और प्रकाश फैलाता है। यह जीवन-शैली भी बोलने की नही, जीने की शैली है। यह न कोई आदोलन है, न नियमो का समवाय है, न नारा है और न कोई घोषणा-पत्र है। यह है एक मार्ग, जिस पर चलना है और मनुष्यता के शिखर पर आरोहण करना है।[2]

जैन जीवन-शैली के निम्न सूत्र है—

१ सम्यग् दर्शन
२ अनेकांत
३ अहिंसा
४ समण संस्कृति—सम, शम, श्रम
५. इच्छा परिमाण
६ सम्यग् आजीविका
७ सम्यक् सस्कार
८ आहारशुद्धि और व्यसनमुक्ति
९ साधर्मिक वात्सल्य

राष्ट्रीय विकास

आचार्य तुलसी के सम्पूर्ण वाड्मय मे देश की जनता के नाम सैकडों प्रेरक उद्बोधन है। वे स्वय को भारत तक ही सीमित नही मानते, वरन्

---

१. लघुता से प्रभता मिले, पृ० १८७।
२. वही, १८७।

जागतिक मानते है, फिर भी भारत की पावनभूमि मे जन्म लेने के कारण उसके प्रति अपनी विशेष जिम्मेवारी समझते है । उनके मुख से अनेक बार ये भाव व्यक्त होते रहते है—"यद्यपि किसी देशविशेष से मेरा मोह नही है, तथापि मै भारत मे भ्रमण कर रहा हूं, अतः जब तक श्वास रहेगा, मैं राष्ट्र, समाज व सघ के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह करता रहूंगा ।"[1] राष्ट्रीय विकास हेतु वे अनुशासन और मर्यादा की प्राण-प्रतिष्ठा को अनिवार्य मानते है। उनकी अवधारणा है कि अनुशासन और व्यवस्थाविहीन राष्ट्र को पराजित करने के लिए शत्रु की आवश्यकता नही, वह अपने आप पराजित हो जाता है ।

राष्ट्र-निर्माण के नाम पर होने वाली विसगतियो को प्रश्नात्मक शैली मे प्रस्तुत करते हुए वे कडे शब्दो मे कहते है—"क्या राष्ट्र की दूर-दूर तक सीमा बढा देना राष्ट्र-निर्माण है ? क्या सेना बढाना राष्ट्र-निर्माण है ? क्या सहारक अस्त्र-शस्त्रो का निर्माण व सग्रह करना राष्ट्र-निर्माण है ? क्या भौतिक व वैज्ञानिक नए-नए आविष्कार करना राष्ट्र-निर्माण है ? क्या सोना, चांदी और रुपए-पैसो का सचय करना राष्ट्र-निर्माण है ? क्या अन्यान्य शक्तियो व राष्ट्रो को कुचलकर उन पर अपनी शक्ति का सिक्का जमा लेना राष्ट्र-निर्माण है ? यदि इन्ही का नाम राष्ट्र-निर्माण होता है तो मैं जोर देकर कहूगा, यह राष्ट्र-निर्माण नही, बल्कि राष्ट्र का विध्वंस है ।[2]

देश की समस्या को व्यक्त करने वाले प्रश्नो के परिप्रेक्ष्य मे उनके राष्ट्र-चिन्तन के गाभीर्य को समझा जा सकता है— "जिस देश मे करोडो व्यक्तियो को दलित समझा जा रहा है, उन्हे अस्पृश्य माना जा रहा है, उनके सामने भोजन और मकान की समस्या है, स्वास्थ्य और शिक्षा की समस्या है, क्या उस देश मे अपने आपको स्वतन्त्र और सुखी मानना लज्जास्पद नही है ?"[3]

राष्ट्र के विकास मे वे तीन मूलभूत बाधाओ को स्वीकार करते है— "जीवन के प्रति सही दृष्टिकोण का अभाव, आत्म-नियन्त्रण की अक्षमता तथा बढती आकाक्षाए—ये ऐसे कारण है, जो देश को समस्याओ की धधकती आग मे झोक रहे हैं ।"

जिस प्रकार गाधीजी ने 'मेरे सपनो का भारत' पुस्तक लिखी, वैसे ही आचार्य तुलसी कहते है—"मेरे सपनो मे हिन्दुस्तान का एक रूप है, वह इस प्रकार है—

---

१ नैतिक सजीवन, पृ० ९ ।

२ जैन भारती, ९ दिस० १९७३ ।

३ १६-११-७४ के प्रवचन से उद्धृत ।

- देश मे गरीबी न रहे ।
- किसी प्रकार का धार्मिक सघर्ष न हो ।
- कोई किसी को अस्पृश्य मानने वाला न हो ।
- कोई मादक पदार्थों का सेवन करने वाला न हो ।
- खाद्य पदार्थों मे मिलावट न हो ।
- कोई रिश्वत लेने वाला न हो ।
- कोई शोषण करने वाला न हो ।
- कोई दहेज लेने वाला न हो ।
- वोटों का विक्रय न हो ।"[1]

नए वर्ष पर सम्पूर्ण मानव-जाति को उनके द्वारा दिए गए हेय और उपादेय के बोधपाठ राष्ट्र की अनेक समस्याओ को समाहित कर उसे विकास के पथ पर अग्रसर करने वाले है—

"१ मनुष्य क्रूरता के स्थान पर करुणा का पाठ पढे ।
२ स्वार्थ के स्थान पर परमार्थ का पाठ पढे ।
३ अव्रत के स्थान पर अणुव्रत का पाठ पढे ।
४ धर्म-निरपेक्षता के स्थान पर धर्म-सापेक्षता का पाठ पढे ।
५. अलगाववाद और जातिवाद के स्थान पर भाईचारे का पाठ पढे ।
६. प्रान्तवाद और भाषावाद के स्थान पर राष्ट्रीय एकता और मानवीय एकता का पाठ पढे ।
७. धर्म को राजनीति से पृथक् रखने का पाठ पढे ।
८. राजनीति पर धर्म के नियन्त्रण का पाठ पढे ।
९ अपनी ओर से किसी का अहित न करने का पाठ पढे ।

मानव को मानवता सिखाने वाले ये पाठ शैशव को सात्त्विक संस्कारो से संवारेगे, यौवन को उद्धत नही होने देगे और अनुभवप्रवण बुढापे को भारभूत होने से बचाएगे ।"[2]

आचार्य तुलसी ने केवल राष्ट्र की उन्नति एव उत्कर्ष के ही गीत नही गाए, उसकी अधोगति के कारणो का भी विश्लेषण किया है । भारत की वार्तमानिक स्थितियो को देखकर अनेक बार उनके मन मे पीडा के भाव उभर आते है । उनके साहित्य मे अनेक स्थलो पर इस कोटि के विचार पढने को मिलेंगे—" 'स्टैण्डर्ड ऑफ लाइफ' के नाम पर भौतिकवाद, सुविधावाद और अपसंस्कारो का जो समावेश हिन्दुस्तानी जीवन-शैली मे

---

१. एक बूद . एक सागर, पृ० १६७७ ।
२. बैसाखिया विश्वास की, पृ० ११ ।

हुआ है या हो रहा है, वह निश्चित रूप से चिन्तनीय है। बीसवीं सदी के हिन्दुस्तानियों द्वारा की गई इस हिमालयी भूल का प्रतिकार या प्रायश्चित्त इस सदी के अन्त तक हो जाए तो बहुत शुभ है, अन्यथा आने वाली शताब्दी की पीढ़िया अपने पुरखो को कोसे बिना नही रहेगी।''[१]

आचार्य तुलसी का निश्चित अभिमत है कि राष्ट्र का विकास पुरुषार्थ-चेतना से ही सम्भव है। देशवासियो की पुरुषार्थ चेतना को जगाने के लिए वे उन्हे अतीत के गौरव से परिचित करवाते हुए कहते है—''जो भारत किसी जमाने मे पुरुषार्थ एव सदाचार के लिए विश्व के रगमच पर अपना सिर उठाकर चलता था, आज वही पुरुषार्थहीनता एव अकर्मण्यता फैल रही है। मेरा तो ऐसा सोचना है कि हिन्दुस्तान को अगर सुखी बनना है, स्वतन्त्र रहना है तो वह विलासी न बने, श्रम को न भूले।'' इसी सन्दर्भ मे जापान के माध्यम से हिन्दुस्तानियो को प्रतिबोध देती उनकी निम्न पंक्तिया भी देश की पुरुषार्थ-चेतना को जगाने वाली है—''हिन्दुस्तानी लोग बाते बहुत करते है, पर काम करने के समय निराश होकर बैठ जाते है। ऐसी स्थिति मे प्रगति के नए आयाम कैसे खुल पाएगे? जिस देश के लोग पुरुषार्थी होते हैं, वे कही-के-कही पहुच जाते है। जापान इसका साक्षी है। पूरी तरह से टूटे जापान को वहा के नागरिको ने कितनी तत्परता से खडा कर लिया। क्या भारतवासी इससे कुछ सबक नही लेगे?''[२]

राजनीति

किसी भी राष्ट्र को उन्नत और समृद्धि की ओर अग्रसर करने मे सक्रिय, साफ-सुथरी एवं मूल्यो पर आधारित राजनीति की सर्वाधिक आवश्यकता रहती है। आचार्य तुलसी की दृष्टि मे वही राजनीति अच्छी है, जो राज्य को कम-से-कम कानून के घेरे मे रखती है। राष्ट्र के नागरिको को ऐसा स्वच्छ प्रशासन देती है, जिससे वे निश्चिन्तता और ईमानदारी के साथ जीवनयापन कर सके।[3]

देश की राजनीति को स्वस्थ एव स्थिर रूप देने के लिए वे निम्न चिन्तन-बिन्दुओ को प्रस्तुत करते हैं—

१ शासन का लोकतान्त्रिक एव सम्प्रदायनिरपेक्ष स्वरूप अक्षुण्ण रहे। शासन की दृष्टि मे यदि हिन्दू, मुसलमान, अकाली आदि भेद-रेखाए जन्मेगी तो 'भारत' भारत नही रहेगा।

२. सत्य एव अहिंसात्मक आचारभित्ति बनी रहे। हिसा और दोहरी

---

१ एक बूद : एक सागर, पृ० १६७८।

२ बैसाखियां विश्वास की, पृ० ९५।

३ अमृत सदेश, पृ० ५१।

नीति अन्ततः लोकतन्त्र की विनाशक बनेगी।

३. व्यक्तिगत जीवन की पवित्रता एवं सिद्धांतवादी राजनीति का पुनर्स्थापन।

४. चुनाव-पद्धति एव परिणाम को देखते हुए शासनपद्धति मे भी परिवर्तन।

५. चरित्र-हनन की घातक प्रवृत्ति का परित्याग।

६. विधायक आचार-संहिता का निर्माण।

७. नैतिक शिक्षण एवं साम्प्रदायिक सौहार्द।[1]

राजनीति के क्षेत्र मे विद्यार्थियो के गलत उपयोग के वे सख्त विरोधी है। क्योकि इस उम्र मे उनकी कोमल भावनाओ को भडकाकर उन्हे ध्वसात्मक प्रवृत्तियो मे शामिल करने से उनके जीवन की दिशा गलत हो जाती है। इससे न केवल उनका स्वयं का भविष्य ही अधकारमय बनता है, अपितु पूरे राष्ट्र का भविष्य भी धुधलाता है। इस सन्दर्भ में उनका स्पष्ट कथन है—"जिस देश मे विद्यार्थियों को राजनीति का मोहरा बनाकर गुमराह किया जाता है, उनकी शिक्षा मे व्यवधान उपस्थित किया जाता है, उस देश का भविष्य कैसा होगा, कल्पना नही की जा सकती।"[2] इसी सन्दर्भ में उनका निम्न वक्तव्य भी मननीय है—"यदि विद्यार्थियो को राजनीति के साथ जोडा गया तो भविष्य मे यह खतरनाक मोड़ ले सकता है, क्योकि बच्चो के कोमल मानस को उभारा जा सकता है, किन्तु उसका शमन करना सहज नही है।"[3]

संसद

ससद राष्ट्र की सर्वोच्च संस्था है। आचार्य तुलसी मानते है कि देश का भविष्य संसद के चेहरे पर लिखा होता है। यदि वहां भी शालीनता और सभ्यता का भग होता है तो समस्या सुलझने के बजाय उलझती जाती है। वार्तमानिक संसद की शालीनता भंग करने वाली स्थिति का वर्णन करते हुए वे कहते है—"छोटी-छोटी बातो पर अभद्र शब्दो का व्यवहार, हो-हल्ला, छीटाकशी, हगामा और बहिर्गमन आदि ऐसी घटनाएं हैं, जिनसे संसद जैसी प्रतिनिधि संस्था का गौरव घटता है।"[4] सासद जनता के सम्मानित प्रतिनिधि होते है। ससद में उनका तभी तक सत्ता पर बने रहने का अधिकार है, जब तक जनता के मन मे उनके प्रति सम्मान और विश्वास है।

ससद मे कैसे व्यक्तित्व आने चाहिए, इस बात को आचार्य तुलसी

---

१ पांव-पांव चलने वाला सूरज, पृ० २४३।

२ क्या धर्म बुद्धिगम्य है ? पृ० १४४।

३. जैन भारती, ३ जन० १९७१।

४. तेरापन्थ टाइम्स, ३० जुलाई १९९०।

स्वय न कहकर संसद के द्वारा कहलवा रहे हैं। ससद के मुख से उद्गीर्ण उनका वक्तव्य काफी वजनी है—"संसद जनता को चिल्ला-चिल्लाकर कह रही है कि कृपा करके तीन प्रकार के व्यक्तियो को चुनकर ससद मे मत भेजिए—पहले वे, जो परदोपदर्शी है, जो विपक्ष की अच्छाई मे भी बुराई देखने वाले है।.........दूसरे वे, जो कुटिल हैं, मायावी है, नेता नही, अभिनेता है, असली पात्र नहीं, विदूषक की भूमिका निभाने वाले है।.... ... ..सत्ता-प्राप्ति के लिए अकरणीय जैसा उनके लिए कुछ भी नही है। जिस जनता के कंधो पर वैठकर केन्द्र तक पहुंचते हैं, उसके साथ भी धोखा कर सकते है। जिस दल के घोपणा-पत्र पर चुनाव जीतकर आए है, उसकी पीठ मे छुरा भोक सकते है।.. . तीसरे उन व्यक्तियो को मुझसे दूर रखिए, जो असयमी हैं, चरित्रहीन है, जो सत्ता मे आकर राष्ट्र से भी अधिक महत्व अपने परिवार को देते है। देश से भी अधिक महत्त्व अपनी जाति और सम्प्रदाय को देते है। सत्ता जिनके लिए सेवा का साधन नहीं, विलास का साधन है। .. भारतीय संसद भारतीय जनता के द्वार पर अपनी मर्मभेदी पुकार लेकर खड़ी है।"[1]

चुनाव

जनतत्र का सवसे महत्त्वपूर्ण पहलू चुनाव है। यह राष्ट्रीय चरित्र का प्रतिविम्ब होता है। जनतत्र मे स्वस्थ मूल्यो को वनाए रखने के लिए चुनाव की स्वस्थता अनिवार्य है। आचार्य तुलसी का मानना है—"चुनाव का समय देश के भविष्य-निर्धारण का समय है। अभाव और मोह को उत्तेजना देकर लोकमत प्राप्त करना चुनाव की पवित्रता का लोप करना है। जिस देश मे वोट वेचे और खरीदे जाते हैं, उस देश का रक्षक कौन होगा ? ये दोनो वाते जनतत्र की दुश्मन हैं।"[2]

चुनाव के समय हर प्रत्याशी का चिन्तन रहना चाहिए कि राष्ट्र को नैतिक दिशा मे कैसे आगे वढ़ाया जाए ? उसकी एकता और अखण्डता को कायम रखने का वातावरण कैसे वनाया जाए ? लेकिन आज इसके विपरीत स्थिति देखने को मिलती है। भारतीय सस्कृति के परिप्रेक्ष्य मे कुर्सी के लिए होने वाली होड़ की अभिव्यक्ति वे इन शब्दो मे करते है—"जहा पद के लिए मनुहारे होती थी, कहा जाता था—मै इसके योग्य नही हू, तुम्ही संभालो, वहा आज कहा जाता है कि पद का हक मेरा है, तुम्हारा नही। पद के योग्य मै हू, तुम नही।"[3]

आचार्य तुलसी की दृष्टि मे चुनाव मे नैतिकता अनिवार्य शर्त है।

---

१. राजपथ की खोज, पृ० १४१-४२।
२ जैन भारती, १८ फरवरी, १९६८।
३ वही, २२ नव० १९६४।

वे कहते है—"चुनाव चाहे ससद के हो, विधान सभाओ के हो, महाविद्यालयों के हो या अन्य सभा-सस्थाओ के, जहा नीति की वात पीछे छूट जाती है, वहा महासमर मच जाता है।"[1]

चुनाव के समय हर राजनैतिक दल अपने स्वार्थ की वात सोचता है तथा येन-केन-प्रकारेण ज्यादा-से-ज्यादा वोट प्राप्त करने की तरकीबे निकालता है। आचार्य तुलसी का मंतव्य है कि जव तक शासक और जनता को लोकतत्र के अनुसार प्रशिक्षित एव दीक्षित नही किया जाएगा, तव तक लोकतत्र सुदृढ नही वन सकता। वे अपने विशिष्ट लहजे मे कहते है कि आश्चर्य तो तव होता है, जव कई अगूठे छाप व्यक्ति भी जनता द्वारा निर्वाचित होकर ससद मे पहुंच जाते है।"[2]

मतदान की प्रक्रिया मे शुद्धि न आने के वे तीन कारण स्वीकारते है—अज्ञान, अभाव एव मूढ़ता। इस सन्दर्भ मे उनकी निम्न टिप्पणी पठनीय है—"अनेक मतदाताओ को अपने हिताहित का ज्ञान नही है, इसलिए वे हित-साधक व्यक्ति या दल का चुनाव नही कर पाते। अनेक मतदाता अभाव से पीड़ित है। वे अपने मत को रुपयो मे वेच डालते हैं। अनेक मतदाता मोहमुग्ध है, इसलिए उनका मत शराव की वोतलो के पीछे लुढक जाता है।"[3]

इसी प्रसग मे उनकी निम्न टिप्पणी जनता की आंखो को खोलने वाली है—"जो जनता अपने वोटो को चद चादी के टुकडो मे वेच देती हो, सम्प्रदाय या जाति के उन्माद मे योग्य-अयोग्य की पहचान खो देती हो, वह जनता योग्य उम्मीदवार को संसद मे कैसे भेज पाएगी?"[4] उनके विचारो से स्पष्ट है कि स्वच्छ प्रशासन लाने का दायित्व जनता का है। चुनाव के समय वह जितनी जागरूक होगी, उतना ही देश का हित होगा।

आचार्य तुलसी ने अणुव्रत के माध्यम से चुनावी वातावरण को स्वस्थ वनाने का प्रयत्न किया है। उनका मानना है कि चुनाव का माहौल तूफान से भी अधिक भयंकर होता है। उस समय अणुव्रत के माध्यम से नैतिकता का एक छोटा-सा दीप भी जलता है तो कम-से-कम वह प्रकाश के अस्तित्व को तो व्यक्त करता ही है। यदि चुनाव को पवित्र संस्कार नही दिया गया तो भारत की त्यागप्रधान परम्परा दुर्वल एवं क्षीण हो जाएगी।"[5]

---

१. विज्ञप्ति स० ८९९।
२ अणुव्रत, १ फरवरी, १९९१।
३ राजपथ की खोज, पृ० १२८।
४ जैन भारती, १८ फरवरी, १९६८।
५. विज्ञप्ति सं० ९७२।

चुनाव-शुद्धि की दृष्टि से उन्होंने अणुव्रत के माध्यम से मतदाता और उम्मीदवार की एक नैतिक आचार-संहिता तो प्रस्तुत की ही है, साथ ही अपने प्रवचनो एव निवन्धो मे भी अनेक महत्त्वपूर्ण मुद्दो को उठाकर जनता को प्रशिक्षित किया है। चुनावशुद्धि के सन्दर्भ मे दिए गए उनके तीन विकल्प अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—

पहला—हम विजयी वने या न बने, पर चुनाव मे भ्रष्ट तरीको का प्रयोग नही करेगे।

दूसरा—सत्तारूढ़ दल चुनाव-शुद्धि के लिए सकल्पवद्ध हो।

तीसरा—जनमत जागृत हो।"[1]

सांसद एवं विधायक

लोकतत्र मे शासनतत्र की वागडोर जनता द्वारा चुने गए सासदों और विधायकों के हाथो मे होती है। लोकतत्र की यह दुर्वलता है कि (सांसदो) विधायको का चुनाव अर्हता, गुणवत्ता एव योग्यता के आधार पर न होकर, दल या सस्था के आधार पर होता है। इससे राजनीति स्वस्थ नही वन सकती। आचार्य तुलसी का मानना है कि राष्ट्रीय चरित्र अपने चरित्र को भारतीय मूल्यों एव आदर्शों के अनुरूप ढाले, यह अत्यन्त आवश्यक है। अत. प्रत्याशियो को प्रतिवोध देते हुए वे कहते है—"लोगो मे चुनाव के लिए पार्टी का टिकट पाने की जितनी उत्सुकता होती है, उतनी उत्सुकता यदि योग्य वनने की हो तो कितना अच्छा काम हो सकता है।"[2]

चुनाव के माहौल मे एक पत्रकार द्वारा पूछा गया प्रश्न कि हम किसको वोट दे, का उत्तर देते हुए वे कहते है—"इस प्रसग मे पार्टी, पक्ष, विपक्ष, सम्प्रदाय, जाति आदि के लेवल को नजरअदाज कर सही व्यक्ति की खोज करनी चाहिए। अणुव्रत के अनुसार उस व्यक्ति की पहचान यह हो सकती है—जो नैतिक मूल्यो के प्रति आस्थाशील हो, ईमानदार हो, निर्लोभी हो, सत्यनिष्ठ हो, व्यसनमुक्त हो तथा निष्कामसेवी हो।"[3] इसी सन्दर्भ मे उनका दूसरा वक्तव्य भी स्वस्थ राजनीतिज्ञ की अनेक विशेषताओ को उजागर करने वाला है—"स्वस्थ राजनीति मे ऐसे नेतृत्व की आवश्यकता है, जो निष्पक्ष हो, सक्षम हो, सुदृढ हो, स्पष्ट व सर्वजनहिताय का लक्ष्य लेकर चलने वाला हो।"

सासद और विधायक के रूप मे वे ऐसे व्यक्तित्व की कल्पना करते हैं,

---

१ एक बूद ' एक सागर, पृ० ५८५।

२. उद्‌बोधन, पृ० १२९।

३. जीवन की सार्थक दिशाए, पृ० ३६।

जो शिखर पर बैठकर भी तलहटी से जुड़ा रहे। जो देश की समस्याओ से जूझने के हिमालयी सकल्प की पूर्ति के साधन जुटाता रहे और अंतिम पक्ति मे खडे व्यक्ति को भी सडक पर फेके गये केले के छिलकों-सी नियति न समझे।

सासदो और विधायको का सही चयन हो इसके लिए उनका अमूल्य सुझाव है—"राजनीति का चेहरा साफ-सुथरा रहे, इसके लिए अपेक्षित है कि इस क्षेत्र मे आने वाले व्यक्तियो के चरित्र का परीक्षण हो। आई क्यू टेस्ट की तरह करेक्टर टेस्ट की कोई नई प्रविधि प्रयोग मे आए।"[1]

आचार्य तुलसी का विचार है कि लोकतत्र में सत्ता पाने का प्रयत्न एकान्ततः बुरा नही है पर नैतिकता और सिद्धान्तवादिता को दूर रखकर हिंसा, उच्छृंखलता द्वारा केवल सत्ता पाने का प्रयत्न जनतत्र का कलक है।"[2] आज की दूषित राजनीति का आकलन करते हुए वे कहते है—"राष्ट्रहित और जनहित की महत्त्वाकांक्षा व्यक्तिहित और पार्टीहित के दवाव से नीचे बैठती जा रही है। सत्ता के स्थान पर स्वार्थ आसीन हो रहा है। जनता के दुःख-दर्द को दूर करने के वायदे चुनाव घोषणा-पत्र की स्याही सूखने से पहले विस्मृति के गले मे टंग जाते है।"[3] राजनेताओं की सत्तालोलुपता को उन्होने गांधी के आदर्श के समक्ष कितने तीखे व्यंग्य के साथ प्रस्तुत किया है—"गाधी ने कहा था—'मेरा ईश्वर दरिद्र-नारायणों मे रहता है।' आज यदि उनके भक्तो से यही प्रश्न पूछा जाए तो संभवतः यही उत्तर मिलेगा कि हमारा ईश्वर कुर्सी मे रहता है, सत्ता में रहता है, झोपडी मे रहने वाला ईश्वर आज प्रासाद मे रहने लगा है। इससे अधिक गाधी के सिद्धान्तो का मजाक और क्या हो सकता है?"[4]

चुनाव के समय होने वाले सघर्ष तथा उसके परिणामो को प्रकट कर विधायको की ओर अंगुलिनिर्देश करने वाली उनकी निम्न टिप्पणी यथार्थ का उद्घाटन करने वाली है—"ऐसा लगता है राजनीतिज्ञ का अर्थ देश मे सुव्यवस्था वनाए रखना नही, अपनी सत्ता और कुर्सी वनाए रखना है। राजनीतिज्ञ का अर्थ उस नीतिनिपुण व्यक्तित्व से नही, जो हर कीमत पर राष्ट्र की प्रगति, विकास-विस्तार और समृद्धि को सर्वोपरि महत्त्व दे, किन्तु उस विदूषक-विशारद व्यक्तित्व से है, जो राष्ट्र के विकास और समृद्धि को अवनति के गर्त मे फेककर भी अपनी कुर्सी को

१. वैसाखिया विश्वास की, पृ० ९७।
२. १-३-६९ के प्रवचन से उद्धृत।
३. जैन भारती, १ फरवरी, १९७०।
४. अणुव्रत : गति प्रगति, पृ० १८७।

सर्वोपरि महत्त्व देता है।"[1]

वे इस बात को मानकर चलते है कि राजनैतिक लोगो से महात्मा बनने की आशा नही की जा सकती, पर वे पशुता पर उतर आएं, यह ठीक नही है। अतः राजनीतिज्ञो को प्रेरणा देते हुए वे कहते हैं—"यदि राजनीतिज्ञ स्थायी शाति चाहते है तो उन्हे हिंसा के स्थान पर अहिंसा, प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोगिता और हृदय की वक्रता के स्थान पर सरलता को अपनाना होगा।"[2]

यदि शासक मे विलासिता, आलस्य और कदाचार है तो देश को अनुशासन का पाठ कौन पढ़ाएगा? अत: सत्ताधीशो के विलासी जीवन पर कटाक्ष करने से भी वे नही चूके है—"देखा जाता है कि एक ओर लोगो के पास चढने को साइकिल भी नही है और दूसरी ओर नेता लोग लाखो रुपयो की कीमती कारो मे घूमते है। एक ओर देश के लाखो-लाखो व्यक्तियो को झोपडी भी उपलब्ध नही है और दूसरी ओर नेता लोग एयरकडीशन बगलो मे रहते है। पिता मिठाई खाए और बच्चे भूखे मरे, क्या यह भी कोई न्याय है?"[3]

सत्तादल और प्रतिपक्ष दोनो को ही छीटाकशी एव विद्वेष को भुलाकर एकता एवं सामजस्य की प्रेरणा वे कितने तीखे एवं सटीक शब्दो मे दे रहे है—"दोनो ही दलो को यह चिन्ता कहा है कि हमारी आपसी लडाई से ५० करोड (वर्तमान मे ८५ करोड) जनता का कितना अहित हो रहा है? विरोधी राष्ट्रो को इससे लाभ उठाने का कैसा अवसर मिल रहा है?"[4] वे अनेक बार यह दृढ विश्वास व्यक्त कर चुके है कि यदि चरित्रसम्पन्न व्यक्ति राजनीति के रथ को हाकते रहेगे तो उसके उत्पथ में भटकने की सभावना क्षीण हो जाएगी।"[5]

लोकतंत्र

वर्तमान मे भारत सबसे बडा लोकतान्त्रिक देश है। आचार्य तुलसी का मानना है कि लोकतंत्र एक जीवित तत्र है, जिसमे सबको समान रूप से अपनी-अपनी मान्यताओ के अनुसार चलने की पूरी स्वतंत्रता होती है। लोकतंत्र की नीव जनता के मतो पर टिकी होती है। यदि मत भ्रष्ट हो जाए तो प्रशासन तो भ्रष्ट होगा ही।[6] इस संदर्भ मे उनके निम्न उद्धरण

१-२ एक बूंद एक सागर, पृ० ११६२।
३ जैन भारती, ५ जुलाई, १९७०।
४. वही, ३० नव० १९६९।
५. बैसाखियां विश्वास की, पृ० ९७।
६. राजपथ की खोज, पृ० १२८।

लोकतत्र के हृदय को छूने वाले है—

"वोटो के गलियारे मे सत्ता के सिंहासन तक पहुचने की आकाक्षा और जैसे-तैसे वोट बटोरने का मनोभाव—ये दोनों ही लोकतत्र के शत्रु है। लोकतत्र मे जिस ढंग से वोटो का दुरुपयोग हो रहा है, उसे देखकर इस तत्र को लोकतत्र कहने का मन नही होता।"[1]

सत्ता और सम्पदा के शीर्ष पर बैठकर यदि जनतंत्र के आदर्शो को भुला दिया जाता है तो वहा लोकतंत्र के आदर्शों की रक्षा नही हो सकती। इस सदर्भ मे उनका मौलिक मतव्य है—"तत्र के व्यासपीठ पर जो व्यक्ति बैठता है, उसकी दृष्टि जन पर होनी चाहिए, तत्र या पार्टी पर नही। आज जन पीछे छूट गया है तथा तत्र आगे आ गया है। इसी कारण हिसा भडक रही है। मेरी दृष्टि मे वही लोकतत्र अधिक सफल होता है, जिसमे आत्मतंत्र का विकास हो, अन्यथा जनतंत्र मे भी एकाधिपत्य, अव्यवस्था और अराजकता की स्थितिया उभर सकती है।"[2]

लोकतत्र की मूलभूत समस्याओ की ओर इगित करते हुए आचार्य तुलसी का कहना है—"जब राष्ट्र मे हिंसा और आतक के स्फुलिंग उछलते है, सम्प्रदायवाद सिर उठाता है, जातिवाद के आधार पर वोटो का विभाजन होता है, अस्पृश्यता के नाम पर मनुष्य के प्रति घृणा का भाव बढता है, तब लोकतत्रीय चेतना मूर्च्छित हो जाती है।" लोकतत्र के प्रासाद को सुदृढ आधार प्रदान करने के लिए वे चार स्तम्भों को आवश्यक मानते है—"स्वतंत्रता, सापेक्षता, समानता और सह-अस्तित्व। इनके बिना लोकतत्र का अस्तित्व टिक नही सकता।"[3]

स्वतंत्रता के सदर्भ मे उनका चिन्तन है कि उसका सही उपयोग होना चाहिए। यदि स्वतंत्रता का दुरुपयोग होता है तो लोकतंत्र की पवित्रता समाप्त हो जाती है। वर्तमान मे स्वतंत्रता के नाम पर होने वाली अवाछनीय बातों की ओर सकेत करते हुए वे खुले शब्दो मे कहते है—"आज लोकतत्र के नाम पर बोलने की स्वतंत्रता का उपयोग गाली-गलोच मे हो रहा है। लिखने की स्वतंत्रता का उपयोग किसी के मर्मोद्घाटन और किसी पर आरोपो की वर्षा से किया जा रहा है। चिन्तन और आचरण की स्वतत्रता ने लोगो को अपनी संस्कृति, सभ्यता और नैतिक मूल्यों से दूर धकेल दिया है। पीडक दुश्चक्र तो यह है कि अधिकाश व्यक्तियो को इस स्थिति की चिन्ता भी नही है।"[4] लोकतांत्रिक प्रणाली मे जनता

---

१. मनहसा मोती चुगे, पृ० ८६।
२ जैन भारती, २२ जून, १९८६।
३. एक बूद : एक सागर, पृ० ११९५।
४ अणुव्रत पाक्षिक, १ फर, १९९१।

को लिखने, बोलने, सोचने और करने की स्वतंत्रता होती है। जनता के स्वतत्र अधिकारो का हनन करने वाले शासको के समक्ष आचार्य तुलसी चेतावनी की भाषा मे प्रश्न उपस्थित करते है—"जिस देश के शासक यह कहते हैं कि जनता को सोचने की जरूरत नही है, सरकार उसके लिए देखेगी। जनता को बोलने की अपेक्षा नही है, सरकार उसके लिए बोलेगी और जनता को कुछ करने की जरूरत नही है, सरकार उसके लिए करेगी। क्या शासक इन घोषणाओ के द्वारा जनता को पगु, अशक्त और निष्क्रिय बनाकर लोकतंत्र की हत्या नही कर रहे हैं ?"[1]

समानता लोकतत्र का हृदय है। आचार्य तुलसी कहते है—"कुछ लोग कोठियो मे रहे, कुछ को फुटपाथ पर रात वितानी पडे, यह विषमता आज के विश्व को मान्य नही हो सकती क्योकि इसकी अंतिम परिणति हिंसा और संघर्ष है।"[2] लोकतत्र के सदर्भ मे समानता को स्पष्ट करने वाली डा० अम्बेडकर की निम्न पक्तिया उल्लेखनीय है—"प्रत्येक बालिग स्त्री पुरुष को मतदान का अधिकार देकर सविधान ने राजनीतिक समता तो ला दी किंतु आर्थिक और सामाजिक समता अभी आयी नही है। यदि इस दिशा मे भारत ने सफल प्रयत्न नही किया तो राजनीतिक समता निकम्मी सिद्ध होगी, सविधान टूट जाएगा।"

आचार्य तुलसी अनेक बार इस चिंतन को अभिव्यक्ति दे चुके है कि यदि देश के लोकतत्र को मजबूत और सगठित बनाना है तो मत्रियो, सासदो और विधायको को प्रशिक्षित करना होगा। इसी बात की प्रस्तुति व्यग्यात्मक शैली मे पठनीय है—"मुझे बडा आश्चर्य होता है कि इन मत्रियो, विधायको आदि को कोई प्रशिक्षण नही मिलता, जबकि एक वकील, इजीनियर या डाक्टर को पहले प्रशिक्षण लेना पडता है। मैं सोचता हू कि विधायको के लिए भी एक प्रशिक्षण केन्द्र होना आवश्यक है।" विना प्रशिक्षण चुनाव मे कोई उम्मीदवार के रूप मे खडा न हो। मेरा विश्वास है—अणुव्रत यह प्रशिक्षण देने मे समर्थ है।"[3]

राष्ट्रीय एकता

अनेकता मे एकता भारतीय सस्कृति का आदर्श रहा है। यहा अनेक धर्म, सम्प्रदाय, जाति, वर्ण, प्रान्त एव राजनैतिक पार्टिया है, पर भिन्नता और अनेकता होने मात्र से सास्कृतिक एव राष्ट्रीय एकता को विघटित नही किया जा सकता। आचार्य तुलसी का मंतव्य है कि भिन्नताओ का लोप कर

---

१ सफर · आधी शताब्दी का, पृ० ९८।
२. एक बूद · एक सागर, पृ० १२७२।
३. जैन भारती, ३० नवम्बर, १९६९।

सबको एक कर देना असंभव है। ऐसी एकता में विकास के द्वार अवरुद्ध हो जाते है। अनेकता भी वही कीमती है, जो हमारी मौलिक एकता को किसी प्रकार का खतरा पैदा न करे।"[1] इसी बात को उदाहरण के माध्यम से प्रस्तुति देते हुए वे कहते हैं—"एक वृक्ष की अनेक शाखाओं की भांति एक राष्ट्र के अनेक प्रांत हो सकते है, पर उनका विकास राष्ट्रीयता की जड़ से जुड़कर रहने मे है, जब भेद मे अभेद को मूल्य देने की बात व्यावहारिक बनेगी, उसी दिन राष्ट्रीय एकता की सम्यक् परिणति होगी।"[2] वे कहते हैं—"जहां विविधता एकता को विघटित करे, उसमे बाधक बने, उस विविधता को समाप्त करना आवश्यक हो जाता है। शरीर में कोई अवयव शरीर को नुकसान पहुंचाने लगे तो उसे काटने या कटवाने की मानसिकता हो जाती है।"[3]

राष्ट्र की विषम स्थितियो एवं विघटनकारी तत्त्वो के विरुद्ध आचार्य तुलसी ने सशक्त आवाज उठाई है। राष्ट्रीय एकता को उन्होंने अपनी श्रम की बूंदो से सींचा है। अपने अठहत्तरवें जन्मदिन पर वे लाडनूं मे देश की हिंसक स्थितियों को अहिंसक नेतृत्व प्रदान करने हेतु अपने दायित्व-बोध का उच्चारण इन शब्दो मे करते हैं—"मैं राष्ट्रीय एकता परिषद् के एक सदस्य के नाते अपना दायित्व समझता हूं कि अपनी शक्ति देश की समस्याओ को सुलझाने मे लगाऊं। मुझे लगता है कि हिंसा, आतंक, अपहरण और क्रूरता आदि समस्याओं से भी बडी समस्या है—मानवीय मूल्यो के प्रति अनास्था। इस दिशा मे मुझे अणुव्रत के माध्यम से लोकतत्र की शुद्धि हेतु और भी तीव्र गति से कार्य करना है।" उनकी इसी सेवा का मूल्यांकन करते हुए भारत सरकार ने उन्हे राष्ट्रीय एकता परिषद् के सदस्य के रूप मे मनोनीत किया है।

राष्ट्रीय एकता के अनेक घटको में एक घटक है—भाषा। इस संदर्भ मे आचार्य तुलसी का मंतव्य है—"यदि देश की एक भाषा होती है तो हर प्रांत के व्यक्ति का दूसरे प्रांत के व्यक्ति के साथ सम्पर्क जुड सकता है। मै मानता हू कि देश की एकता के लिए राष्ट्र में एक भाषा का होना अत्यन्त आवश्यक है।"[4]

आचार्य तुलसी इस सत्य से परिचित है कि केवल भौगोलिक एकता के नाम पर राष्ट्रीय एकता को चिरजीवी नही बनाया जा सकता, फिर भी प्रांतवाद देश की अखडता को विघटित करने मे मुख्य कारण बनता है। वे अलगाववादी तत्त्वो को स्पष्ट शब्दो मे कहते हैं—"हरेक प्रांत जब अपने

१. विज्ञप्ति सं० ९९३।
२-३. अणुव्रत पाक्षिक, १६ मई १९९०।
४. रश्मिया, पृ० ८।

ही हित की बात सोचता है, तव राष्ट्र की एकता खतरे मे पड जाती
उत्तर के लोग उत्तर की चिन्ता करते है, दक्षिण के लोग दक्षिण की, ले
भारत की चिन्ता कौन करे ? भारत सलामत है तो सव सलामत है । भ
ही नही रहा तो उत्तर और दक्षिण का क्या होगा ?[1] आचार्य तुलसी :
है कि प्रातीय व्यवस्था देश के शासनसूत्र मे स्थिरता लाने के लिए थी
आज चद स्वार्थो के पीछे एक जटिल पहेली वनकर रह गयी है । जव
राष्ट्र के लिए स्वतत्त्व को विसर्जित करने की भावना पुष्ट नही हो
राष्ट्रीय एकता का नारा सार्थक नही हो सकता ।"[2]

आचार्य तुलसी जव दक्षिण यात्रा पर थे तव दो प्रातो के च
वैपम्य मे समन्वय करती निम्न उक्ति उनके गंभीर चिंतन की साक्षी है
"केरल और तमिलनाडु एक-दूसरे से सटे हुए होने पर भी प्रकृति से भ
है । एक भक्तिप्रधान है तो दूसरा तर्कप्रधान । तमिलनाडु मे तर्क है ही ,
और केरल मे भक्ति है ही नही, ऐसा मै नही कहता हू । मैं दोनो के
हू. दोनो का समन्वय करना चाहता हूं ।"[3]

साम्प्रदायिक उन्माद मे उन्मत्त व्यक्ति कृत्य-अकृत्य के विवेक को
देता है । इस सदर्भ मे आचार्य तुलसी का सापेक्ष चिन्तन है—"व्यक्ति अपने
अपने मजहव की उपासना मे विश्वास करे, इसमे कोई वुराई नही, पर जह
एक सम्प्रदाय के लोग दूसरे सम्प्रदाय के प्रति द्वेप और घृणा का प्रचार कर
है, वहा देश की मिट्टी कलकित होती है, राष्ट्र शक्तिहीन होता है तथा व्यक्ति
का मन अपवित्र वनता है ।"[4] धर्मगुरु होते हुए भी वे साम्प्रदायिकता
कोसो दूर है । वे अनेक वार इस वात की अभिव्यक्ति दे चुके हैं कि मै जैन
शव्द को भी वही तक पकडे रहना चाहता हू, जहा तक वह सम्पूर्ण मान
हितो से विसगत नही होता ।"

साम्प्रदायिक उन्माद के वारे मे वे स्पष्ट उद्घोपणा करते है—
"साम्प्रदायिक उन्माद को वढाने मे असामाजिक तत्त्वो का तो हाथ रहता
ही है, कही-कही धर्मगुरु भी इस आग मे ईंधन डाल देते है ।"[5] आचार्य
तुलसी कभी-कभी तो साम्प्रदायिकता फैलाने वाले लोगो को यहा तक कह
देते है—"काच के महल मे वैठकर पत्थर फेकने वाला क्या कभी सुरक्षित
रह सकता है ?"[6]

---

१ जैन भारती, २३ मार्च १९६९ ।

२ वही, १० मार्च १९६३ ।

३ त्रिवेन्द्रम्, १५-३-६९ के प्रवचन से उद्धृत ।

४ विज्ञप्ति स० ९८८ ।

५ एक वूद : एक सागर, पृ० १५६५ ।

६. मनहंसा मोती चुगे, पृ० ८५ ।

धर्म और राजनीति की समस्या को सुलझाने के लिए वे राजनयिकों को भी अनेक वार सुझाव दे चुके हैं—"यदि धर्मनिरपेक्षता को सम्प्रदाय-निरपेक्षता के रूप मे मान्यता देकर मानवतावादी दृष्टिकोण अपनाया जाय तो राष्ट्रीय एकता की नीव सशक्त हो सकती है। मेरा विश्वास है कि हिंदुस्तान सम्प्रदायनिरपेक्ष होकर अपनी एकता वनाए रख सकता है किंतु धर्महीन होकर अपनी एकता को सुरक्षित नही रख सकता।"[1]

राष्ट्रीय एकता को सबसे वड़ा खतरा उन स्वार्थी राष्ट्र-नेताओ से भी है, जो केवल अपने हित की वात सोचते हैं। देश-सेवा के नाम पर अपना घर भरते है; तथा धर्म, सम्प्रदाय, वर्ग आदि के नाम पर जनता को वांटने का प्रयत्न करते है। इस सदर्भ मे आचार्य तुलसी का उन लोगों के लिए सदेश है—

- पूरे विश्व को चरित्र की शिक्षा देने वाला भारत आज इतना दीन-हीन क्यो होता जा रहा है ? स्वार्थ का कौन सा ऐसा दैत्य उसे इस प्रकार नचा रहा है ? क्या इस देश की जनता परार्थ और परमार्थ की भूमिका पर खडी होकर नही सोच सकती ?[2]
- राष्ट्रीय धरा से जुडकर रहने मे ही सवकी अस्मिता सुरक्षित रह सकती है तथा सवको विकास का अवसर मिल सकता है।[3]

राष्ट्रीय एकता परिषद् की दूसरी सगोष्ठी के अवसर पर प्रेपित अपने एक विशेप सदेश मे वे खुले शब्दो में कहते है—दलगत राजनीति और चुनाव समस्याओ को उभारने में सक्रिय भूमिका निभाते हैं। अपने-अपने दल की सत्ता स्थापित करने के लिए कभी-कभी वे काम भी हो जाते हैं, जो राष्ट्र के हित मे नही हैं। ······सत्ता को हथियाने की स्पर्धा होना अस्वाभाविक नही है पर स्पर्धा के वातावरण मे जैसे-तैसे वहुमत और सत्ता पाने पर ही ध्यान केन्द्रित रहता है। यह एक समस्या है, जो राष्ट्रीय एकता की वहुत वड़ी वाधा है।"[4] वे भारत के राजनैतिक दलों की वदतर स्थिति का जिक्र करते हुए कहते है—"भारत मे एक-दो दल नही, दल मे भी उपदल है। उपदल मे भी और दलदल हैं। सभी मे ऐसे दुर्दान्त कलह पनप रहे हैं कि भाड मे चने की भाति एक एक ओर भागता है तो दूसरा दूसरी ओर। ··· कभी-कभी तो वे वच्चो के खेल से भी ज्यादा घटिया हो जाते हैं।"[5] इस प्रकार अपने ही

---

१. युवादृष्टि, फर० १९९४।
२ वैसाखिया विश्वास की, पृ० ८७।
३ अणुव्रत पाक्षिक, १६ मई १९९०।
४ वैसाखियां विश्वास की, पृ० १०५।
५. विज्ञप्ति सं० ९४४।

हित का चश्मा चढ़ाकर चारो ओर देखने वाले व्यक्ति राष्ट्रीय चरित्र से कोसो दूर है। ऐसे लोग ही देश की भावात्मक एकता मे दरार डालते है।

राष्ट्रीय एकता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए वे जनता को प्रतिबोध देते हुए कहते है—"राष्ट्रीय एकता की शुभ शुरुआत हर व्यक्ति अपने से करे, यह अपेक्षित है। यदि राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक यह सकल्प कर ले कि वह अपने किसी भी आचरण और व्यवहार से राष्ट्रीय एकता को नुकसान नही पहुंचाएगा तो यह उसका इस क्षेत्र मे बहुत बडा सहयोग होगा।"[1] साथ ही वे कुछ आचरणीय बिंदु एवं विकल्प भी प्रस्तुत करते है, जिससे राष्ट्रीय एकता मे बाधक तत्त्वो को अलग कर एकता एव अखडता को सुदृढ किया जा सके—

"१ भारतीय जनता के बडे भाग में राष्ट्रीयता की कमी महसूस हो रही है। राष्ट्रीयता के बिना राष्ट्रीय एकता की कल्पना नही की जा सकती। इसलिए सर्वप्रथम राष्ट्रीय चेतना को जगाने की दिशा में शक्ति का नियोजन हो।

२. राष्ट्रीयता के प्रशिक्षण-शिविरों की आयोजना तथा शिक्षा के साथ राष्ट्रीयता के प्रशिक्षण की व्यवस्था हो।

३. लोकतंत्र मे सबको समान अवसर और अधिकार प्राप्त है। इस स्थिति मे बहुसंख्यक, अल्पसख्यक जैसी विभक्त करने वाली व्यवस्थाओ पर पुनर्विचार किया जाए।

४. जातीयता तथा साम्प्रदायिकता को राष्ट्रीयता के साथ न जोडा जाए।

५. केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था और केन्द्रित शासन-व्यवस्था अव्यवस्था और सघर्ष को जन्म देती हैं। इसलिए उनके विकेन्द्रीकरण पर चिन्तन किया जाए।"[2]

इन विकल्पो के अतिरिक्त वे तीन मुख्य बिंदुओ पर सबका ध्यान केन्द्रित करना चाहते है—"मै मानता हू अध्यात्म का अभाव, अर्थ की प्रधानता और मौलिक चिन्तन की कमी—इन तीन बिन्दुओ पर ध्यान केन्द्रित किया जाए तो देश की अखडता और स्वतत्रता सार्थक हो सकती है तथा देश के भविष्य को स्थिरता दी जा सकती है।"[3]

राष्ट्र की एकता में भेद डालने वाली स्थितियो को समाहित करने के लिए आचार्य तुलसी राजनेताओ को आह्वान करते हुए कहते है—"कानून के

---

१ विज्ञप्ति स० ९८८।

२. बैसाखिया विश्वास की, पृ० १०५,१०६।

३. जीवन की सार्थक दिशाएं, पृ० ४६।

नियमो द्वारा एकता प्रतिष्ठित नही हो सकती। इसके लिए हृदय-परिवर्तन, समता और मैत्री तो अपेक्षित है ही, साथ ही यह भी आवश्यक है कि सत्ता से अलिप्त कोई ऐसा पराक्रम जागे, जो राष्ट्र का मार्गदर्शन कर सके तथा जनता को वास्तविक स्वतन्त्रता का अहसास करा सके।

डा० के. के. शर्मा ने 'हिन्दी साहित्य के राष्ट्रीय काव्य' में राष्ट्रीय भावनाओ से सम्बन्धित निम्न विपयो का वर्णन किया है[1]—

१ जन्मभूमि के प्रति प्रेम।
२. स्वर्णिम अतीत के चित्र।
३. प्रकृति प्रेम।
४ विदेशी शासन की निदा।
५. वर्तमान दशा पर क्षोभ।
६. सामाजिक सुधार—भविष्य निर्माण।
७ वीर पुरुपो या नेताओ की स्तुति।
८. पीडित जनता का चित्रण।
९. भापा-प्रेम।

आचार्य तुलसी के साहित्य मे लगभग इन सभी विपयो का विस्तृत विवेचन हुआ है। अनेक वक्तव्य एव निवंध तो इतने भावपूर्ण हैं कि पढ़कर व्यक्ति के मन मे राष्ट्र के लिए सब कुछ न्यौछावर करके उसके नव-निर्माण की भावना जाग जाती है।

आचार्य तुलसी की राष्ट्रीय भावनाए भौगोलिक सीमा मे आवद्ध नही है। यद्यपि वे अपने को सार्वजनीन मानते है, अतः उनके विचार विशाल एवं व्यापक है, फिर भी भारत मे जन्म लेन को वे अपना सौभाग्य मानते है। अपने सौभाग्य एव दायित्वबोध को वे निम्न शब्दो मे प्रकट करते हैं—"मैं सौभाग्यशाली हू कि भारत जैसे पवित्र देश मे मुझे जन्म मिला, उसमें भ्रमण किया, उसके अन्न-जल का उपयोग किया और श्रद्धा एव स्नेह को पाया। इसलिए मेरा फर्ज है कि समस्याओं के निदान और समाधान मे त्याग और वलिदान द्वारा जितना वन सके, मानवता का कार्य करू। मैंने अपने सम्पूर्ण सम्प्रदाय को इस दिशा मे मोडने का प्रयास किया है।"[2] सचमुच, जिस महाविभूति का हर श्वास, हर वाणी राष्ट्रभक्ति के भावो से अनुप्राणित हो, उनके द्वारा किए जा रहे राष्ट्रीय एकता के कार्यो का सम्पूर्ण आकलन अनेको लेखनियो से भी संभव नही है।

---

१. हिन्दी साहित्य मे राष्ट्रीय काव्य, पृ० १९।
२ एक वूद : एक सागर, पृ. १७१५।

समाज-दर्शन

साहित्य समाज की चेतना मे सास लेता है, अतः साहित्यकार समाज की चेतना को तो प्रतिध्वनित करता ही है, साथ ही साथ वह अपने मौलिक एव क्रात चिन्तन से समाज को नया विचार एव नया दिशादर्शन भी देता है। डॉ० वी० डी० वैश्य कहते है—"समाज का यथार्थ ऊपर-ऊपर नही तैरता, उसकी कई परते होती है। साहित्यकार की सूक्ष्म दृष्टि ही परतो को भेदकर उस यथार्थ को जनता के समक्ष प्रस्तुत करती है।"

प्राचीन मनीषियो ने भी साहित्य और समाज का घनिष्ठ सम्बन्ध माना है। नरेन्द्र कोहली कहते है—"यदि साहित्य मे दुःख, वेदना या निराशा होगी तो समाज मे भी निराशा एव दु.ख की वृद्धि होगी। साहित्य मे उच्च गुणो की प्रशसा होगी तो समाज मे भी उसका सम्मान वढेगा। साहित्य समाज से कही अधिक शक्तिशाली है क्योकि समाज का निर्माण साहित्यकार के हाथो होता है। अतः साहित्यकार समाज का महत्त्वपूर्ण सदस्य है।"[1]

समाज धनी-निर्धन, पूजीपति-मजदूर, शिक्षित-अशिक्षित आदि अनेक वर्गो मे बटा हुआ है। इन दोनो वर्गो मे सन्तुलन का कार्य साहित्यकार ही कर सकता है।

प्रेमचन्द इस वात को स्वीकार करते है कि समाज स्वय नही चल सकता। उसका नियन्त्रण करने वाली सदा ही कोई अन्य शक्ति रही है। उसमे धर्माचार्य और साहित्यकार महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।

आचार्य तुलसी धर्माचार्य के साथ साहित्यकार भी है अतः उनके साथ सहज ही मणिकाचन योग हो गया है। जिस प्रकार कवीर ने जो कुछ लिखा वह किताबी ज्ञान से नही, अपितु आखो देखी वात लिखी, वैसे ही आचार्य तुलसी ने सामाजिक चेतना को अपनी अनुभव की आखो से देखकर उसे सवारने का प्रयत्न किया है। उनके समाजदर्शन की विशेपता है कि उन्होने सव कुछ स्वीकारा नही है, गलत मान्यताओ को फटकार एवं चुनौती भी दी है तथा उसके स्थान पर नए मूल्य-निर्माण का संदेश दिया है।

धर्माचार्य होने के नाते वे स्पष्ट शब्दो मे अपने सामाजिक दायित्व को स्वीकारते है—"धर्मगुरुओ का काम सामायिक, ध्यान, तपस्या, कीर्तन

---

१. प्रेमचन्द, पृ० १७२, १९०।

आदि की प्रेरणा देना ही नहीं है। समाज के नैतिक और सांस्कृतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के साथ सामाजिक मूल्यों के परिष्कार का दायित्व भी उन्ही पर होता है क्योंकि किसी भी समाज मे धर्मगुरु के निर्देश का जितना पालन होता है, अन्य किसी का नहीं होता।"[1]

आचार्य तुलसी के उद्‌वोधन से समाज ने एक नयी करवट ली है तथा उसने युग के अनुसार अपने को वदलने का प्रयास भी किया है। दक्षिण यात्रा की एक घटना इसका वहुत वडा निदर्शन है—कन्याकुमारी के वाद जब आचार्य तुलसी केरल जाने लगे तव उन्होने सोचा कि केरल में साम्यवादी सरकार है। यात्रा में इतनी वहिने घूघट और आभूपणो से लदी है, यह ठीक नही होगा। कोई मुसीवत खड़ी हो सकती है अतः रात्री में यात्रा-सघ की गोष्ठी वुलाई गई। महिलाओ को निर्देश दिया गया कि या तो घूघट और आभूपणो का मोह त्यागें अथवा मंगलपाठ सुनकर राजस्थान की ओर रवाना हो जाएं। वहिनो के मन में उथल-पुथल मच गयी। वर्पो के संस्कार को एक क्षण में छोडना कठिन था। आचार्यश्री को भी विश्वास नही था कि वहिनें वैसा कर पाएंगी क्या ? पर आश्चर्य ! दूसरे ही दिन सभी वहिने अपने धर्मगुरु के एक आह्वान पर परिवर्तन कर चुकी थी। उनके उद्‌वोधनो ने समाज की अनेक रूढियो को इसी प्रकार विदाई दी है।

समाज के सम्यक् विकास एवं गति हेतु वे नारी जाति को उचित सम्मान देने के पक्षपाती है। उन्होंने अनेक वार इस स्वर को मुखर किया है—"जो समाज नारी को सम्मानपूर्वक जीने, स्वतन्त्र चिंतन करने और अपनी अस्मिता को पहचानने का अधिकार नही देता, वह विकास नहीं कर सकता।"[2] वे समाज को प्रतिवोध देते हैं कि स्त्री होने के कारण महिला जाति की क्षमताओ का समुचित अंकन और उपयोग न हो. इस चिंतन के साथ मेरी सहमति नही है।

समाज मे उचित व्यवस्था एवं सामंजस्य वनाए रखने के लिए आचार्य तुलसी नारी और पुरुप— समाज के इन दोनो वर्गो को सावधान करते हुए कहते है—"यदि पुरुप नारी वनने की कोशिश करेगा एव नारी पुरुप वनने का प्रयत्न करेगी तो समाज और परिवार रुग्ण वने विना नही रह सकेगा।" उसकी स्वस्थता का एक ही आधार है कि दोनो की विशेषताओ का पूरा-पूरा समादर किया जाए।"[3]

प्रगतिशील एव आधुनिक कहलाने का दम्भ भरने वाले नारी समाज

---

१. दोनो हाथ : एक साथ, पृ० ४२।

२. एक बूद : एक सागर, पृ० १४९५।

३ अणुव्रत अनुशास्ता के साथ, पृ० २७।

को वे विशेष रूप से प्रतिवोध देते है—"नारी के मुख से जब मैं समानाधिकार की वात सुनता हू तो मुझे जचता नही। कैसा समानाधिकार? नारी के तो अपने अधिकार ही वहुत वडे है। वह परिवार, समाज और राष्ट्र की निर्मात्री है। वह समान अधिकार की नही, स्व-अधिकार की अधिकारिणी है। कभी-कभी मुझे लगता है नारी पुरुप के वरावर ही नही, उसके विरोध मे खडी होने का प्रयत्न कर रही है पर यह प्रतिक्रिया है, उसके विकास मे वाधा है।"[1] आचार्य तुलसी के इस चिंतन का यही निष्कर्ष है कि समाज तभी विकसित, गतिशील एव सचेतन रह सकता है, जव स्त्री और पुरुष दोनों अपनी-अपनी सीमाओ मे रहकर अपने कर्त्तव्यो का पालन करते रहे।

परिवार

परिवार समाज की महत्त्वपूर्ण एव बुनियादी इकाई है। पाश्चात्त्य देशो मे परिवार पति-पत्नी पर आधारित है पर भारतीय परिवारो के मुख्य केन्द्र वालक, माता-पिता एव दादा-दादी होते है। आचार्य तुलसी संयुक्त परिवार के पक्षपाती है क्योकि इसमे निश्चिन्तता और स्थिरता रहती है। उनका मानना है कि परिवार के टूटने का प्रभाव केवल वर्तमान पीढ़ी पर ही नही पडता उससे भावी पीढ़िया भी प्रभावित हुए विना नही रहती। · वर्तमान पीढ़ी की थोड़ी-सी असावधानी आने वाली कई पीढियों को मानसिक दृष्टि से अपाहिज या सकीर्ण वना सकती है।"[2]

आज सयुक्त परिवारो मे तेजी से विखराव आ रहा हैं। समाज-शास्त्रियो ने पारिवारिक विघटन के अनेक कारणो की मीमासा की है। आचार्य तुलसी की दृष्टि मे व्यक्तिवादी मनोवृत्ति, असहिष्णुता, सन्देह, अहकार, औद्योगीकरण, मकान तथा यातायात की समस्या आदि तत्त्व परिवार-विघटन मे मुख्य निमित्त वनते है। पर सबसे वडा कारण वे पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव को मानते है—"पश्चिमी सभ्यता की घुसपैठ ने परिवार मे विखराव तो ला दिया, पर अकेलेपन की समस्या का समाधान नही किया।"[3]

पारिवारिक विघटन से उत्पन्न कठिनाइयो को प्रस्तुत करते उनके ये सटीक प्रश्न आज की असहिष्णु पीढी को कुछ सोचने को मजवूर कर रहे है—"स्वतन्त्र परिवार मे कुछ सुविधाए भले ही हो, पर उनकी तुलना मे कठिनाइया अधिक हैं। सवसे वडी कठिनाई है विरासत मे प्राप्त होने वाले

१. जैन भारती, १६ मार्च १९५८।
२ बीति ताहि विसारि दे, पृ० ६८।
३. मनहसा मोती चुगे, पृ० १०३।

सस्कारो की। लड़की ससुराल जाते ही सास-ससुर आदि के साये से दूर रहने लगेगी तो उसे संस्कार कौन देगा ? पति के ऑफिस चले जाने पर सुवह से शाम तक अकेली स्त्री क्या करेगी ? वीमारी आदि की परिस्थिति मे सहयोग किसका मिलेगा ? कही आने-जाने के प्रसंग मे घर और वच्चों का दायित्व कौन ओढेगा ? ऐसे ही कुछ और सवाल है, जो संयुक्त परिवार से मिलने वाली सुविधाओ को उजागर कर रहे है।"[1]

अच्छे संस्कारो का सक्रमण सयुक्त परिवार की सवसे वड़ी उपयोगिता है। इस तथ्य को आचार्य तुलसी अनेक वार भारतीय जनता के समक्ष प्रस्तुत करते रहते है। भारत की प्राचीन सस्कृति की अवगति देते हुए वे आज की युवापीढी को प्रतिवोध दे रहे है—"प्राचीनकाल मे बूढ़ी नानियो-दादियो के पास सस्कारो का अखूट खजाना हुआ करता था। सूर्यास्त के वाद वच्चो का जमघट उन्ही के आस-पास रहता था। वे मीठी-मीठी कहानियां सुनाती, लोरिया गाती, वच्चो के साथ संवाद स्थापित करती और वातों ही वातो मे उन्हे संस्कारो की अमूल्य धरोहर सौप जाती। जिन लोगो को अपना वचपन नानियो-दादियो के साये में विताने का मौका मिला है, वे आज भी उच्च सस्कारों से सम्पन्न है।"[2]

अलगाववादी मनोवृत्ति वाली युवापीढ़ी को रूपान्तरण का प्रतिवोध देते हुए उनका कहना है—"जो व्यक्ति परिवार में वढ़ते हुए झगड़ो के कारण अलग रहने का निर्णय लेते है, उन्हे स्थान के वदले स्वभाव वदलने की वात सोचनी चाहिए।"[3] इसी प्रकार परिवार की वुजुर्ग महिलाओं को भी मनोवैज्ञानिक तरीके से स्वभाव-परिवर्तन एव व्यवहार परिष्कार की वात सुझाते है—"जिस प्रकार महिलाएं अपनी वेटी की गलती को शाति से सह लेती है, उसी प्रकार वहू को भी सहन करना चाहिए। अन्यथा उनके जीवन मे दोहरे संस्कार और दोहरे मानदण्ड सक्रिय हो उठेंगे।"[4]

परिवार मे शान्त सहवास का होना अत्यन्त अपेक्षित है। आचार्य तुलसी तो यहा तक कह देते है—"जहां एक सदस्य दूसरे के जीवन मे विघ्न वने विना रहता है, जहा सापेक्षता वहुत स्पष्ट होती है, वही सही अर्थ मे परिवार वनता है।"[5] सयुक्त परिवार मे शात एवं सौहार्दपूर्ण सहवास के लिए आचार्य तुलसी चार गुणो का होना अनिवार्य मानते है—१. सहनशीलता,

---

१. दोनो हाथ . एक साथ, पृ० ५।
२. आह्वान, पृ० ४।
३. वीती ताहि विसारि दे, पृ० ६७।
४. अतीत का विसर्जन · अनागत का स्वागत, पृ० १४२।
५. क्या धर्म वुद्धिगम्य है ?, पृ० ६६।

२ स्नेहशीलता, ३. श्रमशीलता, ४ पारस्परिक विश्वास । उनका विश्व है कि ये चार तत्त्व जिस परिवार के सदस्यो मे है, वहा सैकडो सदस्यो क उपस्थिति मे भी विघटन एव तनाव की स्थिति घटित नही हो सकती ।

पाश्चात्य विद्वान् मैकेंजी कहते है—"यदि परिवार को छोटा कहे तो शिशु उसका वास्तविक सम्राट् है ।" वालको के निर्माण मे ' रि की अहंभूमिका रहती है । जिस परिवार मे वच्चो के सस्कार-निर्माण की ओर ध्यान नही दिया जाता, कालान्तर मे उस परिवार मे सुख समृद्धि एव विकास के द्वार अवरुद्ध हो जाते है । आज समाज शास्त्री यह उद्घोपणा कर चुके है कि जैसा परिवार होगा, वैसा ही वालक का व्यक्तित्व निर्मित होगा । आचार्य तुलसी की निम्न प्रेरणा अभिभावको को दायित्ववोध कराने मे सक्षम है—"आश्चर्य है कि रोटी कपडे के लिए मनुष्य जब इतने कष्ट सह सकता है तो सन्तान को सस्कारी वनाने की ओर उसका ध्यान क्यो नही जाता ?"[1]

सामाजिक रूढ़ियां

अधविश्वास और रूढिया किसी न किसी रूप मे सर्वत्र रहेगी । यदि उसके विरोध मे आवाज उठती रहे तो समाज जड नही वनता । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते है—"साहित्य सामाजिक मगल का विधायक है । यह सत्य है कि वह व्यक्ति विशेष की प्रतिभा से रचित होता है किन्तु और भी अधिक सत्य यह है कि प्रतिभा सामाजिक प्रगति की ही उपज है ।"[2]

आचार्य तुलसी ने समाज से पराङ्मुख होकर अपनी लेखनी एवं वाणी का उपयोग नही किया । समाज की किसी भी रूढ़ि या गलत परम्परा को अनदेखा नही किया । यही कारण है कि उनके पूरे साहित्य मे समाज के सभी वर्गो की सामाजिक एव धार्मिक कुरूढियो पर प्रहार करने वाले हजारो वक्तव्य है । समाज की समस्याओ के वारे मे आचार्य तुलसी नवीन सन्दर्भ मे सोचने, देखने व परखने मे सिद्धहस्त है । उन्होने समाज की इस विवेक दृष्टि को खोलने का प्रयत्न किया कि सभी पूर्व मान्यताओ को नवीन कसौटियो पर नही कसा जा सकता । पुरानी चौखट पर नवीन तस्वीर को नही मढा जा सकता । उसमे भी कुछ युगीन एव अपेक्षित सशोधन आवश्यक है । कहा जा सकता है कि उनके साहित्य मे प्राचीन परम्परा और युगचेतना एक साथ साकार देखी जा सकती है ।

सामाजिक परम्पराओ के वारे मे उनका चिन्तन स्पष्ट है कि

---

१. एक वूद . एक सागर, पृ० १४१६ ।
२. विचार और तर्क, पृ० २४४ ।

सामाजिक परम्पराएं एवं रीति-रिवाज एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संक्रांत होते हैं और समाज को जोड़कर रखते हैं। पर जब उन परम्पराओं और रीति-रिवाजों में अपसंस्कृति का मिश्रण होने लगे, आडम्बर और प्रदर्शन होने लगे तो वे अपनी सांस्कृतिक गरिमा खो देते हैं।"[1] इन क्रांत विचारों के कारण आचार्य तुलसी को रूढ़ि किसी भी क्षेत्र में प्रिय नहीं है। अच्छी से अच्छी बात में भी उनको यह आशंका हो जाए कि यह आगे जाकर रूढ़ि या देखादेखी का रूप ले सकती है तो वे स्थिति आने से पूर्व ही समाज को सावचेत कर उसमें नया उन्मेष लाने की बात सुझा देते हैं।

आचार्य तुलसी हर परम्परा को अंधविश्वास या रूढ़ि नहीं मानते, क्योंकि वे मानते हैं कि सत्य अनन्त है अतः बुद्धिगम्य भाग को छोड़कर शेष विपुल सत्य को अन्धविश्वास कहना उचित नहीं है। पर जब उसमें अवांछनीय तत्त्व प्रवेश कर जाते हैं, तब समाज को दिशादर्शन देते हुए उनका कहना है—"जिस परम्परा की अर्थवत्ता समाप्त हो जाए, जो रूढ़ि का रूप ले ले, जिसके कारण व्यक्ति या समाज पर अधिक दबाव पड़े और जो बुद्धि एवं आस्था के द्वारा भी समझ का विषय न बने, उस परम्परा का मूल्य एक शव से अधिक नहीं हो सकता।"

परिवर्तन एवं अनुकरण के बारे में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की निम्न उक्ति अत्यन्त मार्मिक है- "लज्जा प्रकाश ग्रहण करने में नहीं, अन्धानुकरण में होनी चाहिए। अविवेक पूर्ण ढंग से जो भी सामने पड़ गया उसे सिर माथे चढा लेना, अन्धभाव से अनुकरण करना जातिगत हीनता का परिणाम है। जहां मनुष्य विवेक को ताक पर रखकर सब कुछ ही अंधभाव से नकल करता है, वहां उसका मानसिक दैन्य और सांस्कृतिक दारिद्र्य प्रकट होता है। जहां सोच समझकर ग्रहण करता है""""वहां वह अपने जीवन्त स्वभाव का परिचय देता है।"[2] आचार्य तुलसी की निम्न उक्ति रूढ़ एवं अन्धविश्वासी चेतना को परिवर्तन की प्रेरणा देने में पर्याप्त है—"समाज सदा परिवर्तनशील है अतः समय-समय पर उपयुक्त परिवर्तन के लिए हमें सदैव तैयार रहना चाहिए अन्यथा जीवन रूढ बन जाएगा और अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ेगा।"[3]

आचार्य तुलसी समाज को अनेक बार चुनौती दे चुके हैं—सामाजिक कुरूढि एवं अन्धविश्वासो से समाज इतना जर्जर, दुःखी, निष्क्रिय, जड और सत्त्वहीन हो जाता है कि वह युग की किसी चुनौती को झेल नहीं

---

१. एक बूंद : एक सागर, पृ० ८५२।
२. हजारीप्रसाद द्विवेदी-ग्रन्थावली-भाग ७, पृ० १३८।
३ जैन भारती, १६ अग० १९६९।

सकता। यही कारण है कि वे समाज मे व्याप्त दुर्बलता, कुरीति एव कमजोरी की तीखी आलोचना करते है पर उस आलोचना के पीछे उनका प्रगतिशील एव सुधारवादी दृष्टिकोण रहता है, जो कम लोगो मे मिलता है। निम्न वार्तालाप उनके व्यक्तित्व की उसी छवि को अंकित करता है—

एक कवि ने आचार्य तुलसी से पूछा—आप धर्मगुरु है ? राजनीतिज्ञ है या समाज सुधारक ? आचार्य तुलसी ने उत्तर दिया—"धर्मगुरु तो आप मुझे कहे या नही, पर मैं साधक हू, समाज सुधारक भी हूं।" साधक होने के कारण उनका सुधारवादी दृष्टिकोण किसी कामना या लालसा से सपृक्त नही है, यही उनके सुधारवादी दृष्टिकोण का महत्त्वपूर्ण पहलू है।

दहेज

दहेज की परम्परा समाज के मस्तक पर कलंक का अमिट धब्बा है। इस विकृत परम्परा से अनेक परिवार क्षत-विक्षत एव प्रताडित हुए है। अनेक कन्याओ एव महिलाओ को असमय मे ही कुचल दिया गया है। आचार्य तुलसी की प्रेरणा ने लाखो परिवारो को इस मर्मान्तक पीडा से मुक्त ही नही किया वरन् सैकडो कन्याओ के स्वाभिमान को भी जागृत करने का प्रयत्न किया है, जिससे समाज की इस विषैली प्रथा के विरुद्ध वे अपनी विनम्र एव शालीन आवाज उठा सके। राणावास मे मेवाड़ी वहिनो के सम्मेलन मे कन्याओ के भीतर जागरण का सिंहनाद करते हुए वे कहते है—"दहेज वह कैंसर है, जिसने समाज को जर्जर बना दिया है। इस कष्टसाध्य बीमारी का इलाज करने के लिए वहिनो को कुर्वानी के लिए तैयार रहना होगा। आप लोगो मे यह जागृति आए कि जहा दहेज की मांग होगी, ठहराव होगा, वहा हम शादी नही करेगी। आजीवन ब्रह्मचारिणी रहकर जीवन व्यतीत करेगी, तभी वाछित परिणाम आ सकता है।"

दहेजलोलुप लोगो की विवेक चेतना जगाते हुए आचार्य तुलसी कहते है—"कहा तो कन्या का गृहलक्ष्मी के रूप मे सर्वोच्च सम्मान और कहा विवाह जैसे पवित्र सस्कार के नाम पर मोल-तोल! यह कुविचार ही नही, कुकर्म भी है।"[1]

आचार्य तुलसी ने समाज की इस कुप्रथा के विविध रूपो को पैनेपन के साथ उकेरकर वेधक प्रश्नचिह्न भी उपस्थित किए है—"दहेज की खुली माग, ठहराव, माग पूरी करने की बाध्यता, प्राप्त दहेज का प्रदर्शन और टीका-टिप्पणी—इससे आगे वढकर देखा जाए तो नवोढा के मन को व्यग्य वाणो से छलनी वना देना, उसके पितृपक्ष पर टोट कसना, वात-वात मे उसका अपमान करना आदि क्या किसी शिष्ट और सयत मानसिकता की

---

१ एक बूद : एक सागर, पृ० ८५३।

उपज है ? दहेज की इस यात्रा का अन्त इसी बिन्दु पर नहीं होता...... अनेक प्रकार की शारीरिक, मानसिक यातनाएं, मार-पीट, घर से निकाल देना और जिन्दा जला देना, क्या एक नारी की नियति यही है"[1]

पिशाचिनी की भाति मुह बाए खड़ी इस समस्या के उन्मूलन के प्रति आचार्य तुलसी आस्थावान् है। दहेज उन्मूलन हेतु प्रतिकार के लिए समाज को दिशाबोध देते हुए वे कहते है—"जहा कही, जब कभी दहेज को लेकर कोई अवाछनीय घटना हो, उस पर अंगुलिनिर्देश हो, उसकी सामूहिक भर्संना हो तथा अहिंसात्मक तरीके से उसका प्रतिकार हो। ऐसे प्रसंगों को परस्मैपद की भाषा न देकर आत्मनेपद की भाषा में पढ़ा जाए, तभी इस असाध्य बीमारी से छुटकारा पाने की सम्भावना की जा सकती है।"[2]

जातिवाद

"मेरा अस्पृश्यता मे विश्वास नही है। यदि कोई अवतार भी आकर उसका समर्थन करे तो भी मैं इसे मानने को तैयार नही हो सकता। मेरा मनुष्य की एक जाति मे विश्वास है"—आचार्य तुलसी की यह क्रांतवाणी जातिवाद पर तीखा व्यग्य करने वाली है। आचार्य तुलसी समता के पोषक है अत. उन्होने पूरी शक्ति के साथ इस प्रथा पर प्रहार कर मानवीय एकता का स्वर प्रखर किया है। लगभग ४५ वर्षो से वे समाज की इस विषमता के विरोध मे अपना आंदोलन छेडे हुए है। इस बात की पुष्टि निम्न घटना प्रसग से होती है—

सन १९५४,५५ की बात है। आचार्यश्री के मन में विकल्प उठा कि मानव-मानव एक है, फिर यह भेद क्यो ? यह विचार मुनिश्री नथमलजी (युवाचार्य महाप्रज्ञ) के समक्ष रखा। उन्होने एक पुस्तिका लिखी, जिसमे जातिवाद की निरर्थकता सिद्ध की गयी। पुस्तिका को देखकर आचार्यप्रवर ने कहा—अभी इसे रहने दो, समाज इसे पचा नही सकेगा। दो क्षण बाद फिर दृढ़ विश्वास के साथ उन्होने कहा—"जब इन तथ्यो की स्थापना करनी ही है तो फिर भय किसका है ? ऊहापोह होगा, होने दो। किताब को समाज के समक्ष आने दो। इससे मानवता की प्रतिष्ठा होगी। हमारे सामने उन लाखो-करोड़ो लोगो की तस्वीरें हैं, जिन्हे पददलित एव अस्पृश्य कहकर लोगो ने ठुकरा दिया है। ऐसे लोगो को हमे ऊचा उठाना है, सहारा देना है।" इस घटना मे आचार्य तुलसी का अप्रतिम साहस बोल रहा है।

उच्चता और हीनता के मानदंडों को प्रकट करने वाली उनकी ये

---

१. अनैतिकता की धूप : अणुव्रत की छतरी, पृ० १७७।
२. अमृत सन्देश, पृ० ७०।

सही ऐसा कौन-सा मानव है, जिसका सृजन हाड-मांस या रक्त से न हुआ हो? ऐसी कौन-सी माता है, जिसने बच्चे की सफाई में हरिजनत्व न स्वीकारा हो? भाइयो! मनुष्य अछूत नही होता, अछूत दुष्प्रवृत्तियां होती हैं।"[1] ऐसे ही एक विशेष प्रसंग पर लोक-चेतना को प्रवुद्ध करते हुए वे कहते हैं—"मैं समझ नही पाया, यह क्या मखौल है? जिस घृणा को मिटाने के लिए धर्म है, उसी के नाम पर घृणा और मनुष्य जाति का विघटन! मन्दिर मे आप लोग हरिजनो का प्रवेश निषिद्ध कर देंगे पर यदि उन्होने घर बैठे ही भगवान् को अपने मनमंदिर में विठा लिया तो उसे कौन रोकेगा?"[2]

लम्बी पदयात्राओं के दौरान अनेक ऐसे प्रसग उपस्थित हुए, जबकि आचार्यश्री ने उन मंदिरो एवं महाजनो के स्थान पर प्रवास करने से इन्कार कर दिया, जहां हरिजनो का प्रवेश निषिद्ध था। १ जुलाई १९६८ की घटना है। आचार्य तुलसी दक्षिण के वेलोर गांव मे विराज रहे थे। अचानक वे मकान को छोड़कर वाहर एक वृक्ष की छाया में बैठ गए। पूछने पर मकान छोड़ने का कारण वताते हुए उन्होने कहा—"मुझे जब पता चला कि कुछ हरिजन भाई मुझसे मिलने नीचे खड़े हैं, उन्हें ऊपर नही आने दिया जा रहा है, यह देखकर मैं नीचे मकान के वाहर असीम आकाश के नीचे आ गया। इस विषम स्थिति को देखकर मेरे मन मे विकल्प उठता है कि समाज में कितनी जड़ता है कि एक कुत्ता मकान में आ सकता है, साथ मे खाना खा सकता है किंतु एक इन्सान मकान में नही आ सकता, यह कितने आश्चर्य की बात है?"[3] आचार्य तुलसी मानते हैं—"जाति, रंग आदि के मद से सामाजिक विक्षोभ पैदा होता है इसलिए यह पाप की परम्परा को बढ़ाने वाला पाप है।"

आचार्य तुलसी के इन सघन प्रयासो से समाज की मानसिकता में इतना अन्तर आया है कि आज उनके प्रवचनो मे विना भेदभाव के लोग एक दरी पर बैठकर प्रवचन का लाभ लेते हैं।

सामाजिक क्रान्ति

देश में अनेक क्रांतियां समय-समय पर घटित होती रही हैं, उनमे सामाजिक क्राति की अनिवार्यता सर्वोपरि है क्योंकि रूढ़ परम्पराओं मे जकड़ा समाज अपनी स्वतंत्र पहचान नही वना सकता। आचार्य तुलसी को सामाजिक क्रांति का सूत्रधार कहा जा सकता है। समाज को संगठित करने, उसे नई दिशा देने, जागृत करने तथा अच्छा-वुरा पहचानने में उनका

---

१. जैन भारती, ३० अप्रैल १९६१।
२. २४-९-६५ के प्रवचन से उद्धृत।
३. जैन भारती, २१ जुलाई १९६८।

क्रांतिकारी दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आया है। क्रांति के संदर्भ मे आचार्य तुलसी का निजी मंतव्य है कि क्रांति की सार्थकता तव होती है, जव व्यक्ति-चेतना में सत्य या सिद्धात की सुरक्षा के लिए गलत मूल्यों या गलत तत्त्वो को निरस्त करने का मनोभाव जागता है।"[1] वे रूढ सामाजिक मान्यताओं के परिवर्तन हेतु क्रांति को अनिवार्य मानते है पर उसका साधन शुद्ध होना आवश्यक मानते हैं।

आचार्य तुलसी सामाजिक क्राति की सफलता में मुख्य केन्द्र-विन्दु युवा समाज को स्वीकारते है। इस सन्दर्भ मे उनकी निम्न टिप्पणी पठनीय है—"क्रांति का इतिहास युवाशक्ति का इतिहास है। युवको के सहयोग और असहयोग पर ही वह सफल एव असफल होती है।"[2] युवको को अतिरिक्त महत्त्व देने पर भी उनका सतुलित एव समन्वित दृष्टिकोण इस तथ्य को भी स्वीकारता है—"मैं मानता हूं समाज की प्रगति एव परिवर्तन के लिए वृद्धो का अनुभव तथा युवको की कर्तृत्व शक्ति दोनो का उपयोग है। मै चाहता हूं वृद्ध अपने अनुभवो से युवको का पथदर्शन करे और युवक वृद्धो के पथदर्शन मे अपने पौरुष का उपयोग करे।"[3]

आचार्य तुलसी की दृष्टि मे सामाजिक क्राति का प्रारम्भ व्यक्ति से होना चाहिए, समाज से नही। वे अनेक वार इस तथ्य को अभिव्यक्ति दे चुके हैं कि व्यक्ति-परिवर्तन के माध्यम से किया गया समाज-परिवर्तन ही चिरस्थायी होगा। व्यक्ति-परिवर्तन की उपेक्षा कर थोपा गया समाज-परिवर्तन भविष्य मे अनेक समस्याओ का उत्पादक वनेगा।"[4] आचार्य तुलसी व्यक्ति-सुधार के माध्यम से समाज-सुधार करने मे अधिक लाभ एवं स्थायित्व देखते हैं। 'अणुव्रत गीत' मे भी वे इसी सत्य का सगान करते है—

सुधरे व्यक्ति, समाज व्यक्ति से, राष्ट्र स्वय सुधरेगा।
'तुलसी' अणुव्रत सिंहनाद सारे जग मे पसरेगा॥

सामाजिक क्राति की सफलता के संदर्भ मे आचार्य तुलसी का मानना है कि जव तक परिवर्तन और अपरिवर्तन का भेद स्पष्ट नही होगा तव तक सामाजिक क्राति का चिरस्वप्न साकार नही होगा।"[5]

सामाजिक संकट की विभीषिका को उनका दूरदर्शी व्यक्तित्व समय से पहले पहचान लेता है। इसी दूरदृष्टि के कारण वे परिवर्तन और स्थिरता

---

१. सफर . आधी शताब्दी का, पृ० ८३।
२. भोर भई, पृ० २०।
३. धर्मचक्र का प्रवर्त्तन, पृ० २१७।
४. एक वूद : एक सागर, पृ० १४९७।
५ वही, पृ० १५५९।

के बीच सेतु का काम करते रहते है। आचार्य तुलसी ने अपने साहित्य मे अंधरूढियो के विरोध में क्रांति की आवाज ही बुलन्द नही की अपितु उनके संशोधन एवं परिवर्तन की प्रक्रिया एव प्रयोग भी प्रस्तुत किए है क्योकि उनकी मान्यता है कि परिवर्तन और क्रांति के साथ यदि नया विकल्प या नई परम्परा समाज के समक्ष प्रकट नही की जाए तो वह क्रांति या परिवर्तन सफल नही हो पाता है।

आचार्य तुलसी के क्रांतिकारी व्यक्तित्व का अकन करते हुए राममनोहर त्रिपाठी कहते है—"क्रांति की बात करना आसान है पर करना बहुत कठिन है। इसके लिए समग्रता से प्रयत्न करने की अपेक्षा रहती है। आचार्य तुलसी जैसे तपस्वी मानव ही ऐसा वातावरण निर्मित कर सकते हैं।"

आचार्य तुलसी के समक्ष यह सत्य स्पष्ट है कि परम्परा का व्यामोह रखने वाले और विरोध की आग मे डरने वाले कोई महत्त्वपूर्ण कार्य सपन्न नही कर सकते।"[1] जब आचार्य तुलसी ने सडी-गली मान्यताओ के विरोध मे अपनी सशक्त आवाज उठाई, तब समाज मे होने वाली तीव्र प्रतिक्रिया उनकी स्वय की भाषा मे पठनीय है—"मैने समाज को सादगीपूर्ण एवं सक्रिय जीवन जीने का सूत्र तब दिया, जब आडम्बर और प्रदर्शन करने वालो को प्रोत्साहन मिल रहा था। इससे समाज मे गहरा ऊहापोह हुआ। धर्माचार्य के अधिकारों की चर्चाए चली। सामाजिक दायित्व का विश्लेषण हुआ और मुझे परम्पराओं का विघटक घोषित कर दिया गया। मेरा उद्देश्य स्पष्ट था इसलिए समाज की आलोचना का पात्र बनकर भी मैंने समय-समय पर प्रदर्शनमूलक प्रवृत्तियो, अधपरम्पराओ और अधानुकरण की वृत्ति पर प्रहार किया।"[2]

वे प्रवचनो एव निबधो मे स्पष्ट कहते रहते है—"मैं रूढियो का विरोधी हू, न कि परम्परा का। समाज मे उसी परम्परा को जीवित रहने का अधिकार है, जो व्यक्ति, समाज एव राष्ट्र की धारा से जुड़कर उसे गतिशील बनाने मे निमित्त बनती है। पर मैं इतना रूढ भी नही हूं कि अर्थहीन परम्पराओ को प्रश्रय देता रहूं।"[3] वे इस सत्य को जीवन का आदर्श मानकर चल रहे है—"मै परिवर्तन के समय मे स्थिरता मे विश्वास बनाए रखना चाहता हू और स्थिरता के लिए परिवर्तन मे विश्वास करता हूं। वह परिवर्तन मुझे मान्य नही, जहा सत्य की विस्मृति हो जाए।"[4]

---

१. एक बूद : एक सागर, पृ० ८५१।
२. राजपथ की खोज, पृ० २०१।
३. एक बूद : एक सागर, पृ० ८५२,८५३।
४ वही, पृ० ८६१।

सामाजिक क्राति को घटित करने के कारण वे युगप्रवर्त्तक एवं युगप्रधान के रूप मे प्रतिष्ठित हुए है। उन्होने सदैव युग के साथ आवश्यकतानुसार स्वय को बदला है तथा दूसरो को भी बदलने की प्रेरणा दी है।

नया मोड़

आडम्बर, प्रदर्शन एवं दिखावे की प्रवृत्ति से सामाजिक परम्पराए इतनी बोझिल हो जाती हैं कि उन्हे निभाते हुए सामान्य व्यक्ति की तो आर्थिक रीढ ही टूट जाती है और न चाहते हुए भी उसके कदम अनैतिकता की ओर अग्रसर हो जाते हैं। आचार्य तुलसी सामाजिक कुरीतियो को जीवन-विकास का सबसे बडा बाधक तत्त्व मानते है।

समाज के बढते हुए आर्थिक बोझ तथा सामाजिक विकृतियो को दूर करने हेतु उन्होने सन् १९५८ के कलकत्ता प्रवास मे अणुव्रत आदोलन के अन्तर्गत 'नए मोड' का सिहनाद फूका।

आचार्य तुलसी के शब्दो मे 'नए मोड' का तात्पर्य है—"जीवन दिशा का परिवर्तन। आडम्बर और कुरूढियो के चक्रव्यूह को भेदकर संयम, सादगी की ओर अग्रसर होना। विपमता और शोषण के पजे से समाज को मुक्त करना। अहिंसा और अपरिग्रह के माध्यम से जीवन-विकास का मार्ग प्रस्तुत करना। जीवन की कुण्ठित धारा को गतिशील बनाना।"[1]

दहेज प्रथा को मान्यता देना, शादी के प्रसग मे दिखावा करना, मृत्यु पर प्रथा रूप से रोना, पति के मरने पर वर्षो तक स्त्री का कोने मे बैठे रहना, विधवा स्त्री को कलक मानना, उसका मुख देखने को अपशकुन कहना—आदि ऐसी रूढिया है, जिनको आचार्य तुलसी ने इस नए अभिक्रम मे उनको ललकारा है। आज ये कुरूढिया उनके प्रयत्न से अपनी अन्तिम सासे ले रही है।

इस नए अभिक्रम की विधिवत् शुरुआत राजनगर मे तेरापथ की द्विशताब्दी समारोह (१९५९) की पुनीत वेला मे हुई। आचार्य तुलसी ने 'नए मोड' को जन-आंदोलन का रूप देकर नारी जाति को उन्मुक्त आकाश मे सांस लेने की बात समझाई। बहिनों मे एक नयी चेतना का सचार किया। नए मोड के प्रारम्भ होने से राजस्थानी बहिनो का अपूर्व विकास हुआ। जो स्त्री पर्दे मे रहती थी, शिक्षा के नाम पर जिसे एक अक्षर भी नही पढाया जाता था, यात्रा के नाम पर जो स्वतन्त्र रूप से घर की दहलीज भी नही लाघ सकती थी, उस नारी को सार्वजनिक मच पर उपस्थित कर उसे अपनी शक्ति और अस्तित्व का अहसास करवा दिया।

---

१ जैन भारती, १७ सित० १९६१।

अपने प्रयाण गीत मे वे क्रांतिकारी भावनाओ को व्यक्त करते हुए वे कहते है—

"नया मोड हो उसी दिशा में, नयी चेतना फिर जागे,
तोड़ गिराएं जीर्ण-शीर्ण जो अंधरूढियो के धागे।
आगे बढने का अब युग है, बढ़ना हमको सबसे प्यारा॥"

जन्म, विवाह एव मृत्यु के अवसर पर लाखो-करोड़ो रुपयो को पानी की भाति बहाया जाता है। इन झूठे मानदंडों को प्रतिष्ठित करने से समाज की गति अवरुद्ध हो जाती है। 'नए मोड़' अभियान के माध्यम से आचार्य तुलसी ने समाज की प्रदर्शनप्रिय एव आडम्बरप्रधान मनोवृत्ति को संयम, सादगी एव शालीनता की ओर मोड़ने का भागीरथ प्रयत्न किया है।

आचार्य तुलसी का चिन्तन है कि मानव अपनी आतरिक रिक्तता पर आवरण डालने के लिए प्रदर्शन का सहारा लेता है। उन्होंने समाज में होने वाले तर्कहीन एव खोखले आडम्बरो का यथार्थ चित्रण अपने साहित्य मे अनेक स्थलों पर किया है। यहां उसके कुछ बिन्दु प्रस्तुत हैं, जिससे समाज वास्तविकता के धरातल पर खड़ा होकर अपने आपको देख सके। निम्न विचारो को पढ़ने से समझा जा सकता है कि वे समाज की हर गतिविधि के प्रति कितने जागरूक है ?

जन्म दिन पर होने वाली पाश्चात्य संस्कृति का अनुकरण आचार्य तुलसी की दृष्टि मे सम्यक् नही है। इस पर प्रश्नचिन्ह उपस्थित करते हुए वे कहते हैं—"केक काटना, मोमबत्तियां जलाना या बुझाना आदि जैन क्या भारतीय संस्कृति के भी अनुकूल नही है। फिर भी आधुनिकता के नाम पर सब कुछ चलता है। कहा चला गया मनुष्य का विवेक ? क्या यह आख मूदकर चलने का अभिनय नही है ?"[1]

शादी आज सादी नही, बर्बादी बनती जा रही है। विवाह के अवसर पर होने वाले आडम्बरो एव रीति-रिवाजों की एक लम्बी सूची प्रस्तुत करते हुए वे समाज को कुछ सोचने को मजबूर कर रहे हैं—

"विवाह से पूर्व सगाई के अवसर पर बड़े-बड़े भोज, साते या बीटी मे लेन-देन का असीमित व्यवहार, बारात ठहराने एवं प्रीतिभोजो के लिए फाइव स्टार (पंचसितारा) होटलो का उपयोग, घर पर और सड़क पर समूह-नृत्य, मण्डप और पण्डाल की सजावट मे लाखो का व्यय, कार से उतरने के स्थान से लेकर पण्डाल तक फूलो की सघन सजावट, बिजली की अतिरिक्त जगमगाहट, कुछ मनचले लोगो द्वारा बारात मे शराब का प्रयोग, एक-एक खाने मे सैकडो किस्म के खाद्य, अनेक प्रकार के पेय, प्रत्येक दस मिनट के

---

१. आह्वान पृ० १३।

वाद नए-नए खाद्य-पेय की मनुहार—क्या यह सब धार्मिक कहलाने वाले परिवारो मे नही हो रहा है ? समाज का नेतृत्व करने वाले लोगो मे नही हो रहा है ?····एक ओर करोड़ो लोगो को दो समय का पूरा भोजन मयस्सर नही होता, दूसरी ओर भोजन-व्यवस्था मे लाखो-करोड़ो की बर्वादी । समझ मे नही आता, यह सब क्या हो रहा है ?"[1]

शादी की वर्षगांठ को धूमधाम से मनाना आधुनिक युग की फैशन बनती जा रही है। इसकी तीखी आलोचना करते हुए वे समाज का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं—

"प्राचीनकाल मे एक वार विवाह होता और सदा के लिए छुट्टी हो जाती । पर अब तो विवाह होने के वाद भी वार-वार विवाह का रिहर्सल किया जाता है । विवाह की सिल्वर जुबली, गोल्डन जुबली, षष्टिपूर्ति आदि न जाने कितने अवसर आते हैं, जिन पर होने वाले समारोह प्रीतिभोज आदि देखकर ऐसा लगता है मानो नए सिरे से शादी हो रही है।"[2]

मृतक प्रथा पर होने वाले आडम्बर और अपव्यय पर उनका व्यंग्य कितना मार्मिक एवं वेधक है—"आश्चर्य है कि जीवनकाल मे दादा, पिता और माता को पानी पिलाने की फुरसत नही और मरने के वाद हलुआ, पूडी खिलाना चाहते है, यह कैसी विडम्वना और कितना अधविश्वास है !"[3]

इसके अतिरिक्त 'नए मोड' के माध्यम से उन्होने विधवा स्त्रियो के प्रति होने वाली उपेक्षा एवं दयनीय व्यवहार को भी बदलने का प्रयत्न किया है। इस सदर्भ मे उन्होने समाज को केवल उपदेश ही नही दिया, वल्कि सक्रिय प्रयोगात्मक प्रशिक्षण भी दिया है। हर मगल कार्य मे अपशकुन समझी जाने वाली विधवा स्त्रियो का उन्होने प्रस्थान की मंगल वेला मे अनेक बार शकुन लिया है तथा समाज की भ्रात धारणा को वदलने का प्रयत्न किया है। विधवा स्त्रियो की दयनीय स्थिति का चित्रण करती हुई उनकी ये पक्तिया समाज को चिन्तन के लिए नए विन्दु प्रस्तुत करने वाली है—"विधवा को अपने ही घर मे नौकरानी की तरह रहना पडता है। क्या कोई पुरुष अपनी पत्नी के वियोग मे ऐसा जीवन जीता है ? यदि नही तो स्त्री ने ऐसा कौन-सा अपराध किया, जो उसे ऐसी हृदय-विदारक वेदना भोगनी पडे । समाज का दायित्व है कि ऐसी वियोगिनी योगिनियो के प्रति सहानुभूतिपूर्ण वातावरण का निर्माण करे और उन्हे सचेतन जीवन जीने का अवसर दे ।"

---

१ आह्वान, पृ० ११,१२ ।
२ वही, पृ० १३ ।
३ एक बूद . एक सागर, पृ० ९ ।

सती प्रथा के विरोध में भी उन्होंने अपना स्वर प्रखर किया है। वे स्पष्ट कहते हैं—"समाज और धर्म के कुछ ठेकेदारों ने सती प्रथा को धार्मिक परम्परा का जामा पहना कर प्रतिष्ठित कर दिया। यह अपराध है, मातृ जाति का अपमान है और विधवा स्त्रियों के शोषण की प्रक्रिया है।"

समाज ही नहीं, धार्मिक स्थलों पर होने वाले आडम्बर और प्रदर्शन के भी वे खिलाफ हैं। धार्मिक समारोहों को भी वे रूढ़ि एवं प्रदर्शन का रूप नहीं लेने देते। उदयपुर चातुर्मास प्रवेश पर नागरिक अभिनन्दन का प्रत्युत्तर देते हुए वे कहते हैं—"मैं नहीं चाहता कि मेरे स्वागत में बैंड बाजे बजाए जाएं, प्रवचन पंडाल को कृत्रिम फूलों से सजाया जाए। यह धर्मसभा है या महफिल ? कितना आडम्बर ! कितनी फिजूल खर्ची !! मैं यह भी नहीं चाहता कि स्थान-स्थान पर मुझे अभिनन्दन-पत्र मिलें। हार्दिक भावनाएं मौखिक रूप से भी व्यक्त की जा सकती है, सैकडों की संख्या में उनका प्रकाशन करना धन का अपव्यय है। माना, आपमें उत्साह है पर इसका मतलब यह नहीं कि आप धर्म को आडम्बर का रूप दें।"[1]

बगड़ी में प्रदत्त निम्न प्रवचनांश भी उनकी महान् साधकता एवं आत्मलक्ष्यी वृत्ति की ओर इंगित करता है—"......प्रवचन पंडालों में अनावश्यक बिजली की जगमगाहट का क्या अर्थ है ? प्रत्येक कार्यक्रम के वीडियो कैसेट की क्या उपयोगिता है ?"[2] वे कहते हैं—"धार्मिक समाज ने यदि इस सन्दर्भ में गम्भीरता से चिन्तन नहीं किया तो अनेक प्रकार की जटिलताओं का सामना करना पड़ सकता है।"[3]

आचार्य तुलसी समाज की मानसिकता को बदलना चाहते हैं पर बलात् या दबाव से नहीं, अपितु हृदय-परिवर्तन से। यही कारण है कि अनेक स्थलों पर उन्हें मध्यस्थ भी रहना पड़ता है। अपनी दक्षिण यात्रा का अनुभव वे इस भाषा में प्रकट करते है—"मेरी दक्षिण-यात्रा में ऐसे कई प्रसंग उपस्थित हुए, जिनमे बैंड बाजों से स्वागत किया गया। हरियाली के द्वार बनाए गए। तोरणद्वार सजाए गए। पूर्ण जलकुंभ रखे गये। फलों, फूलों और फूल-मालाओं से स्वागत की रस्म अदा की गई। चावलों के साथिए बनाए गए। कन्याओं द्वारा कच्चे नारियल के जगमगाते दीपों से आरती उतारी गई। कुंकुम-केसर चरचे गए। शंखनाद के साथ वैदिक मंत्रोच्चारण हुआ। स्थान-स्थान पर मेरी अगवानी में सड़क पर घड़ों भर पानी छिड़का गया। उन लोगों को समझाने का प्रयास हुआ, पर उन्हें मना नहीं सके। वे हर मूल्य

---

१. जैन भारती, १० जून १९६२।
२. जीवन की सार्थक दिशाएं, पृ० ८८।
३. आह्वान, पृ० १६।

पर अपनी परम्परा का निर्वाह करना चाहते थे। ऐसी परिस्थिति मे मै अपना दृष्टिकोण स्पष्ट कर सकता हू, किन्तु किसी पर दबाव नही डाल सकता।"[1]

सामाजिक क्राति से आचार्य तुलसी का स्पष्ट अभिमत है —"जहां क्राति का प्रश्न है, वहां दबाव या भय से काम तो हो सकता है, पर उस स्थिति को क्राति नाम से रूपायित करने मे मुझे सकोच होता है।"[2] उनकी दृष्टि मे क्राति की सफलता के लिए जनमत को जागृत करना आवश्यक है। हजारीप्रसाद द्विवेदी का मतव्य है—"सिर्फ जानना या अच्छा मानना ही काफी नही होता, जानते तो बहुत से लोग है, परन्तु उसको ठीक-ठीक अनुभव भी करा देना साहित्यकार का कार्य है।"[3]

आचार्य तुलसी के सत्प्रयासो एव ओजस्वी वाणी से समाज ने एक नई अगडाई ली है, युग की नब्ज को पहचानकर चलने का सकल्प लिया है तथा अपनी शक्ति का नियोजन रचनात्मक कार्यो मे करने का अभिक्रम प्रारम्भ किया है।

यह कहना अतिशयोक्ति नही होगा कि आचार्य तुलसी द्वारा की गयी सामाजिक क्राति का यदि लेखा-जोखा प्रस्तुत किया जाए तो एक स्वतंत्र शोधप्रबध तैयार किया जा सकता है।"

नारी

पुरुष हृदय पाषाण भले ही हो सकता है,
नारी हृदय न कोमलता को खो सकता है।
पिघल-पिघल अपने अन्तर् को धो सकता है,
रो सकता है, किंतु नहीं वह सो सकता है॥

आचार्य तुलसी द्वारा उद्गीत इन काव्य-पक्तियो मे नारी की मूल्यवत्ता एव गुणात्मकता की स्पष्ट स्वीकृति है। आचार्य तुलसी मानते है कि महिला वह धुरी है, जिसके आधार पर परिवार की गाडी सम्यक् प्रकार से चल सकती है। धुरी मजबूत न हो तो कही भी गाडी के अटकने की सभावना बनी रहती है।"[4] उनकी दृष्टि मे सयम, शालीनता, समर्पण, सहिष्णुता की सुरक्षा पक्तियो मे रहकर ही नारी गौरवशाली इतिहास का सृजन कर सकती है।

आचार्य तुलसी के दिल मे नारी की कितनी आकर्षक तस्वीर है,

१. राजपथ की खोज, पृ० २०२।
२ अनैतिकता की धूप . अणुव्रत की छतरी, पृ० १९३।
३. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली भाग ७, पृ० २०६।
४ दोनों हाथ एक साथ, पृ० ४६।

इस बात की झाकी निम्न पंक्तियों मे देखी जा सकती है—"मैं महिला को ममता, समता और क्षमता की त्रिवेणी मानता हू। उसके ममता भरे हाथो से नई पीढी का निर्माण होता है, समता से परिवार मे संतुलन रहता है और क्षमता से समाज एव राष्ट्र को संरक्षण मिलता है।"[1] आचार्य तुलसी की प्रेरणा से युगो से आत्मविस्मृत नारी को अपनी अस्मिता और कर्तृत्वशक्ति का तो अहसास हुआ ही है, साथ ही उसकी चेतना मे क्रांति का ऐसा ज्वालामुखी फूटा है, जिससे अंधविश्वास, रूढसस्कार, मानसिक कुंठा और अशिक्षा जैसी बुराइयों के अस्तित्व पर प्रहार हुआ है। आचार्य तुलसी अनेक बार महिला सम्मेलनो मे अपने इस संकल्प को मुखर करते हैं—"शताब्दियो से अशिक्षा के कुहरे से आच्छन्न महिला-समाज को आगे लाना मेरे अनेक स्वप्नो में से एक स्वप्न है। ......मै महिला-समाज के अतीत को देखता हू तो मुझे लगता है, उसने बहुत प्रगति की है। भविष्य की कल्पना करता हू तो लगता है कि अभी बहुत विकास करना है।"[2]

यह कहना अत्युक्ति या प्रशस्ति नही होगा कि यह सदी आचार्य तुलसी को और अनेक रूपो मे तो याद करेगी ही पर नारी उद्धारक के रूप में उनकी सदैव अभिवन्दना करती रहेगी।

नारी के भीतर पनपने वाली हीनता एव दुर्बलता की ग्रंथि को आचार्य तुलसी ने जिस मनोवैज्ञानिक ढंग से सुलझाया है, वह इतिहास के पृष्ठो मे अमर रहेगा। वे नारी को संबोधित करते हुए कहते हैं—"पुरुष नारी का सम्मान करे, इससे पहले यह आवश्यक है कि नारी स्वयं अपना सम्मान करना सीखे। महिलाए यदि प्रतीक्षा करती रहेंगी कि कोई अवतार आकर उन्हे जगाएगा तो समय उनके हाथ से निकल जाएगा और वे जहां खडी हैं, वही खड़ी रहेगी।"[3]

इसी संदर्भ मे उनकी निम्न प्रेरणा भी नारी को उसकी अस्मिता का अहसास कराने वाली है—"पुरुषवर्ग नारी को देह रूप मे स्वीकार करता है, किंतु वह उसके सामने मस्तिष्क बनकर अपनी क्षमताओं का परिचय दे, तभी वह पुरुषों को चुनौती दे सकती है।"[4]

नारी जाति मे अभिनव स्फूर्ति एव अटूट आत्मविश्वास भरने वाले निम्न उद्धरण कितने सजीव एव हृदयस्पर्शी बन पडे है—

० केवल लक्ष्मी और सरस्वती बनने से ही महिलाओं का काम नही

---

१. एक बूद : एक सागर, पृ० १०६६।
२. वही, पृ० १७३२।
३. वही, पृ० १०६६।
४ दोनो हाथ ' एक साथ, पृ० ८५।

चलेगा, उन्हे दुर्गा भी बनना होगा। दुर्गा बनने से मेरा मतलब हिंसा या आतंक फैलाने से नही, शक्ति को सजोकर रखने से है।"[१]

- नारी अबला नही, सबला बने। बोझ नही, शक्ति बने। कलहकारिणी नही, कल्याणी बने।
- आज का क्षण महिलाओं के हाथ मे है। इस समय भी अगर महिलाए सोती रही, घडी का अलार्म सुनकर भी प्रमाद करती रही तो भी सूरज को तो उदित होना ही है। वह उगेगा और अपना आलोक बिखेरेगा।
- स्त्री मे सृजन की अद्भुत क्षमता है। उस क्षमता का उपयोग विश्वशांति या समस्याओ के समाधान की दिशा मे किया जाए तो वह सही अर्थ मे विश्व की निर्मात्री और संरक्षिका होने का सार्थक गौरव प्राप्त कर सकती है।"[२]

आचार्य तुलसी ने नारी जाति को उसकी अपनी विशेषताओ से ही नही, कमजोरियो से भी अवगत कराया है, जिससे कि उसका सर्वांगीण विकास हो सके। महिला-अधिवेशनो को संबोधित करते हुए नारी समाज को दिशा-दर्शन देते हुए वे अनेक बार कह चुके है—"मैं बहिनो को सुझाना चाहता हू कि यदि उन्हे सघर्ष ही करना है तो वे अपनी दुर्बलताओ के साथ सघर्ष करे। उनके साहित्य में नारी जाति से जुडी कुछ अर्थहीन रूढियो एव दुर्बलताओ का खुलकर विवेचन ही नही, उन पर प्रहार भी हुआ है तथा उसकी गिरफ्त से नारी-समाज कैसे बचे, इसका प्रेरक सदेश भी है।

सौन्दर्य-सामग्री और फैशन की अधी दौड मे नारी ने अपने आचार-विचार एव सस्कृति को भी ताक पर रख दिया है। इस संदर्भ मे उनके निम्न उद्धरण नारी जाति को कुछ सोचने, समझने एव बदलने की प्रेरणा देते है—

- मातृत्व के महान् गौरव से महनीय, कोमलता, दयालुता आदि अनेक गुणों की स्वामिनी स्त्री पता नही भीतर के किस कोने से खाली है, जिसे भरने के लिए उसे ऊपर की टिपटॉप से गुजरना पडता है। मैं मानता हू कि फैशनपरस्ती, दिखावा और विलासिता आदि दुर्गुण स्त्री समाज के अन्तर् सौन्दर्य को ढकने वाले आवरण हैं।"[३]
- अपने कृत्रिम सौन्दर्य को निखारने के लिए पशु-पक्षियो की निर्मम

---

१ दोनो हाथ : एक साथ, पृ० २१।

२ एक बूद : एक सागर, पृ० १९१४।

३. वही, पृ० १६१३।

हत्या को किस प्रकार वर्दाश्त किया जा सकता है, यह प्रश्नचिह्न मेरे अत करण को वेचैन वना रहा है।"[1]

उनका चिंतन है कि यदि वैज्ञानिक सवेदनशील यत्रो के माध्यम से वायुमडल मे विकीर्ण उन वेजुवान प्राणियो की करुण चीत्कारो के प्रकम्पनो को पकड़ सके और उनका अनुभव करा सके तो कृत्रिम सौन्दर्य सम्वन्धी दृष्टि वदल सकती है।

आज कन्याभ्रूणो की हत्या का जो सिलसिला वढ रहा है, इसे वे नारी-शोपण का आधुनिक वैज्ञानिक रूप मानते है तथा उसके लिए महिला समाज को ही दोषी ठहराते है। नारी जाति को भारतीय सस्कृति से परिचित कराती हुई उनकी निम्न प्रेरणादायिनी पक्तियां पठनीय ही नही, मननीय भी है--

"भारतीय मा की ममता का एक रूप तो वह था, जब वह अपने विकलाग, विक्षिप्त और वीमार बच्चे का आखिरी सास तक पालन करती थी। परिवार के किसी भी सदस्य द्वारा की गई उसकी उपेक्षा से मां पूरी तरह से आहत हो जाती थी। वही भारतीय मा अपने अजन्मे, अवोल शिशु को अपनी सहमति से समाप्त करा देती है। क्यो ? इसलिए नही कि वह विकलाग है, विक्षिप्त है, वीमार है पर इसलिए कि वह एक लड़की है। क्या उसकी ममता का स्रोत सूख गया है ? कन्याभ्रूणो की वढती हुई हत्या एक ओर मनुष्य को नृशस करार दे रही है, तो दूसरी ओर स्त्रियो की सख्या में भारी कमी से मानविकी पर्यावरण मे भारी असतुलन उत्पन्न कर रही है।"[2]

वे नारी जाति के विकास हेतु उचित स्वातंत्र्य के ही पक्षधर है, क्योकि सावधानी के अभाव मे स्वतत्रता स्वच्छंदता मे परिणत हो जाती है तथा प्रगति का रास्ता नापने वाले पग उत्पथ मे वढ जाते हैं। विकास के नाम पर अवाछित तत्त्व भी जीवन मे प्रवेश कर जाते हैं। इस दृष्टि से वे भारतीय नारी को समय-समय पर जागरूकता का दिशावोध देते रहते हैं।

आचार्य तुलसी पोस्टरो तथा पत्र-पत्रिकाओ मे नारी-देह की अश्लील प्रस्तुति को नारी जाति के गौरव के प्रतिकूल मानते है। इसमे भी वे नारी जाति को ही अधिक दोपी मानते है, जो धन के प्रलोभन मे अपने शरीर का प्रदर्शन करती है तथा सामाजिक शिष्टता का अतिक्रमण करती है। नारी के अश्लील रूप की भर्त्सना करते हुए वे कहते है—

"मुझे ऐसा लगता है कि एक व्यवसायी को अपना व्यवसाय चलाने

१. विचार वीथी, पृ० १७०।
२ कुहासे मे उगता सूरज, पृ० ९७।

की जितनी आकांक्षा होती है, शायद उससे भी अधिक आकांक्षा उन महिलाओं के मन मे ढेर सारा धन बटोरने की पल रही होगी, जो समाज के मूल्य-मानको को ताक पर रखकर कैमरे के सामने प्रस्तुत होती हैं।"[1]

आचार्य तुलसी ने अनेक बार इस सत्य को अभिव्यक्त किया है कि पुरुष नारी के विकास मे अवरोधक बना है, इसमे सत्यांश हो सकता है पर नारी स्वयं नारी के विकास मे बाधक बनती है, यह वास्तविकता है। दहेज की समस्या को बढाने में नारी जाति की अहंभूमिका रही है, इसे नकारा नही जा सकता। इसी बात को आश्चर्यमिश्रित भाषा मे प्रखर अभिव्यक्ति देते हुए वे कहते है—"आश्चर्य इस बात का है कि दहेज की समस्या को बढाने मे पुरुषो का जितना हाथ है, महिलाओ का उससे भी अधिक है। दहेज के कारण अपनी बेटी की दुर्दशा को देखकर भी एक मा पुत्र की शादी के अवसर पर दहेज लेने का लोभ संवरण नही कर सकती। अपनी बेटी की व्यथा से व्यथित होकर भी वह बहू की व्यथा का अनुभव नही करती।"[2]

इसी संदर्भ मे उनका दूसरा उद्‌बोधन भी नारी-चेतना एवं उसके आत्मविश्वास को जागृत करने वाला है—"दहेज के सवाल को मैं नारी से ही शुरू करना चाहता हू। मा, सास तथा स्वयं लड़की जब दहेज को अस्वीकार करेगी तभी उसका सम्मान जागेगा। इस तरह एक सिरे से उठा आत्मसम्मान धीरे-धीरे पूरी समाज-व्यवस्था मे अपना स्थान बना सकता है।"[3]

एक धर्माचार्य होने पर भी नारी जाति से जुड़ी ऐसी अनेक रूढियो एव कमजोरियो की जितनी स्पष्ट अभिव्यक्ति आचार्य तुलसी ने अपने साहित्य मे दी है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। नारी जाति को विकास का सूत्र देते हुए उनका कहना है—"विकास के लिए बदलाव एव ठहराव दोनो जरूरी है। मौलिकता स्थिर रहे और उसके साथ युगीन परिवर्तन भी आते रहे, इस क्रम से विकास का पथ प्रशस्त होता है।"[4]

आचार्य तुलसी नारी की शक्ति के प्रति पूर्ण आश्वस्त है। उनका इस बात मे विश्वास है कि अगर नारी समाज को उचित पथदर्शन मिले तो वे पुरुषो से भी आगे बढ़ सकती है। वे कहते है—"मेरे अभिमत से ऐसा कोई कार्य नही है, जिसे महिलाए न कर सके।"[5] अपने विश्वास को

१. कुहासे मे उगता सूरज, पृ० ११३।
२. अनैतिकता की धूप : अणुव्रत की छतरी, पृ० १७८।
३. अणुव्रत अनुशास्ता के साथ, पृ० २९।
४ दोनों हाथ : एक साथ, पृ० ४५।
५. बहता पानी निरमला, पृ० २८१।

महिला समाज के समक्ष वे इस भाषा मे रखते हैं—"महिलाओं की शक्ति पर मुझे पूरा भरोसा है। जिस दिन मेरे इस भरोसे पर महिलाओं को पूरा भरोसा हो जाएगा, उस दिन सामाजिक चेतना में क्रान्ति का एक नया विस्फोट होगा, जो नवनिर्माण की पृष्ठभूमि के रूप मे सामने आएगा।" नारी जाति के प्रति अतिरिक्त उदारता की अभिव्यक्ति कभी-कभी तो इन शब्दों मे प्रस्फुटित हो जाती है—"मैं उस दिन की प्रतीक्षा मे हू, जब स्त्री-समाज का पर्याप्त विकास देखकर पुरुष वर्ग उसका अनुकरण करेगा।" एक पुरुष होकर नारी जाति के इस उच्च विकास की कामना उनके महिमा-मंडित व्यक्तित्व का महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है।

युवक

युवक शक्ति का प्रतीक और राष्ट्र का भावी कर्णधार होता है पर उचित मार्गदर्शन के अभाव मे जहा वह शक्ति विध्वसक बनकर सम्पूर्ण मानवता का विनाश कर सकती है, वहा वही शक्ति कुशल नेतृत्व मे सृजनात्मक एवं रचनात्मक ढंग से कार्य करके देश का नक्शा बदल सकती है। आचार्य तुलसी ने युवकों की सृजन चेतना को जागृत किया है। उनका विश्वास है कि देश की युवापीढ़ी तोड़-फोड़ एव अपराधो के दौर से तभी गुजरती है, जब उसके सामने कोई ठोस रचनात्मक कार्य नही होता है। आचार्यश्री ने युवापीढ़ी के समक्ष करणीय कार्यो की एक लम्बी सूची प्रस्तुत कर दी है, जिससे उनकी शक्ति को सृजन की धारा के साथ जोड़ा जा सके। उनकी अनुभवी, हृदयस्पर्शी और ओजस्वी वाणी ने सैकड़ों धीर, वीर, गभीर, तेजस्वी, मनीषी और कर्मठ युवको को भी तैयार किया है। आचार्य तुलसी ने अपने जीवन से युवकत्व को परिभाषित किया है। वे कहते हैं—

- युवक वह होता है, जिसकी आखों में सपने हो, होठों पर उन सपनो को पूरा करने का सकल्प हो और चरणों मे उस ओर अग्रसर होने का साहस हो, विचारो मे ठहराव हो, कार्यो मे अंधानुकरण न हो।"[1]
- जहा उल्लास और पुरुषार्थ अठखेलिया करे, वहा बुढ़ापा कैसे आए? वह युवा भी बूढ़ा होता है, जिसमे उल्लास और पौरुष नही होता।

आचार्य तुलसी की युवको के नवनिर्माण की बेचैनी को निम्न शब्दो मे देखा जा सकता है—"मुझे युवको के नवनिर्माण की चिन्ता है, न कि उन्हें शिष्य बनाए रखने की। मैं युवापीढ़ी के बहुआयामी विकास को देखने के लिए बेचैन हू। मेरी यह बेचैनी एक-एक युवक के भीतर उतरे, उनकी ऊर्जा का केन्द्र प्रकम्पित हो और उस प्रकम्पन धारा का उपयोग सकारात्मक काम

---

१. एक बूंद · एक सागर, पृ० ११४५।

में हो तो उनके जीवन मे विशिष्टता का आविर्भाव हो सकता है।"[1]

उन्होने अपने साहित्य मे आज की दिग्भ्रान्त युवापीढ़ी की कमजोरियो का अहसास कराया है तो विशेषताओ को कोमल शब्दो में सहलाया भी है। कही उन्हे दायित्व-बोध कराया है तो कही उनसे नई अपेक्षाएं भी व्यक्त की हैं। कही-कही तो उनकी अन्त.वेदना इस कदर व्यक्त हुई है, जो प्रत्येक मन को आदोलित करने मे समर्थ है—"यदि भारत का हर युवक शक्ति सम्पन्न होता और उत्साह के साथ शक्ति का सही नियोजन करता तो भारत की तस्वीर कुछ दूसरी ही होती।"

आचार्य तुलसी अपने साहित्य मे स्थान-स्थान पर अकर्मण्य, आलसी और निरुत्साही युवको को झकझोरते रहते है। औपमिक भाषा मे युवको की अन्त:शक्ति जगाते हुए वे कहते हैं—"जिस प्रकार दिन जैसे उजले महानगरो में मिलो के कारण शाम उतर आती है, वैसे ही सकल्पहीन युवक पर बुढापा उतर आता है।"

वे आज की युवापीढी से तीन अपेक्षाएं व्यक्त करते हैं—

१ युवापीढ़ी का आचार-व्यवहार, खान-पान तथा रहन-सहन सादा तथा सात्त्विक हो।

२ युवापीढी विघटनमूलक प्रवृत्तियो से ऊपर उठकर अपने संगठन-पथ को सुदृढ बनाए।

३. युवापीढी समाज की उन जीर्ण-शीर्ण, अर्थहीन एव भारभूत परपराओ को समाप्त करने के लिए कटिबद्ध हो, जिसका संवध युवको से है।"[2]

युवापीढी मे वढती नशे की प्रवृत्ति से आचार्य तुलसी अत्यन्त चिंतित है। वे मानते है—"किसी भी समाज या देश को सत्यानाश के कगार पर ले जाकर छोडना हो तो उसकी युवापीढी को नशे की लत मे डाल देना ही काफी है।"[3]

वे भारतीय युवको के मानस को प्रशिक्षित करते हुए कहते हैं—प्रारम्भ मे व्यक्ति शराब पीता है, कालातर मे शराव उसे पीने लगती है। ·······शराव जिस घर मे पहुच जाती है, वहां सुख, शाति और समृद्धि पीछे वाले दरवाजे से वाहर निकल जाते है।"[4]

आचार्य तुलसी का मानना है कि मादक पदार्थो की वढती हुई घुसपैठ

---

१ दोनो हाथ एक साथ, पृ० १०१।

२ समाधन की ओर, पृ० १०।

३. कुहासे मे उगता सूरज, पृ० १२५।

४. एक बूद : एक सागर, पृ० १३२०।

को नही रोका गया तो भविष्य हमारे हाथ से निकल जाएगा। राष्ट्र के नाम अपने एक विशेष सन्देश में समाज को सावचेत करते हुए वे अपने उद्गार प्रकट करते हुए कहते हैं—"पशु अज्ञानी होता है, उसमें विवेक नहीं होता फिर भी वह नशा नही करता। मनुष्य ज्ञानी होने का दम्भ भरता है। विवेक की रास हाथ मे लेकर चलता है, फिर भी नशा करता है। क्या उसकी ज्ञान-चेतना सो गयी? जान-बूझकर अश्रेयस् की यात्रा क्यो?" उनके द्वारा रचित काव्य की ये पक्तिया आज की दिग्भ्रमित युवापीढ़ी को जागरण का नव सन्देश दे रही हैं--

यदि सुख से जीना है तो, त्यागो मदिरा की बोतल।
यदि अमृत पीना है तो त्यागो यह जहर हलाहल॥
सोचो यह इन्द्रधनुष सा जीवन है कैसा चंचल।
फिर तुच्छ तृप्ति के खातिर क्यों है व्यसनों की हलचल॥

आचार्य तुलसी ने निषेध की भाषा मे नही, अपितु वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक तरीके से युवा-समाज के मन मे नशीले पदार्थों के प्रति वितृष्णा पैदा की है। अणुव्रत के माध्यम से उन्होंने देशव्यापी नशामुक्ति अभियान चलाया है, जिससे लाखो युवको ने व्यसनमुक्त जीवन जीने का संकल्प अभिव्यक्त किया है।

आदर्श युवक के लिए आचार्य तुलसी पाच कसौटिया प्रस्तुत करते हैं—

- **श्रद्धाशील**—श्रद्धा वह कवच है, जिसे धारण करने वाला व्यक्ति भ्रातियो और अफवाहो के नुकीले तीरो से आविद्ध नही हो सकता।
- **सहनशील**—सहनशीलता वह मरहम है, जो मानसिक आघातो से बने घावो को अविलम्ब भर सकती है।
- **विचारशील**—विचारशीलता वह सेतु है, जो पारस्परिक दूरियों को पाटकर एक समतल धरातल का निर्माण करती है।
- **कर्मशील**—कर्मशीलता वह पुरुषार्थ है, जो अधिकार की भावना समाप्त कर कर्तव्यबोध की प्रेरणा देती है।
- **चरित्रशील**—चरित्रशीलता वह निधि है, जो सब रिक्तताओ को भरकर व्यक्ति को परिपूर्ण बना देती है।"[1]

आचार्य तुलसी ने युवापीढी का विश्वास लिया ही नही, मुक्त मन से विश्वास किया भी है। यही कारण है कि उनके हर मिशन से युवक जुड़े हुए है और उसे सफल करने का प्रयत्न करते है। युवापीढी पर विश्वास व्यक्त

१. दोनो हाथ : एक साथ, पृ० १०७।

करने वाली निम्न पक्तिया उनके सार्वजनिक एव आत्मीय व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है—"युवापीढी सदा से मेरी आशा का केन्द्र रही है, चाहे वह मेरे दिखाए मार्ग पर कम चल पायी हो या अधिक चल पाई हो, फिर भी मेरे मन मे उनके प्रति कभी भी अविश्वास और निराशा की भावना नही आती। मुझे युवक इतने प्यारे लगते है, जितना कि मेरा अपना जीवन। मै उनकी अद्भुत कार्यजा शक्ति के प्रति पूर्ण विश्वस्त हू।"[1]

समाज और अर्थ

समाज से अर्थ को अलग नही किया जा सकता। क्योकि सामाजिक जीवन मे यह विनियोग का साधन है। अपरिग्रही एव अकिचन होने पर भी आचार्य तुलसी ने अपने साहित्य मे समाज के सभी विपयो पर सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया है। अर्थ के वारे मे उनका चिंतन है कि सामाजिक प्राणी के लिए धन जीवन चलाने का साधन हो सकता है, पर जब उसे जीवन का साध्य मान लिया जाता है, तब शोपण, उत्पीड़न, अनाचरण, अप्रामाणिकता, हिंसा और भ्रष्टाचार से व्यक्ति बच नही सकता।

अर्थशास्त्री उत्पादन-वृद्धि के लिए इच्छा-तृप्ति एव इच्छा-वृद्धि की वात कहते है। पर आचार्य तुलसी इच्छा-तृप्ति के स्थान पर इच्छा-परिमाण एवं इच्छा-रूपान्तरण की वात सुझाते हैं, क्योकि इच्छाओ का क्षेत्र इतना विशाल है कि उनकी पूर्ण तृप्ति असभव है। उनके इच्छा-परिमाण का अर्थ वस्तु-उत्पादन बन्द करना या गरीव होना नही, अपितु अनावश्यक सग्रह के प्रति आकर्षण कम करना है। आचार्य तुलसी का चिंतन है कि निस्सीम इच्छाए व्यक्ति को आनंदोपलब्धि की विपरीत दिशा मे ले जाती है अतः इच्छाओ का परिष्कार ही समाज-विकास या जीवन-विकास है।

राष्ट्र-विकास के संदर्भ मे वे इच्छा-परिमाण को व्याख्यायित करते हुए कहते है—"इच्छाओ का अल्पीकरण विलासिता को समाप्त करने के लिए है। अनन्त आसक्ति और असीम दौडधूप से बचने के लिए है, न कि देश की अर्थव्यवस्था का अवमूल्यन करने के लिए।" वे इस सत्य को स्वीकार करते है कि ससारी व्यक्ति भौतिक सुखो से सर्वथा विमुख बन जाए, यह आकाश-कुसुम जैसी कल्पना है किंतु अन्याय के द्वारा धन-संग्रह न हो, अनर्थ मे अर्थ का प्रयोग न हो, यह आवश्यक है।

समाज के आर्थिक वैपम्य को दूर करने हेतु वे नई सोच प्रस्तुत करते हैं—"'आर्थिक वैपम्य मिटाओ' इसकी जगह हमारा विचारमूलक प्रचार कार्य यह होना चाहिए कि 'आर्थिक दासता मिटाओ'।"[2] इसके लिए आचार्य

१. एक बूद · एक सागर, पृ० १७११।
२. एक बूद : एक सागर, पृ० ३८९।

तुलसी विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था के पक्षधर हैं। क्योंकि अधिक संग्रह उपभोक्ता संस्कृति को जन्म देता है। इस संदर्भ मे उनका मंतव्य है कि जिस प्रकार वहता हुआ पानी निर्मल रहता है, उसी प्रकार चलता हुआ अर्थ ही ठीक रहता है। "अर्थ का प्रवाह जहा कही रुकता है, वह समाज के लिए अभिशाप और पीडा वन जाता है।"[1] अतः स्वस्थ, संगठित, व्यवस्थित एवं सवेदनशील समाज मे अर्थ के प्रवाह को रोकना सामाजिक विकास मे वाधा है।

संग्रह के वारे मे आचार्य तुलसी का चिंतन है---"मेरी दृष्टि मे सग्रह भीतर ही भीतर जलन पैदा करने वाला फोड़ा है और वही जव नासूर के रूप में रिसने लगता है तो अपव्यय हो जाता है।"[2]

संग्रह के कारण होने वाले सामाजिक वैपम्य का यथार्थ चित्र उपस्थित करते हुए वे समाज को सावधान करते हुए कहते हैं—"एक ओर जनता के दुःख-दर्द से वेखवर विलासिता मे आकठ डूवे हुए लोग और दूसरी ओर जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओ से भी वचित अभावो से घिरे लोग। सामाजिक विपमता की इस धरती पर समस्याओ के नए-नए भाड उगते ही रहेगे।"[3]

आर्थिक वैपम्य की समस्या के समाधान मे वे अपना मौलिक चिंतन प्रस्तुत करते है— "मेरा चिंतन है कि अतिभाव और अभाव के मध्य से गुजरने वाला समाज ही तटस्थ चिंतन कर सकता है, अन्यथा वहां विलासिता और पीडा जन्म लेती रहती है।" इसी वात को कभी-कभी वे इस भाषा मे भी प्रस्तुत कर देते है--"गरीवी स्वयं वुरी स्थिति है, अमीरी भी अच्छी स्थिति नही है। इन दोनों से परे जो त्याग या सयम है, इच्छाओं और वासनाओं की विजय है, वही भारतीय जीवन का मौलिक रूप है और इसी ने भारत को सव देशों का सिरमौर वनाया था।"[4]

अपरिग्रह के प्रवल पक्षधर होने पर भी वे पूजीपतियो के विरोधी नही है। पर पूजीवादी मनोवृत्ति पर समय-समय पर प्रहार करते रहते हैं— "पूजीवादी मनोवृत्ति ने जहां एक ओर मानव के वैयक्तिक और पारिवारिक जीवन को विघटित कर डाला है, व्यक्ति को भाई-भाई के खून का प्यासा वना दिया है, पिता पुत्र के वीच वैमनस्य और रोप की भयावह दरार पैदा कर दी है, वहा सामाजिक और सार्वजनिक जीवन पर भी इसने करारी

---

१. एक वूद : एक सागर, पृ० १९१।
२ अणुव्रत के आलोक मे, पृ० ९३।
३. एक वूद : एक सागर, पृ. १५६२।
४. २१-११-५४ के प्रवचन से उद्धृत।

चोट पहुंचाई है। ····जिस आवश्यकता से दूसरे का अधिकार छीना ज
है या उसमें बाधा पहुंचती है, वह आवश्यकता नही, अनधिकार चेष्टा
जाती है।" ······ यदि पूजीपति लोग अपने आपको नही बदलेंगे तो २.
संभावित भीषण परिणाम भी उन्हे अतिशीघ्र भोगने होगे।"

जीवन के यथार्थ सत्य को वे अनुभूति के साथ जोड़कर मने वैज्ञ
भाषा मे कहते हैं–"मैं पर्यटक हूं। मुझे गरीब-अमीर सभी तरह के लोग।
हैं, पर जब उन कोट्याधीश धनवानो को देखता हूं तो वे मुझे अन्न व
के स्थान पर हीरे-पन्ने खाते नजर नही आते। मुझे आश्चर्य होता है
तब फिर क्यो वे धन के पीछे शोषण और अत्याचारो से अपने आपको
के गड्ढे में गिराते हैं।"

वे अनेक बार इस बात को अभिव्यक्ति देते है—"जागृत समाज .
है, जिसके प्रत्येक सदस्य के पास अपने मूलभूत अधिकार हो, ..।
आवश्यकताओ की पूर्ति के साधन हो और सुख दु.ख मे एक-दूसरे के प्र।
समभागिता हो।[1]

समाज की इस विषम स्थिति मे परिवर्तन लाने हेतु वे ऐसी स..ज
व्यवस्था की आवश्यकता महसूस करते हैं, जिसमें पैसे का नही, अपितु त्याग क
महत्त्व रहे।"[2] इसके लिए वे मार्क्स की आर्थिक क्रांति को असफल मानते
बल्कि ऐसी आध्यात्मिक क्रांति की अपेक्षा महसूस करते हैं, जो समाज मे बिन
किसी रक्तपात एवं हिंसा के सन्तुलन बनाए रख सके। उस आ। त्म
क्राति के महत्त्वपूर्ण सूत्र के रूप में उन्होने समाज को विसर्जन का सू
दिया।। वे खुले शब्दो मे समाज को प्रतिबोध देते रहते हैं—"विसर्जन के
बिना अर्जन दुःखदायी और नुकसान पहुचाने वाला होगा। विसर्जन की
चेतना विकसित होते ही अनैतिक और अमानवीय ढंग से किए जाने वाले
सग्रह पर स्वत: रोकथाम लग जाएगी।"

अर्थ के सम्यक् उपयोग एवं नियोजन के बारे मे भी आचार्य तुलसी
ने समाज को नई दृष्टि दी है। वे लोगो की विसगतिपूर्ण मानसिकता पर
व्यग्य करते हैं—"समाज के अभावग्रस्त जरूरतमद लोगो के लिए कही अर्थ
का नियोजन करना होता है तो दस बार सोचा जाता है और बहाने बनाए
जाते हैं, जबकि विवाह आदि प्रसगों मे मुक्त मन से अर्थ का व्यय किया
जाता है।" ··फैशन के नाम पर होने वाली वस्तुओ की खरीद-फरोख्त मे
कितना ही पैसा लग जाए, कभी चिन्तन नही होता और धार्मिक साहित्य
लेना हो तो कीमतें आसमान पर चढी हुई लगती हैं। क्या यह चिंतन का

---

१. एक बूंद . एक सागर, पृ० १४९३।
२ जैन भारती, २६ जून १९५५।

दारिद्रय नही है ?"[1] उक्त उद्धरण का अर्थ यह नही कि वे समाज मे सभी को संन्यासी जैसा जीवन व्यतीत करने का संदेश देते हैं। निम्न वक्तव्य उनके सन्तुलित एवं सटीक चिन्तन का प्रमाणपत्र कहा जा सकता है—"मै सामाजिक जीवन में आमोद-प्रमोद की समाप्ति की बात नही कहता, न उसमे रुकावट डालता हूं, किन्तु यदि हमने युग की धारा को नहीं समझा तो हम पिछड जाएंगे।"[2]

व्यवसाय

सामाजिक प्राणी के लिए आजीविका हेतु व्यवसाय करना आवश्यक है। क्योकि उसके बिना जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति नही होती। आचार्य तुलसी व्यवसाय मे नैतिकता को अनिवार्य मानते है। इस सन्दर्भ मे उनका निम्न सम्बोध अत्यन्त प्रेरक है—"व्यवसाय मे नैतिक मूल्यो की अवहेलना जघन्य अपराध है। शस्त्रास्त्र द्वारा मनुष्य का विनाश कब होगा, निश्चित नही है, लेकिन मानव यदि नैतिक और प्रामाणिक नही बना तो वह स्वयं अपनी नजरो मे गिर जाएगा, यह स्थिति विनाश से भी अधिक खतरनाक होगी।"[3] सम्पूर्ण व्यापारी समाज को उनका प्रतिबोध है—" 'जाए लाख पर रहे साख' इस आदर्श की मीनार पर खडे व्यक्ति कभी नैतिक मूल्यो का अतिक्रमण नही कर सकते। नैतिक और सास्कृतिक मूल्यो की खोज करने वाला समाज प्रकाश की खोज करता है, अमृत की खोज करता है और आनन्द की खोज करता है।"[4]

व्यापार के क्षेत्र मे चलने वाली अनैतिकता एव अप्रामाणिकता को देख-सुनकर उनका मानस कभी-कभी बेचैन हो जाता है। इसलिए वे समय-समय पर प्रवचन-सभाओ मे इस विषय मे अपने प्रेरक विचारो से समाज को लाभान्वित करते रहते है। दक्षिण यात्रा के दौरान एक सभा को सम्बोधित करते हुए वे कहते हैं—"आप व्यापार करते है, पैसा कमाते है, इसमे मुझे कोई आपत्ति नही। किन्तु व्यापार मे जो बुराई है, धोखा है, उसे छुडाने के लिए मै उपदेश नही दू, समाज को नई सूझ न दू, यह कैसे सम्भव है ? मै आपके विरोध के भय से नैतिकता की आवाज बन्द नही कर सकता। शोपण और अमानवीय व्यवहार के विरोध मे मै जीवन भर आवाज उठाता रहूगा।[5]

---

१. आह्वान, पृ० १२,१३।
२. एक बूद एक सागर, पृ० १७२७।
३ वही, पृ० ८२४।
४ वही, पृ० ८३३।
५. २-७-१९६८ के प्रवचन से उद्धृत।

कभी-कभी वे मनोवैज्ञानिक तरीके से व्यापारियो की विशेषताओ को सहलाकर उन्हे नैतिकता की प्रेरणा देते है—"व्यापारी वर्ग को साहूकार का जो खिताव मिला है, वह किसी राष्ट्रपति या सम्राट् को भी नही मिला, इसलिए इस शब्द को सार्थक करने की अपेक्षा है।"

अर्थार्जन के साधन की शुद्धता पर भगवान् महावीर ने विस्तृत विवेक दिया है। आचार्य तुलसी ने उसे आधुनिक परिवेश एव आधुनिक सन्दर्भो मे व्याख्यायित करने का प्रयत्न किया है। उनके साहित्य मे हिंसाबहुल एव उत्तेजक व्यवसायो की खुले शब्दो मे भर्त्सना है।

आचार्य तुलसी खाद्य पदार्थो मे मिलावट के सख्त विरोधी है। वे इसे हिंसा एव अक्षम्य अपराध मानते हैं। 'अमृत महोत्सव' के अवसर पर अपने एक विशेष सन्देश मे वे कहते हैं—"मिलावट करने वाले व्यापारी समाज एव राष्ट्र के तो अपराधी है ही, यदि वे ईश्वरवादी है तो भगवान् के भी अपराधी है। " मिलावट ऐसी छेनी है, जो आदर्श की प्रतिमा को खंड-खड कर खंडहर मे बदल देती है।"[1]

आचार्य तुलसी उस व्यवसाय एव व्यापार को समाज के लिए घातक मानते है, जो हमारी सस्कृति की शालीनता एव सयम पर प्रहार करते है, मानव की अस्मिता पर प्रश्नचिह्न खडा करते है। विज्ञापन-व्यवसाय के बारे मे उनकी निम्न टिप्पणी अत्यन्त मार्मिक है—"विज्ञापन एक व्यवसाय है। अन्य व्यवसायो की तरह ही यह व्यवसाय होता तो टिप्पणी करने की अपेक्षा नही थी। किन्तु जब इससे व्यक्ति के चरित्र और सूझ-बूझ दोनो पर प्रश्नचिह्न खड़े होने लगे, तो सचेत होना पडेगा। " " साडियो के विज्ञापन मे एक युवा लडकी का चित्र देकर लिखा जाता है कि मैं शादी दिल्ली मे ही करूगी क्योकि यहा मुझे उत्तम साडिया पहनने को मिलेगी। पर्यटन एजेसियो का विज्ञापनदाता विवाह योग्य कन्या के मुख से कहलवाता है कि वह उसी व्यक्ति के साथ शादी करेगी, जो उसे विदेश यात्रा करा सके। इस प्रकार के विज्ञापन युवा मानसिकता को गुमराह कर देते हैं।"[2]

इसी सन्दर्भ मे उनका निम्न वक्तव्य भी अत्यन्त मार्मिक एव प्रेरक है—"महिलाओ के लिए खासतौर से सिगरेट बनाना और उसे विज्ञापनी चमक से जोडना महिलाओ को पतन के गर्त मे धकेलना है। सिगरेट बनाने वाली कम्पनी को उससे आर्थिक लाभ हो सकता है, पर देश की सस्कृति का इससे कितना नुकसान होगा, यह अनुमान कौन लगाएगा ?"[3]

---

१ अनैतिकता की धूप : अणुव्रत की छतरी, पृ० १७९।

२ दोनो हाथ : एक साथ, पृ० ८४,८५।

३ अणुव्रत, १ अप्रैल १९९०।

विज्ञापन व्यवसाय से होने वाली हानियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेपण वे इन शब्दों मे करते है—"यह मानवीय दुर्वलता है कि मनुष्य किसी घटना के अच्छे पक्ष को कम पकड़ता है और गलत प्रवाह मे अधिक वहता है। बच्चे तो नासमझ होते हैं अतः विज्ञापन की हर चीज की मांग कर वैठते हैं। खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने अथवा किसी अन्य काम में आने वाली नई चीज का विज्ञापन देखते ही वे उसे पाने के लिए मचल उठते है। ऐसी स्थिति मे माता-पिता के लिए समस्या खड़ी हो जाती है।"[1]

फिल्म-व्यवसाय को वे राष्ट्र के चरित्रवल को क्षीण करने का वहुत वड़ा कारण मानते हैं। यद्यपि वे फिल्म-व्यवसाय पर सर्वथा प्रतिवन्ध लगाने की वात अव्यावहारिक और अमनोवैज्ञानिक मानते हैं, फिर भी उनका सुझाव है—"एक उम्र विशेप तक फिल्म देखने पर यदि प्रतिवन्ध हो तो मैं इसमे लाभ ही लाभ देखता हूं। ...... भारत की युवापीढ़ी इस प्रतिवन्ध के लिए कहां तक तैयार है, यह अवश्य ही शोचनीय प्रश्न है। किन्तु इसके सुखद परिणाम सुनिश्चित है।"[2] फिल्म व्यवसाय से होने वाले दुष्परिणामो की चर्चा करते हुए वे कहते हैं—"फिल्म के कामोत्तेजक दृश्य और गाने, वासना को उभारने वाले पोस्टर, अंग प्रत्यंगो को उभारकर दिखाने वाली या अधनंगी पोशाकें—ये सव युवापीढ़ी के चरित्र को गुमराह करती हैं। मैं मानता हूं, फिल्म-व्यवसाय राष्ट्र के चारित्रिक पतन का मुख्य कारण है।"[3]

वढ़ती वेरोजगारी का कारण आचार्य तुलसी विज्ञान द्वारा आविष्कृत नए-नए यन्त्रों को मानते हैं। यद्यपि आचार्य तुलसी यन्त्रों के विरोधी नही हैं पर उनके सामने चेतन प्राणी का अस्तित्व शून्य हो जाए, वह निष्क्रिय और अकर्मण्य वन जाए, इसके वे विरोधी हैं। इस सन्दर्भ मे उनकी निम्न टिप्पणियां वैज्ञानिको को भी कुछ सोचने को मजवूर कर रही है—"यन्त्र का अपना उपयोग है पर यन्त्र का निर्माता और नियंता स्वयं यन्त्र वन गया तो इस दिशा मे नए आयाम कैसे खुलेंगे ?[4] "........प्रश्न होता है कि क्या करेंगे इतने यन्त्र मानव ? मनुष्य तो वैसे भी निकम्मा होता जा रहा है। मशीनों की कार्यक्षमता इतनी वढ रही है कि एक मशीन सैकड़ो-सैकड़ो मनुष्यो का काम कुछ ही समय में निपटा देती है। मशीनी मानवो के सामने इतना कौन-सा काम रहेगा, जो उनको निरन्तर व्यस्त रख सके अन्यथा ये यंत्र मानव निकम्मे होकर आपस मे लडेंगे, मनुष्यों को तंग करेंगे या और कुछ

---

१. कुहासे मे उगता सूरज, पृ० ४९।
२. अणुव्रत : गति प्रगति, पृ० १७२।
३. वही, पृ० १७१।
४. वैसाखिया विश्वास की, पृ० १८,१९।

करेगे। इनमे कुछ पार्ट्स गलत लग गए अथवा इनके उपयोग में कही प्रमाद रह गया तो ये मनुष्यो को मारने पर उतारू हो जाएगे। यह क्रम शुरू भी हो चुका है। समाचार पत्रो मे तो यह आशका व्यक्त की गई है कि ये अलग देश की माँग करेगे या इन्सान पर राज करेगे। ऐसा कुछ न भी हो, फिर भी यह तो सम्भव लगता है कि ये उत्पात मचाए बिना नही रहेगे।"[1]

इस उद्धरण का तात्पर्य उनकी भाषा मे इन शब्दों मे रखा जा सकता है—"भौतिक विकास एवं यन्त्रो का विकास कभी दु खद नही होगा यदि वह संयम शक्ति के विकास से सन्तुलित हो।"[2]

स्वस्थ समाज-निर्माण

आचार्य तुलसी के महान् एव ऊर्जस्वल व्यक्तित्व को समाज-सुधारक के सीमित दायरे मे बाधना उनके व्यक्तित्व को सीमित करने का प्रयत्न है। उन्हे नए समाज का निर्माता कहा जा सकता है। आचार्य तुलसी जैसे व्यक्ति दो-चार नही, अद्वितीय होते है। उनका गहन चिन्तन समाज के आधार पर नही, वरन् उनके चिन्तन मे समाज अपने को खोजता है। उन्होने साहित्य के माध्यम से स्वस्थ मूल्यो को स्थापित करके समाज को सजीव एव शक्तिसम्पन्न बनाने का प्रयत्न किया है। समाज-निर्माण की कितनी नयी-नयी कल्पनाए उनके मस्तिष्क में तरगित होती रहती है, इसकी पुष्टि निम्न उद्धरण से हो जाती है—"मेरा यह निश्चित विश्वास है कि यदि हम समाज को अपनी कल्पना के अनुरूप ढाल पाते तो आज उसका स्वरूप इतना भव्य और सुघड होता कि मै बता नही सकता।"[3]

आचार्य तुलसी केवल व्यक्तियों के समूह को समाज मानने को तैयार नही है। उनकी दृष्टि मे समाज के सदस्यो मे निम्न विशेषताओ का होना आवश्यक है—"जिस समाज के सदस्यो मे इस्पात सी दृढता, संगठन मे निष्ठा, चारित्रिक उज्ज्वलता, कठिन काम करने का साहस और उद्देश्य पूर्ति के लिए स्वय को झोकने का मनोभाव होता है, वह समाज अपने निर्धारित लक्ष्य तक बहुत कम समय मे पहुच जाता है।"[4]

आचार्य तुलसी समाज-निर्माण की आधारशिला के रूप मे मर्यादा और अनुशासन को अनिवार्य मानते है। उनका निम्न वक्तव्य इसका स्वयभू साक्ष्य है—"समाज हो और मर्यादा न हो, वह समाज अधिक समय तक जीवित नही रह सकता। समाज हो और मर्यादा न हो तो विकास के नए

१ बैसाखिया विश्वास की, पृ० १८,१९।
२. मेरा धर्म केन्द्र और परिधि, पृ० ३२।
३. आह्वान, पृ० २१।
४ एक बूद ' एक सागर, पृ० १३८६।

रास्ते नही खुलते। समाज हो और मर्यादा न हो तो न्याय और समविभाग नही मिल सकता। समाज को स्वस्थ और गतिशील बनाए रखने के लिए मर्यादा की अहंभूमिका रहती है।"[1]

स्वस्थ समाज-संरचना के लिए वे सुविधावाद और विलासिता को बहुत बड़ा खतरा मानते हैं। वे स्पष्ट शब्दो मे कहते है—"विलास का अन्त विनाश में होता है - पानी मे से घी निकल सके तो विलासिता में लिप्त रहकर दुनिया सुख पा सकती है।" कभी-कभी तो वे इतने भावपूर्ण शब्दो मे यह तथ्य जनता के गले उतारते है कि देखते ही बनता है —"मैं आपको यह कैसे समझाऊं कि विलास मे सुख नही है। यह कोई पदार्थ होता तो आपके सामने रख देता पर यह तो अनुभव है। अनुभव बिना स्वयं के आचरण के प्राप्त नही हो सकता।"

आज मानव श्रम को भूलकर यंत्राश्रित हो रहा है, उसे वे उज्ज्वल समाज के भविष्य का प्रतीक नही मानते। उनका मानना है कि जीवन की धरती पर सत्य, शिव और सौन्दर्य की धाराएं प्रवाहित करने के लिए यंत्रो पर निर्भर रहने से काम नही बनेगा।"[2]

गांधीजी ने आदर्श समाज के लिए रामराज्य की कल्पना प्रस्तुत की। आचार्य तुलसी ने आदर्श, निर्द्वन्द्व, स्वस्थ एव शोषणमुक्त समाज-सरंचना के लिए अणुव्रत समाज की संकल्पना की। वे कहते हैं- "मेरे मस्तिष्क मे जिस आदर्श समाज की कल्पना है, वह समूचे विश्व के लिए नए सृजन की दिशा मे वर्तमान युग और युवापीढी के लिए उदाहरण बन सकती है पर उस आदर्श तक पहुंचने के लिए केवल कल्पना के ताने-बाने बुनने मे काम नही होगा। उसके लिए तो दृढ संकल्प और निष्ठा से आगे बढने की जरूरत है।"[3] पदयात्रा के दौरान एक प्रवचन मे वे अपने संकल्प को अभिव्यक्त करते हुए कहते है—"स्वस्थ समाज की संरचना के लिए कार्य करना मेरी जीवन-चर्या का अग है। इसलिए जब-तक वैयक्तिक साधना के साथ-साथ ये सारी बाते नही होती, तब तक मेरी यात्रा सम्पन्न कैसे हो सकती है?

स्वस्थ समाज की कल्पना आचार्य तुलसी के शब्दो मे यो उतरती है—"मेरी दृष्टि मे वह समाज स्वस्थ है, जिसमे व्यसन न हो, कुरूढ़िया न हो, जिसकी जीवन-शैली सात्त्विक, सादगीपूर्ण और श्रम पर आधारित हो। दूसरे शब्दों मे ज्ञान-दर्शन व चारित्र की त्रिवेणी से आप्लावित समाज, स्वस्थ समाज है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र का प्रतिनिधि शब्द है— धर्म या

---

१. एक बूद : एक सागर, पृ० १४९६।
२. बैसाखिया विश्वास की, पृ० १८।
३ जैन भारती २८ अक्टूबर, १९६२।

अध्यात्म। जहा धर्म विकसित होता है, वहां जीवन का निर्माण होता है और समाज स्वस्थ रहता है।"[1] उनकी दृष्टि मे वह समाज रुग्ण है, जहा संग्रह, शोपण, चोरी एव छीनाझपटी चलती है। अत. जहा सब अपने अधिकारो मे सन्तुष्ट तथा सहयोग और सामजस्य की भावना लिए चलते हो, वही स्वस्थ एव आदर्श समाज हो सकता है।

अणुव्रत द्वारा वे एक ऐसे समाज का स्वप्न देखते है, जहा हिंसा व सग्रह न हो। न कानून हो और न दण्ड देने वाला कोई सत्ताधीश हो। न कोई अमीर हो न गरीब। एक का जातिगत अह और दूसरे की हीनता समाज मे वैपम्य पैदा करती है। अत अणुव्रत प्रेरित समाज समान धरातल पर विकसित होगा। इसके लिए वे अनुशासन और सयम की शक्ति को अनिवार्य मानते है।

अणुव्रत के द्वारा शोषण-विहीन स्वस्थ समाज-रचना के कुछ करणीय विन्दु प्रस्तुत करते हुए व कहते हैं—

"१. वह समाज अल्पेच्छा और अपरिग्रह को पहला स्थान देगा। अल्पेच्छा से तात्पर्य है कि उसकी आकाक्षाएं निरंकुश नही होगी। आकाक्षाओ का विस्तार सग्रह या परिग्रह का कारण वनता है और सग्रह शोषण का कारण बनता है। ... ... 'इच्छा-सयम के साथ सग्रह-सयम स्वयं हो जाएगा।

२. अणुव्रत अर्थ और सत्ता के केन्द्रीकरण को, फिर चाहे वह व्यक्तिगत स्तर पर हो या राष्ट्रीय स्तर पर, प्रश्रय नही देगा। अर्थ और सत्ता का केन्द्रीकरण ही शोषण और सग्रह की समस्याओ को जन्म देता है।

३. उस समाज मे श्रम और स्वावलम्वन की प्रतिष्ठा होगी। व्यक्ति आत्मनिर्भर वने और श्रम का मूल्याकन सामाजिक स्तर पर हो, यह प्रयत्न किया जाएगा।

४. सग्रह करने वाले को उसमे सामाजिक प्रतिष्ठा नही मिलेगी। मनुष्य वहुधा अधिक संग्रह प्रतिष्ठा पाने के लिए ही करता है। आवश्यकता पूर्ति के लिए मनुष्य को अधिक धन अपेक्षित नही होता। फिर भी धन के प्रति उसकी जो लालसा देखी जाती है, उसका एक मात्र कारण प्रतिष्ठा ही है। ... 'यही कारण है कि वह सव प्रकार के छल, प्रपंच, [illegible] त्र रचकर भी पैसा कमाना चाहता है। आज यदि [illegible] से सामाजिक प्रतिष्ठा को निकाल लिया जा[illegible] ग्रह का महल ढह जाएगा।

१ आगे की

५. उस समाज के आधार मे अहिंसा होगी। उसका यह विश्वास होगा—समस्या का सही समाधान अहिंसा मे ही है। अपनी हर समस्या को वह अहिंसा के माध्यम से ही सुलझाने का प्रयत्न करेगा।"[1]

अणुव्रत जिस आदर्श एवं शोपणविहीन समाज की रूपरेखा प्रस्तुत करता है, साम्यवाद के सामने भी वही कल्पना है पर इन दोनो की प्रक्रिया मे भिन्नता है। इस भेदरेखा को स्पष्ट करते हुए आचार्य तुलसी कहते हैं—"शोपण-विहीन और स्वतन्त्र समाज की रचना साम्यवाद और अणुव्रत दोनों का उद्देश्य है पर दोनो की प्रक्रिया भिन्न है। साम्यवाद व्यवस्था देता है और अणुव्रत वृत्तियो को परिमार्जित करता है। व्यवस्था की गति तीव्र हो सकती है किंतु वह उत्तरोत्तर लक्ष्य से प्रतिकूल होती जाती है। अणुव्रत की गति मंद है पर वह उत्तरोत्तर लक्ष्य के अनुकूल है। त्वरित गति का उतना महत्त्व नही है, जितना लक्ष्य-प्रतिवद्ध गति का है। साम्यवादी देशो का व्यक्तिवाद की ओर वढता हुआ झुकाव देखकर यह सहज ही जाना जा सकता है कि व्यवस्था-परिवर्तन की अपेक्षा वृत्ति-परिवर्तन का क्रम प्रशस्य है।"[2]

समग्र मानव समाज के लिए गहन एवं हितावह चिन्तन करने वाले युगद्रष्टा आचार्य तुलसी ने अपने आध्यात्मिक आदोलनो द्वारा जिस शोपण-विहीन एव सुखसमृद्धि से परिपूर्ण अणुव्रत समाज की कल्पना की है, उस कल्पना की पूर्ति सभी समस्याओ का निदान वनेगी, ऐसा विश्वास है।

कहा जा सकता है कि आचार्य तुलसी के समाज-चिंतन मे जो क्रातिकारिता, परिवर्तन एव नए दिशाबोध हैं, वे समाजशास्त्रियो को भी चिन्तन की नयी खुराक देने में समर्थ हैं।

---

१ अणुव्रत : गति-प्रगति, पृ० १३६।
२ अणुव्रत के आलोक में, पृ० २२।

साहित्य-परिचय

"उत्तम पुस्तक महान् आत्मा की प्राणशक्ति होती है"—मिल्टन की इस उक्ति को आचार्य तुलसी की प्रत्येक पुस्तक मे चरितार्थ देखा जा सकता है। आचार्य तुलसी ने सलक्ष्य कुछ लिखा हो, ऐसा नही लगता पर सहज रूप से जो भी परिस्थिति उनके सामने आई, जो भी प्रसग उनके सामने उपस्थित हुए या जिन भावो ने उन्हें उद्वेलित किया, वही सव कुछ कलम की नोक से या वाणी की शक्ति से मुखर हो गया। यह सव इतना स्वाभाविक एव मार्मिक ढंग से चित्रित हुआ है कि किसी भी सवेदनशील पाठक का हृदय तरंगित एवं स्पदित हुए विना नही रह सकता।

सन १९५६ मे जव आचार्य तुलसी दिल्ली पहुचे, तव उनके प्रवचन को सुनकर वालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने अपनी अनुभूति को शव्दो का जामा पहनाते हुए कहा—"आचार्य तुलसी का प्रवचन सुनकर मेरे हृदय मे श्रद्धा का स्रोत वह चला। उनके प्रवचन मे मुझे द्रष्टा की वाणी सुनाई दी। जो केवल पढ लेता है, वह ऐसा भाषण नही कर सकता। अनुभूति से ही ऐसा वोला जा सकता है। साधारण व्यक्ति आखो देखी वात कहता है, इसलिए उसकी वाणी का कोई महत्त्व नही होता। अनुभूत वाणी मे वेग होता है, उसका असर भी होता है। अनुभव तपस्या का फल है। आचार्यश्री का जीवन तपस्वी का जीवन है।"

शरच्चंद्र कहते थे—"सवसे जीवत और उत्प्रेरक रचना वही है, जिसे पढने से लगे कि ग्रन्थकार अपने अन्दर की उर्वरा से सव कुछ वाहर फूल की भाति खिला रहा हो"—यह उक्ति आचार्य तुलसी के साहित्य की सफल कसौटी कही जा सकती है।

आचार्य तुलसी की पुस्तको का सवसे वडा वैशिष्ट्य यह है कि वे वृहत्तर मानव समाज की चेतना को झकृत करके उनमे सास्कृतिक मूल्यो को संप्रेपित करने मे शत-प्रतिशत सफल हुए है। इसके अतिरिक्त विचारो की नवीनता के विना कोई भी कृति अपनी अहमियत स्थापित नही कर सकती। आचार्य तुलसी ने लगभग सभी विषयो पर अपना मौलिक चिंतन प्रस्तुत किया है अत उनके द्वारा लिखित पुस्तको के अक्षरो के भीतर जो तथ्य उद्गीर्ण हुए है, उसे काल की अनेक परते भी आवृत या धूमिल नही कर सकती।

महर्षि अरविंद मानते थे—"किसी भी सद्ग्रथ की पहचान दो वातो

से होती है—प्रथम उसमे सामयिक, नश्वर, देशविशेष और कालविशेष से सवध रखने वाली बातो का उल्लेख हो तथा दूसरी शाश्वत, अविनश्वर सब कालो तथा सब देशों के लिए समान रूप से उपयोगी और व्यवहार्य हो।"[1] आचार्य तुलसी ने शाश्वत एवं सामयिक का समायोजन इतनी कुशलता से किया है कि उसकी दूसरी मिशाल मिलना मुश्किल है।

वेकन की प्रसिद्ध उक्ति है—"कुछ पुस्तके चखने की होती है, कुछ निगलने की तथा कुछ चबाने एव पचा जाने की।" आचार्य तुलसी की प्रत्येक पुस्तक चखने योग्य, निगलने योग्य तथा चबाकर पचाने योग्य है"—ऐसा कथन अत्युक्तिपूर्ण नही होगा।

यहां हम उनकी गद्य साहित्य की कृतियो का सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कर रहे है, जिससे पाठक उनके साहित्य का विहगावलोकन और रसास्वादन कर सके।

पुस्तक-परिचय मे हमने सलक्ष्य सभी पुस्तको का परिचय दिया है चाहे वे पुनर्मुद्रण मे नाम-परिवर्तन के साथ प्रकाशित हुई हो। यदि पुनर्मुद्रण मे पुस्तक का नाम परिवर्तित हुआ है तो उसका हमने उल्लेख कर दिया है, जिससे पाठको को भ्राति न हो। किन्तु अणुव्रत की आचार-संहिता से सम्वन्धित अनेक पुस्तके अनेक नामो से प्रकाशित हुई हैं। जैसे—'अणुव्रत आचार-सहिता', 'अणुव्रत : नैतिक विकास की आचार-सहिता', 'अणुव्रत आदोलन', 'अणुव्रत', 'अणुव्रत आदोलन : एक दृष्टि' आदि पर हमने केवल अणुव्रत आदोलन का ही परिचय दिया है।

पुस्तकों के साथ कुछ विशेष संदेशों की पुस्तिकाओ का परिचय भी हमने इसमे समाविष्ट कर दिया है। 'अशात विश्व को शाति का सदेश' आदि कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण संदेश है, जिनका अंग्रेजी एव संस्कृत मे भी रूपान्तरण मिलता है।

अणुव्रत आंदोलन

अणुव्रत एक ऐसी मानवीय आचार-सहिता है, जिसका किसी उपासना या धर्म विशेष के साथ सबंध न होकर सत्य, अहिंसा आदि मूल्यो से है। "अणुबम एक क्षण मे करोडों का नुकसान कर सकता है तो अणुव्रत करोडो का उद्धार कर सकता है"—आचार्य तुलसी की यह उक्ति अणुव्रत आंदोलन के महत्त्व को उजागर कर रही है। इस आदोलन ने भारत की नैतिक-चेतना को प्रभावित कर आध्यात्मिक, सास्कृतिक एव राष्ट्रीय मूल्यो की सुरक्षा करने का प्रयत्न किया है।

'अणुव्रत आदोलन' पुस्तिका मे अणुव्रत की आचार-सहिता एवं उसके मौलिक आधार की चर्चा की गयी है। सामान्य रूप से अणुव्रत

---

१. गीता प्रवन्ध, भाग. १ पृ. ३।

की पृष्ठभूमि को समझने मे यह पुस्तिका सफल मार्गदर्शन करती है।

अणुव्रत के आलोक मे

"अणुव्रत ने अब तक क्या किया ? कितना किया ? और कैसे किया ? इसका पूरा लेखा-जोखा एकत्रित करना दुःसभव है। किंतु इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मानवीय मूल्यो के सदर्भ मे वैचारिक क्राति की दृष्टि से भारत के धरातल पर यह एक प्रथम उपक्रम है। अणुव्रत भारत की जनता के लिए सजीवनी का कार्य करने वाला है, इस तथ्य से आज किसी को सहमति हो या न हो, पर कोई इतिहासकार जब नव भारत का इतिहास लिखेगा, तब अणुव्रत का नाम स्वर्णाक्षरो मे अकित होगा।" लगभग ५० साल पूर्व अभिव्यक्त आचार्य तुलसी का यह आत्मविश्वास इसके उज्ज्वल भविष्य का द्योतक है। अणुव्रत ने देश के अनैतिक वातावरण के विरोध मे सशक्त आवाज उठाई है।

अणुव्रत दर्शन को स्पष्ट करने के लिए प्रचुर साहित्य का निर्माण हुआ। उसमे "अणुव्रत के आलोक मे" पुस्तक का अपना विशिष्ट स्थान है। आलोच्य कृति मे नैतिकता का सर्वागीण विश्लेषण हुआ है। यह विश्लेषण सैद्धातिक ही नही, व्यवहारिक भी है। इसमे यह भी प्रतिपादित है कि नैतिकता देश, काल, परिवेश, वर्ग एव संप्रदाय से परिछिन्न नही, अपितु सार्वभौमिक एव सार्वकालिक है।

इसमे विपयो का स्पष्टीकरण वार्ताओ के रूप मे हुआ है। साध्वी-प्रमुखा श्री कनकप्रभाजी की जिज्ञासाए इतनी सामयिक और सटीक हैं कि हर पाठक यह अनुभव करता है मानो उसकी भीतरी समस्या को ही यहा प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रस्तुत कृति अणुव्रत की राजनैतिक, आध्यात्मिक, नैतिक और सामाजिक महत्ता को तो स्पष्ट करती ही है साथ ही इनसे सम्बन्धित समस्याओ का समाधान भी करती है। लगभग ५१ वार्ताओ को अपने भीतर समेटे हुए यह पुस्तक अणुव्रत की आचार-सहिता एव उसके इतिहास का विस्तृत एवं वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करती है, साथ ही समाज की विविध विसगतियो की ओर अगुलिनिर्देश करके उमे दूर करने की प्रेरणा भी देती है।

भारत के आध्यात्मिक एव सास्कृतिक मूल्यो को नए स्वरूप एव नए परिवेश मे प्रस्तुत करने वाली यह कृति आज की भटकती युवापीढी को नयी दिशा दे सकेगी, ऐसा विश्वास है।

अणुव्रत के संदर्भ मे

अणुव्रत एक साधना है, मानवीय आचार सहिता है पर आचार्य तुलसी

ने उसे युगबोध के साथ इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि वह दिग्भ्रात मानस के लिए पुष्ट आलम्बन बन सकता है। 'अणुव्रत के सदर्भ मे' पुस्तक अणुव्रत के विविध पक्षो पर प्रश्नोत्तर शैली मे प्रकाश डालती है। इसमे राष्ट्र, धर्म, नैतिकता और विज्ञान सम्बन्धी अनेक जिज्ञासाओ का अणुव्रत के परिप्रेक्ष्य मे उत्तर दिया गया हैं तथा प्राचीन एव अर्वाचीन, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय अनेक समस्याओ पर अणुव्रत-दर्शन का समाधान प्रस्तुत है। अणुव्रत दर्शन को जन-भोग्य बनाने का यह सार्थक प्रयत्न है। आज नैतिक मूल्यो मे जो गिरावट आ रही है, उसे रोकने एव जीवन-मूल्यो के प्रति आस्था जगाने मे इस प्रकार का साहित्य अपनी अहभूमिका रखता है।

यह पुस्तक अपने अगले सस्करण मे कुछ सशोधन एव परिवर्धन के साथ 'अणुव्रत . गति प्रगति' शीर्षक से प्रकाशित है।

अणुव्रत : गति-प्रगति

किसी भी वैचारिक क्राति को व्यापक बनाने मे साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी दृष्टिकोण को ध्यान मे रखकर अणुव्रत से सम्बन्धित आचार्य तुलसी की अनेक पुस्तके प्रकाश मे आई है। 'अणुव्रत : गति-प्रगति' में 'अणुव्रत' पाक्षिक पत्र मे स्थायी स्तम्भ "अणुव्रत के सदर्भ मे" आयी वार्ताए तथा अन्य भी कुछ महत्त्वपूर्ण लेखो का संकलन है।

इस पुस्तक मे नैतिकता के विविध रूपो की बहुत सुन्दर व्याख्या की गई है। कुछ लेखो मे अणुव्रत आदोलन का इतिहास एव आचार-सहिता तथा कुछ वार्ताओ मे सामाजिक, राष्ट्रीय, धार्मिक क्षेत्र मे उत्पन्न समस्याओ का अणुव्रत द्वारा सटीक समाधान की चर्चा की गई है। 'अणुव्रत ग्राम' की सुन्दर परिकल्पना भी इसमे सन्निहित है। इसके अतिरिक्त प्रश्नोत्तरो के माध्यम से आदोलन के अनेक वैचारिक एव व्यावहारिक पक्ष भी आधुनिक शैली मे इस पुस्तक मे गुम्फित है। 'समाज व्यवस्था और अहिसा' आदि कुछ वार्ताए अहिसा विषयक नवीन एव मौलिक अवधारणाओ की अवगति देती है।

इसमें कुल ६१ लेख है, जिनमे १९ प्रवचन तथा ४२ वार्ताए है। इस पुस्तक के प्रश्न जितने सटीक, आधुनिक और मौलिक है, उत्तर भी उतने ही सजीव, क्रातिकारी और मौलिकता लिए हुए है। पूरी पुस्तक का मुख्य विषय अणुव्रत और नैतिकता है। अणुव्रत प्रेमी एव अध्यात्मजिज्ञासुओ के लिए यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पुस्तक है।

अणुव्रती क्यों बने ?

आज के अनैतिक एव भ्रष्ट वातावरण मे अणुव्रत सजीवनी बूटी है। अणुव्रत के माध्यम से आचार्य तुलसी ने हर धर्म के व्यक्तियो को सही मानव बनने की प्रेरणा दी है तथा जीर्ण-शीर्ण मानवता का पुनरुद्धार करने का प्रयत्न

किया है। इस पुस्तिका मे अणुव्रत-अधिवेशन पर दिए गए एक महत्त्वपूर्ण प्रवचन का संकलन है।

समीक्ष्य आलेख सयम एव सादगी की पृष्ठभूमि पर आधारित अणुव्रत आदोलन की महत्ता स्पष्ट करता है।

अणुव्रती संघ

"जो देश, काल की सीमा को लाघकर जीवन के शाश्वत मूल्यो का उद्‌घाटन करती है, वह श्रेष्ठ पुस्तक है"—'अणुव्रती संघ' पुस्तिका इसका एक उदाहरण है। इस कृति मे 'अणुव्रत आदोलन', जो अपने प्रारम्भिक काल मे 'अणुव्रती सघ' के रूप मे प्रसिद्ध था, उसके विधान एव नियमावलियो की जानकारी दी गयी है। पुस्तक के आवरण पृष्ठ पर भूतपूर्व राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद के अणुव्रत के बारे मे विचार अंकित है। उसका कुछ अश इस प्रकार है—

"अणुव्रती संघ की स्थापना करके और उसके काम को बढाने के लिए अपना समय लगाकर आचार्यजी देश के लिए कल्याणकारी काम कर रहे है। ......यह सतोप की बात है कि आचार्यजी काल और देश की परिस्थिति को हमेशा सामने रखकर कार्यक्रम निर्धारित करते है और जो भिन्न-भिन्न श्रेणी के लोग है, उनकी भिन्न-भिन्न समस्याएं होती है, उन सबमे घुसकर भिन्न-भिन्न रीति से सगठित रूप से सदाचार और चरित्र को प्रोत्साहन देने का काम कर रहे है।"

इसमे अणुव्रती संघ के ८३ नियमो का उल्लेख है, जिनका समाहार आज ११ नियमों मे हो गया है। अणुव्रत के नियमो की ऐतिहासिक जानकारी देने मे इस पुस्तक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अन्त मे "अणुव्रत और अणुव्रती संघ" नामक एक लेख भी प्रकाशित है। यह लेख 'अखिल भारतीय प्राच्य विद्या परिपद् के सत्तरहवे अधिवेशन के 'जैनदर्शन एव प्राकृत विभाग' मे प्रेषित किया गया था। इस महत्त्वपूर्ण लेख मे अणुव्रती सघ की स्थापना का उद्देश्य तथा उसकी महत्ता का सर्वांगीण विवेचन है।

मैत्री, सयम, समन्वय और त्याग पर आधारित अणुव्रत आदोलन की सक्षिप्त जानकारी देने मे इस पुस्तक का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अतीत का अनावरण

भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित यह पुस्तक आचार्य तुलसी एव युवाचार्य महाप्रज्ञजी की संयुक्त कृति है। इसमे आगम एवं उपनिपदो के आधार पर २५ शोधपूर्ण निवंधो का सकलन है। आलोच्य ग्रंथ मे इतिहास एवं भूगोल से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण एव खोजपूर्ण लेखो का समाहार है। श्रमण संस्कृति की ऐतिहासिकता एव महावीर के वश के बारे मे अनेक नयी

स्थापनाओं का प्रस्तुतीकरण इस ग्रन्थ मे हुआ है। इस पुस्तक मे अनेक संदर्भ ग्रन्थो का भी उपयोग हुआ है। अतः शोध विद्यार्थियो के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है।

अतीत का विसर्जन : अनागत का स्वागत

तनावमुक्त, सार्थक एवं सफल जीवन का सूत्र है—अतीत की स्मृति एव भविष्य की कल्पना से मुक्त होकर वर्तमान में जीना। आचार्य तुलसी ने इस सूत्र को प्रायोगिक रूप मे अपने जीवन मे उतारा है। इस सूत्र को जनता तक पहुंचाने के विशेष उद्देश्य से लिखे गये निबधों का संकलन है—'अतीत का विसर्जन · अनागत का स्वागत'। इस पुस्तक मे एक ओर युवापीढी को जैन दर्शन व संस्कृति से परिचित कराया गया है तो दूसरी ओर अहिंसा के विविध रूपो को भी मौलिक सोच के साथ प्रस्तुत किया गया है। इसमे भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग को जहा रचनात्मक दिशा मे अग्रसर होने की प्रेरणा है तो वहा समाज एवं राष्ट्र की चेतना को झकझोरने का सफल एवं सार्थक प्रयत्न भी है।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रारम्भिक लेख भगवान् महावीर एवं अणुव्रत आदोलन की जानकारी देते है तथा शेष लेखों मे अनेक सामयिक विषयो पर ऊहापोह किया गया है। 'समस्या के बीज : हिंसा की मिट्टी' तथा 'लोकतंत्र और अहिंसा' जैसे कुछ लेख अहिंसक विश्व व्यवस्था का आधार प्रस्तुत करते है एव युद्ध, हिंसा तथा आणविक नरसंहार से समूची दुनिया को बचाने के लिए एक नयी सोच तथा नया दिशादर्शन देते है।

प्रस्तुत पुस्तक के ४२ लेखों मे युगबोध एवं नैतिक अवधारणाओ को युगीन सदर्भ मे अभिव्यक्ति दी गयी है। इसी कारण सोच एवं व्यवहार को संस्कारो एव आदर्श मूल्यों से अनुप्राणित करने मे यह पुस्तक अच्छी भूमिका अदा करती है। हर वर्ग के पाठक को नयी सामग्री परोसने वाली यह कृति वैचारिक क्रांति घटित करने मे सक्षम है।

अनैतिकता की धूप : अणुव्रत की छतरी

नैतिक आदोलनो मे अणुव्रत का अपना महत्त्वपूर्ण एवं सर्वोपरि स्थान है। इस आंदोलन ने व्यक्ति-चेतना और समूह-चेतना को समान रूप से प्रभावित किया है। इसे जनता तक पहुंचाने तथा नैतिक-मूल्यो का अवबोध कराने के लिए प्रश्नोत्तरो एव निबधो का एक सकलन 'अनैतिकता की धूप : अणुव्रत की छतरी' के नाम से प्रकाशित हुआ है। इस पुस्तक मे प्राच्य एवं पाश्चात्य आचारशास्त्र विषयक चिंतन की धाराओ में कितना भेद और अभेद है, उसका सूक्ष्म विश्लेषण तथा दोनों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। यह पुस्तक आचारशास्त्र और नीतिशास्त्र का तुलनात्मक

अध्ययन प्रस्तुत करती है। समीक्ष्य ग्रन्थ मे प्राय प्रश्न पाश्चात्य दर्शन से प्रभावित है पर आचार्य तुलसी ने उनमे भारतीय दर्शन के अनुसार सामञ्जस्य बिठाने का प्रयत्न किया है तथा कही-कही उन विचारो के प्रति विरोध भी प्रकट किया है। फिर भी सम्पूर्ण पुस्तक मे उत्तर देते हुए लेखक ने अनैकान्तिक दृष्टि को नही छोड़ा है। सामान्यत आचार्य तुलसी सहज, सुबोध एव सरल शैली मे बोलते अथवा लिखते है पर इस पुस्तक मे नैतिकता, आचारशास्त्र, पाश्चात्य-दर्शन तथा अणुव्रत के विविध पक्षो का अत्यन्त गूढ़ एव गभीर विवेचन हुआ है। नैतिकता की नई व्याख्या एव परिकल्पना जिस रूप से इस पुस्तक मे उकेरी गई है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है।

प्रारम्भिक ४२ लेखो मे प्रश्नोत्तरो के माध्यम से भारतीय एवं पाश्चात्य आचार-विज्ञान का विश्लेपण है तथा द्वितीय खण्ड 'जीवन मूल्यो की तलाश' मे २४ निबंधो के माध्यम से अणुव्रत एवं उससे सम्बन्धित नैतिक मूल्यो का विवेचन है। इस प्रकार अणुव्रत-दर्शन को तुलनात्मक रूप से गभीर एव प्राञ्जल भाषा मे प्रस्तुत करने का सफल एव स्तुत्य प्रयास यहा हुआ है।

अमृत-संदेश

आचार्य तुलसी के आचार्यकाल के ५० वर्ष पूरे होने के उपलक्ष्य मे समाज ने अमृत महोत्सव की आयोजना कर उनका अभिनदन किया क्योकि आचार्य तुलसी ने स्वय विष पीकर भी देश, समाज और राष्ट्र को अमृत ही बाटा है।

आलोच्य कृति का प्रारम्भ अमृत-सदेश से होता है, जो लेखक ने अपने जन्मदिन पर सम्पूर्ण देश की जनता के नाम दिया था। पुस्तक मे अमृत वर्ष के अवसर पर दिए गए विशेप पाथेय, दिशाबोध एव सदेश समाविष्ट है। इन विशिष्ट आलेखो मे मानवीय मूल्यों को उजागर करने के साथ-साथ सांप्रदायिकता, कट्टरता एवं जातिवाद की जडो को भी काटने का सफल उपक्रम हुआ है।

'एक मर्मान्तक पीड़ा : दहेज' 'व्यवसाय जगत् की बीमारी : मिलावट' आदि लेखो मे रचनात्मक एव सृजनात्मक वातावरण निर्मित करने का सफल अभियान छेडा गया है। 'समाधान का मार्ग हिंसा नही' आलेख मे लेखक ने लोगोवालजी से मिलन के प्रसग को अभिव्यक्ति दी है। मजहब के नाम पर विकृत साहित्य लिखने वालो के सामने यह कृति एक नया आदर्श प्रस्तुत करती है तथा समाज मे व्याप्त विकृतियो को धू-धूकर जलाने की शक्ति रखती है। विश्व के क्षितिज पर मानवधर्म के रूप मे अणुव्रत आंदोलन का प्रतिष्ठापन करके आचार्य तुलसी ने अध्यात्म का नया सूर्य उगाया है। अणुव्रत आदोलन के विविध रूपो को स्पष्ट करने हेतु दिए गए दिशाबोधो का

महत्त्वपूर्ण सकलन इस पुस्तक मे है। इन लेखो मे भारतीय मानसिकता मे व्याप्त विभिन्न कुरीतियो, विकृतियो एव विसंगतियो पर भी प्रभावी ढंग से प्रहार किया गया है।

३६ आलेखो मे लेखक ने सामयिक एवं शाश्वत सत्यो के समन्वय का सुन्दर एव सार्थक प्रयास किया है। यह कृति लोगो को पुरुषार्थी बनकर शक्तिशाली बनने का आह्वान करती है। सांस्कृतिक, आध्यात्मिक एव वैचारिक खुराक की दृष्टि से साहित्य-जगत् मे यह कृति अपना विशिष्ट स्थान रखती है तथा समस्या के तमस् को समाधान के आलोक मे बदलने का सामर्थ्य रखती है। अगले सस्करण मे इसके प्रायः लेख 'सफर : आधी शताब्दी का' पुस्तक मे समाविष्ट कर दिए गए हैं।

अर्हत् वंदना

महावीर के प्रत्येक शब्द मे वह शक्ति है, जो सोए मानस को जगा सके, घोर तिमिर मे आलोक प्रदान कर सके तथा लड़खडाते कदमो को अस्खलित गति दे सके। आचार्य तुलसी महावीर की परम्परा के कीर्तिधर एवं यशस्वी पट्टधर है। उन्होने अनेक माध्यमो से महावीर-वाणी को दिग-दिगन्तो तक फैलाने का कार्य किया है। उसी का एक लघु एव सशक्त उपक्रम है—'अर्हत् वंदना'।

प्रायः सभी धर्म-सम्प्रदायो मे प्रार्थना का महत्त्व स्वीकृत है। इस युग के महापुरुष महात्मा गाधी कहते थे—"प्रार्थना के बिना मैं कब का पागल हो गया होता। मैं कोई काम बिना प्रार्थना नही करता। मेरी आत्मा के लिए प्रार्थना उतनी ही अनिवार्य है, जितना शरीर के लिए भोजन"—ये पंक्तियां प्रार्थना के महत्त्व को स्पष्ट उजागर कर रही है। आचार्य तुलसी ने जैन दर्शन के आत्मकर्तृत्व के सिद्धात के अनुरुप प्रार्थना शब्द को स्वीकृत नही किया क्योकि उसमे याचना का भाव होता है। अत इसका नाम दिया—'अर्हत् वंदना'। अर्हत् अनन्त शक्तिसम्पन्न आत्मा का वाचक शब्द है। उनके प्रति वदना या श्रद्धा की अभिव्यक्ति व्यक्ति के भीतर भी शक्ति जगाने मे निमित्त बन सकती है। आचार्य तुलसी कहते है—"व्यक्तित्व के निर्माण एव रूपांतरण मे इसकी शक्ति अमोघ है। शक्ति से शक्ति का जागरण, यही है अर्हत् वंदना की एक मात्र प्रेरणा।"

अर्हत् वंदना आचार्य तुलसी की स्वोपज्ञ कृति नही है। महावीर-वाणी का संकलन है, पर आज लाखो-लाखो कंठ प्रतिदिन इसका सगान कर आध्यात्मिक संबल प्राप्त करते है। यह अपने आपको देखने तथा शाति प्राप्त करने का सशक्त उपक्रम है। इसका प्रत्येक पद व्यक्ति को झंकृत करता है तथा मानसिक एवं भावनात्मक पोपण देता है।

अर्हत् वंदना पुस्तक की महत्ता इसलिए बढ गयी है कि इसका

सरल हिंदी एवं अंग्रेजी अनुवाद कर दिया गया है। साथ ही आचार्यश्री ने सव सूक्तो एवं पदो की इतनी सरस एव सरल व्याख्या प्रस्तुत कर दी है कि सामान्य व्यक्ति भी उनका हार्द समझ कर उसमे तन्मय हो सकता है।

लघु होते हुए भी यह कृति अध्यात्मरसिक लोगो को अध्यात्म के नए रहस्यो का उद्घाटन कर उन्हे आत्मदर्शन की प्रेरणा देती रहेगी।

अशांत विश्व को शांति का संदेश

यह सदेश २९ ६ ४५ को सरदारशहर से लदन मे आयोजित 'विश्व धर्म सम्मेलन' के अवसर पर प्रेपित किया गया था। इस ऐतिहासिक सदेश मे आज की विपम स्थिति का चित्रण करते हुए प्राचीन एव अर्वाचीन युद्ध के कारणो पर प्रकाश डाला गया है। इसके साथ ही शाति की व्याख्या और उसकी प्राप्ति के उपायो का विवेचन भी वहुत मार्मिक शैली मे हुआ है। अत मे विश्वशाति के सार्वभौम १३ उपायो की चर्चा है। इस कृति मे करुणा, शाति, सवेदना एव अहिंसा की सजीव प्रस्तुति हुई है।

आचार्य तुलसी के इस प्रेरक और हृदयस्पर्शी लेख को पढकर महात्मा गाधी ने अपनी टिप्पणी व्यक्त करते हुए कहा—"क्या ही अच्छा होता, जव सारी दुनिया इस महापुरुप के वताए हुए मार्ग पर चलती।"

यह सदेश निश्चित रूप से अशाति से पीडित मानव को शाति की राह दिखा सकता है तथा अणुअस्त्रो की विभीषिका से त्रस्त मानवता को त्राण दे सकता है।

अहिंसा और विश्वशांति

हिंसा और अहिंसा का द्वन्द्व सनातन है। आदमी हिंसा के दुष्परिणामो से परिचित होते हुए भी हिंसा के नए-नए आविष्कारो/उपक्रमो का ओर अभिमुख होता जा रहा है, यह वहुत वडा विपर्यास है। आचार्य तुलसी ने 'अहिंसा और विश्वशाति' पुस्तिका मे अहिंसा के वैज्ञानिक स्वरूप को प्रकट किया है तथा शाति प्राप्त करने के उपक्रमो को व्याख्यायित किया है। जो व्यक्ति अहिसा को कायरो का अस्त्र मानते है, उनकी भ्राति का निराकरण करते हुए वे कहते है—"कायरता अहिंसा का अचल तक नहीं छू सकती। सोने के थाल विना भला सिंहनी का दूध कव और कहा रह सकता है? अहिंसा का वास वीर हृदय को छोडकर और कही नही होता। वीर वह नही होता, जो मारे, वीर वह है, जो मर सके पर न मारे"। अहिंसक ही सच्चा वीर होता है, वह स्वयं मरकर दूसरे की वृत्ति को वदल देता है।"

अहिंसा के अमृत का रसास्वादन वही कर सकता है, जो उसके परिणाम को जानता है। लेखक की दृष्टि मे सद्भावना, मैत्री, निष्कपटवृत्ति, हृदय की स्वच्छता—ये सव अहिंसा देवी के अमर वरदान है। इस पुस्तिका

में अहिंसा के प्रभाव को नए संदर्भ मे प्रस्तुत करते हुए लेखक का कहना है— "दूसरे की सम्पत्ति, ऐश्वर्य और सत्ता को देखकर मुंह में पानी नही भर आता, यह अहिसा का ही प्रभाव है।"

सम्पूर्ण लेख मे अहिंसा को नए परिवेश के साथ प्रस्तुत किया गया है। आज के हिंसा-संकुल वातावरण में यह लेख अहिंसा की सशक्त भूमिका तैयार करने मे अपनी अहम्‌भूमिका रखता है।

आगे की सुधि लेइ

प्रवचन-साहित्य जन-साधारण को नैतिकता की ओर प्रेरित करने का सफल उपक्रम है। 'आगे की सुधि लेइ' प्रवचन पाथेय ग्रन्थमाला का तेरहवा पुष्प है। यह १९६६ मे गंगाशहर (राज०) में प्रदत्त आचार्य तुलसी के प्रवचनो का संकलन है। प्रवचनकार श्रोता, समय एवं परिस्थिति को देखकर अपनी बात कहते है, अतः उसमें विपय-वैविध्य और पुनरुक्ति होना स्वाभाविक है। पर प्रवचनकार आचार्य तुलसी का मानना है कि भिन्न-भिन्न दृष्टियो से प्रतिपादित एक ही वात अपनी उपयोगिता के आगे प्रश्नचिह्न नही लगने देती।

इन प्रवचनो मे जागरण का संदेश है, आत्मोत्थान की प्रेरणा है तथा व्यक्ति से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उभरने वाली समस्याओ का समाधान भी गुफित है। प्रवचन-साहित्य की कडी मे यह एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक है, जो अज्ञान के अंधेरे मे भटकते मानव को सही मार्गदर्शन देने में सक्षम है। पुस्तक के अत में तीन परिशिष्ट जोडे गए है, जिससे यह ग्रन्थ अधिक उपयोगी वन गया है।

आज से २७ वर्ष पूर्व के ये ५४ प्रवचन अपनी उपयोगिता के कारण आज भी ताजापन लिए हुए है।

आचार्य तुलसी के अमर संदेश

प्रसिद्ध विद्वान् विद्याधर शास्त्री कहते हैं—"आचार्य तुलसी के अमर संदेश पुस्तक विश्व दर्शन की उच्चतम पुस्तक है।" यह सर्वोदय ज्ञानमाला का चौथा पुष्प है। इसमे चारित्रिक वल को जागृत कर आध्यात्मिक शक्ति को वढाने की चर्चा है। प्रस्तुत पुस्तक मे विशिष्ट अवसरो पर दिए प्रवचनो एव महत्त्वपूर्ण आयोजनो मे प्रेषित सदेशो का संकलन है। जैसे—लदन मे आयोजित 'विश्व-धर्म सम्मेलन' के अवसर पर भेजा गया महत्त्वपूर्ण लेख— 'अशात विश्व को शाति का सदेश' आदि।

राजनीति और धर्म के अनेक अनछुए एव महत्त्वपूर्ण पहलुओ पर प्रस्तुत पुस्तक नए विचारो की प्रस्तुति देती है साथ ही अन्तश्चेतना को झकझोरने मे भी पर्याप्त सहायक वनती है। ये प्रवचन पुराने होते हुए भी

व्यक्त हुई है, पर घुटन नही है। इसमे उनके हृदय की वेदना बोल रही है, पर निराशा नही है।

आचार्यश्री ने सफलता की अनेक सीढियों को पार किया है, पर सफलता के मद ने उनकी अग्रिम सफलता को प्राप्त करने वाले रास्ते को अवरुद्ध नही किया। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि वे अपनी असफलता को भी देखते रहते है। इस दृष्टि से लेख का निम्न अश पठनीय है "धर्मसंघ की सफलता का व्याख्यान सिक्के का एक पहलू है। इसका दूसरा पहलू है—उन विन्दुओ को देखना, जहा हम असफल रहे हैं अथवा जिन बातो की ओर अव तक हमारा ध्यान नहीं गया है। इसके लिए हमारे पास एक ऐसी आख होनी चाहिये, जो हमारी कमियो को, असफलताओ को देख सके और हमे अपने करणीय के प्रति सचेत कर सके।' सघ के एक-एक सदस्य का दायित्व है कि वह उस पृष्ठ को देखे, जो अव तक खाली है। जिन लोगो के पास चिन्तन, सूझबूझ और काम करने की क्षमता है, वे उस खाली पृष्ठ को भरने के लिए क्या करेंगे, यह भी तय करें।"

ऐश्वर्य के उच्च शिखर पर आरूढ़ प्रदर्शन एव आडम्बरप्रिय व्यक्तियो को यह संदेश त्याग, संयम, सादगी एवं बलिदान का उपदेश देने वाला है।

उद्‌बोधन

अणुव्रत-आदोलन किसी सामयिक परिस्थिति मे प्रभावित तात्कालिक क्रान्ति करने वाला आन्दोलन नही, अपितु शाश्वत दर्शन की पृष्ठभूमि पर टिका हुआ है। इस आदोलन के माध्यम से आचार्य तुलसी ने केवल विभिन्न वार्तमानिक समस्याओ को ही नही उठाया, बल्कि सटीक समाधान भी प्रस्तुत किया है। सामयिक सदर्भो पर 'अणुव्रत' पत्रिका मे प्रकाशित संक्षिप्त विचारो का संकलन ही 'उद्‌बोधन' है। इसमे नैतिकता के विषय मे नए दृष्टिकोण से विचार किया गया है। अतः प्रस्तुत कृति व्यक्ति को प्रामाणिकता के सांचे मे ढालने हेतु अनेक उदाहरणो, सुभाषितो एवं घटनाओ को माध्यम बनाकर विषय की सरस एव सरल प्रस्तुति करती है। यह पुस्तक साम्प्रदायिकता, प्रान्तीयता आदि विकृत मूल्यो को बदलकर समन्वय एवं समानता के मूल्यो की प्रस्थापना करने का भी सफल उपक्रम है।

इसमें अणुव्रत-दर्शन को अध्यात्म, संस्कृति, समाज और मनोविज्ञान के साथ जोड़ने का सार्थक प्रयत्न किया गया है। परिवर्धित रूप मे इसका नवीन संस्करण 'समता की आंख : चरित्र की पाख' के नाम से प्रकाशित है।

कुहासे मे उगता सूरज

'कुहासे मे उगता सूरज' १०१ आलेखो का महत्वपूर्ण संकलन है। ये

विचार समय-समय पर साप्ताहिक बुलेटिन 'विज्ञप्ति' मे छपते रहे है । इस पुस्तक मे केवल धर्म और अध्यात्म की ही चर्चा नही है, अपितु दूरदर्शन, सोवियत महोत्सव, सयुक्तपरिवार, दक्षेससम्मेलन तथा पर्यावरण आदि अनेक सम-सामयिक विषयो पर मार्मिक एवं सटीक प्रस्तुति हुई है । ये आलेख लेखक के चौतरफी ज्ञान को तो प्रस्तुत करते ही है, साथ ही उनके समाधायक दृष्टिकोण को भी उजागर करने वाले है। इस कृति मे भौतिकवाद से उत्पन्न खतरे के प्रति समाज को सावधान किया गया है। पुस्तक मे समाविष्ट विपयो के बारे मे स्वयं प्रश्नचिह्न उपस्थित करते हुए आचार्य तुलसी कहते हैं—"प्रश्न हो सकता है कि धर्माचार्यो को सामयिक प्रसंगो से क्यो जुडना चाहिए ? उनका तो काम होता है शाश्वत को उजागर करना।·······पर मेरा विश्वास है कि शाश्वत के साथ पूरी तरह अनुबंधित रहने पर भी सामयिक की उपेक्षा नही की जा सकती । शाश्वत से वर्तमान को निकाला भी नही जा सकता । यदि धर्मगुरु के माध्यम से समाज को पथदर्शन न मिले, दिशाबोध न मिले, गतिशील रहने की प्रेरणा न मिले तो जागरण का सदेश कौन देगा ? जनता को जगाने का दायित्व कौन निभाएगा ?" इसी उद्देश्य से इस पुस्तक मे अनेक जागतिक समस्याओ के संदर्भ मे चिन्तन किया गया है । यह पुस्तक भौतिकता की चकाचौध मे अपनी मौलिक संस्कृति को भूलने वाली पीढ़ी को एक नया दिशादर्शन देगी तथा असंयम और हिंसा के कुहासे मे संयम और अहिंसा के तेज से युक्त नए सूरज को उगाने मे भी सहयोगी बन सकेगी ।

इस पुस्तक मे चितन की मौलिकता, विवेचन की गभीरता, विश्ले की सूक्ष्मता एव शैली की प्रौढता सर्वत्र दृग्गोचर है । इसका प्रत्येक आले सक्षिप्त, सारगर्भित और अन्त:करण को छूने वाला है । समाज एव देश प्रत्येक क्षेत्र के अन्धकार की चर्चा कर आचार्यश्री ने भारतीय संस्कृति अनुरूप अध्यात्म की लौ प्रज्वलित करने का प्रशस्य प्रयत्न किया है । इस पुस्तक के शीर्षक को भी सार्थकता मिली है ।

क्या धर्म बुद्धिगम्य है ?

साहित्य ऐसा होना चाहिए, जिसके आकलन से दूरदर्शिता बढ़े को तीव्रता प्राप्त हो, हृदय मे एक प्रकार की संजीवनी शक्ति की धा लगे, मनोवेग परिष्कृत हो जाए तथा आत्मगौरव की उद्‌भावना ‍ तक पहुंच जाए—महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा दी गई सत्साहित्य की पर आचार्य तुलसी की कृति 'क्या धर्म बुद्धिगम्य है ?' को परखा है ।

धर्म का सम्बन्ध प्राय. परलोक से जोड़ दिया जाता है;

श्रद्धालु व्यक्ति के लिए गम्य है। एक तार्किक और बौद्धिक व्यक्ति धर्म के इस रूप को स्वीकार करने मे हिचकता है। आचार्य तुलसी ने अणुव्रत के माध्यम से धर्म को व्यवहार के साथ जोडकर उसे बुद्धिगम्य बनाने का प्रयत्न किया है। पुस्तक के आत्म-वक्तव्य में वे इस वात की पुरजोर पुष्टि करते है—"जिस धर्म से इस जन्म मे मोक्ष का अनुभव नही होगा, उस धर्म से भविष्य मे मोक्ष-प्राप्ति की कल्पना का क्या आधार हो सकता है ?"

पुस्तक मे ४१ आलेखो के माध्यम से धर्म का क्रान्तिकारी स्वरूप, अणुव्रत आदोलन, जैन-सिद्धान्त तथा लोकतंत्र से सम्वन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण विपयो को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

सवसे वडी विशेपता यह है कि इसमें धर्म, सस्कृति एव परम्परा के विषय मे एक नया दृष्टिकोण एवं नई सोच से विचार किया गया है तथा धर्म का वैज्ञानिक विश्लेपण प्रस्तुत कर नयी मान्यताओ को भी जन्म दिया गया है। इस पुस्तक के माध्यम से आचार्य तुलसी ने सभी धर्माचार्यो को पुनः एक वार धर्म के वारे मे सोचने के लिए वाध्य कर दिया है कि धर्म का शुद्ध स्वरूप क्या है ? लेखक का स्पष्ट मन्तव्य है कि चरित्र की प्रतिष्ठा ही धर्म का सक्रिय स्वरूप है।

सम्प्रदाय को ही धर्म मानकर सघर्ष करने वालो को इसमे नया प्रतिवोध दिया गया है। यह पुस्तक निश्चय ही धर्मप्रेमी लोगो को धर्म के वौद्धिक और वैज्ञानिक स्वरूप का वोध कराने मे सफल है। साथ ही धार्मिक जगत् के समक्ष एक ऐसा स्वप्न प्रस्तुत करती है, जिसको साकार करने मे मानव-समुदाय पुरुपार्थ और लगन से जुट जाए।

खोए सो पाए

वर्तमान युग की व्यस्त दिनचर्या मे आकार छोटा और निष्कर्ष वडा, ऐसे साहित्य की नितान्त आवश्यकता है। आचार्य तुलसी ने युगीन मानसिकता को समझा और 'खोए सो पाए' पुस्तक द्वारा इस अपेक्षा की पूर्ति की। इस पुस्तक मे नैतिकता एवं जीवन-मूल्यो की मार्मिक अभिव्यक्ति देने के साथ ही साधनापरक अनुभवों को भी नई भापा दी गई है।

सहज ग्राह्य शैली मे लिखी गयी इस पुस्तक के ८० लेखो मे नैतिकता जीवन्त होकर मुखर हुई है, ऐसा प्रतीत होता है। साथ ही भारत की आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक चेतना को एक विशेष अभिव्यक्ति मिली है।

आचार्य तुलसी एक महान साधक है। उन्होने अपने जीवन मे साधना के अनेक प्रयोग किए है। हिसार चातुर्मास १९६३ मे उन्होने एकातवास के साथ साधना के कुछ नए प्रयोग भी किए। उस अनुष्ठान के दौरान हुए अनेक अनुभवो को उन्होने अपनी डायरी मे लिखा। उसी डायरी के कुछ

पृष्ठ इस पुस्तक मे प्रतिबिम्बित है। प्रस्तुत कृति मे अनुभवो की इतनी सहज अभिव्यक्ति हुई है कि पाठक पढते ही उससे तादात्म्य स्थापित कर लेता है। पुस्तक के प्राय: सभी शीर्षक साधनापरक है।

आचार्यश्री स्वय इस पुस्तक के प्रयोजन को अभिव्यक्ति देते हुए कहते है—'खोए सो पाए' को पढ़ने वाला साधक अपने आपको पूर्ण रूप से खोना, विलीन करना सीख ले, यह उसके जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि हो सकती है।" सक्षेप मे प्रस्तुत कृति अपने घर को देखने, सवारने और निरन्तर उसमे रह सकने का सामर्थ्य भरती है।

गृहस्थ को भी अधिकार है धर्म करने का

भगवान् महावीर ने साधु-सस्था को जितना महत्त्व दिया, उतना ही महत्त्व गृहस्थवर्ग को भी दिया तथा उनके लिए धार्मिक आचार-सहिता भी प्रस्तुत की है। इस पुस्तक के प्रारम्भिक लेखो मे अहिंसा, सत्य आदि पाच व्रतो का विवेचन है, तत्पश्चात् धर्म और दर्शन के अनेक विषयो का सक्षेप मे विश्लेषण किया गया है। साधारणत तात्त्विक एव दार्शनिक साहित्य जन-सामान्य के लिए रुचिकर नही होता क्योकि इनका विषय जटिल और गम्भीर होता है लेकिन आचार्य तुलसी की तत्त्व-प्रतिपादन शैली इतनी सरस, सरल और रुचिकर है कि वह व्यक्ति को उबाती नही। इतने संक्षिप्त पाठों मे गम्भीर विषयो का प्रतिपादन लेखक की विशिष्ट शैली का निदर्शन है। जहां विपय विस्तृत लगा उसको उन्होने अनेक भागो मे बाट दिया है—जैसे—'श्रावक के विश्राम', 'श्रावक के मनोरथ' आदि।

आचार्य तुलसी अपने स्वकथ्य मे इस कृति के प्रतिपाद्य को सटीक एव रोचक भाषा मे प्रस्तुत करते हुए कहते है—"कुछ लोगो की ऐसी धारणा है कि धर्माचरण और तत्त्वज्ञान करने का ठेका साधुओ का है। गृहस्थ अपनी गृहस्थी संभाले, इससे आगे उनको कोई अधिकार नहीं है। इस धारणा को तोड़ने के लिए तथा गृहस्थ समाज को इसकी उपयोगिता समझाने के लिए अब 'गृहस्थ को भी अधिकार है धर्म करने का' पुस्तक पाठको के हाथो में पहुंच रही है। जैन दर्शन के सैद्धातिक तत्त्वो की अवगति पाने के लिए, श्रावक की चर्या को विस्तार से जानने के लिए तथा बच्चो को धार्मिक संस्कार देने के लिए इसका उपयोग हो, यही इसके संकलन की सार्थकता है।"

इस कृति मे १११ लघु पाठो का समावेश है। प्रत्येक पाठ अपने आपमें पूर्ण है तथा 'गागर मे सागर' भरने के समान प्रतीत होता है। जैनेतर पाठको के लिए जैनधर्म एव उसके सिद्धातो को सरलता से जानने तथा कलात्मक जीवन जीने के सूत्रो का ज्ञान कराने हेतु यह पुस्तक बहुत उपयोगी

है। समग्रदृष्टि से प्रस्तुत कृति तत्त्वज्ञान एवं जीवन-विज्ञान का जुड़वां स्वाध्याय ग्रंथ है। इस पुस्तक का प्रथम संस्करण 'मुक्तिपथ' शीर्षक से प्रकाशित है।

घर का रास्ता

'घर का रास्ता' प्रवचन पाथेय ग्रंथमाला की शृंखला में सतरहवां पुष्प है। यह श्रीचन्दजी रामपुरिया द्वारा संपादित प्रवचन-डायरी भाग-३ में संकलित सन् ५७ के प्रवचनो का ही परिवर्धित एवं परिष्कृत संस्करण है। ९८ प्रवचनों से युक्त इस नए संस्करण में अनेको विपयों पर सशक्त एवं प्रभावी विचाराभिव्यक्ति हुई है। युग की अनेक समस्याओं पर गम्भीर चिन्तन एवं प्रभावी समाधान है। साथ ही भारतीय संस्कृति के प्रमुख पहलुओं– धर्म, अध्यात्म, योग, संयम आदि की सुन्दर चर्चा है।

निःसन्देह घर के रास्ते से वेखवर दर-दर भटकते मानव का पथ-दर्शन करने मे यह पुस्तक आलोक-दीप का कार्य करेगी और पथ-भटके मानव के लिए मार्गदर्शक वनकर उसके पथ मे आलोक विखेरती रहेगी।

इन प्रवचनो की भापा सरल, सहज एवं अन्त.करण का स्पर्श करने वाली है। इसमें घटनाओ, रूपको एवं कथाओ के माध्यम से शाश्वत घर तक पहुंचने के लिए कटीले पथ को साफ किया गया है। अध्यात्मचेता पाठक इस पुस्तक के माध्यम से नैतिक और आध्यात्मिक चेतना का विकास कर सकेगा, ऐसा विश्वास है।

जन-जन से

आचार्य तुलसी ने अपने प्रवचनो मे उन सव वातों का जीवन्त चित्रण किया है, जो उन्होंने अनुभव किया है, देखा एव सोचा-समझा है। 'जन-जन से' पुस्तक मे आचार्य तुलसी के १९ क्रांतिकारी युग-सन्देश समाविष्ट हैं। इन संदेशो में समाज के विभिन्न वर्गो की त्रुटियो की ओर अंगुलिनिर्देश है, साथ ही जीवन को प्रेरक और आदर्श वनाने के सूत्र भी समाविष्ट हैं।

'सुधारवादी व्यक्तियो से' 'धर्मगुरुओ से' 'जातिवाद के समर्थको से' तथा 'विश्वशाति के प्रेमियो से' आदि ऐसे सन्देश हैं, जिनको पढकर ऐसा लगता है कि एक अत्यन्त तपा तथा मंजा हुआ आत्मनिष्ठ और मनोवली योगी ही इस भापा मे दूसरो को प्रेरणा दे सकता है।

आकार मे लघु होते हुए भी इस पुस्तक की महत्ता इस वात मे है कि ये प्रवचन या सन्देश हर वर्ग के मर्म को छूने वाले तथा रूपांतरण की प्रेरणा देने वाले है। सुधारवादी व्यक्तियो को इसमे कितने स्पष्ट शब्दो में प्रेरणा दी गयी है—"जिस वात पर स्वयं अमल नही कर सकें, जिसे अपने

व्यावहारिक जीवन मे स्थान नही दे सके, उसका औरो के लिए प्रवचन करना, क्या विडम्वना या धोखा नही है ?''

पुस्तक नवसमाज के निर्माण मे उत्प्रेरक का कार्य करने वाली अमूल्य सन्देशवाहिका है ।

जब जागो, तभी सवेरा

योगक्षेम वर्ष आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व निर्मित करने का एक हिमालयी प्रयत्न था, जिसमे अन्तर्मुखता प्रकट करने तथा विधायक भावो को जगाने के अनेक प्रयोग किए गए । समीक्ष्य वर्ष मे प्रज्ञा-जागरण के अनेक उपक्रमो मे एक महत्त्वपूर्ण उपक्रम था—प्रवचन । 'जव जागे, तभी सवेरा' योगक्षेम वर्ष मे हुए प्रवचनो का द्वितीय सकलन है। इसमे मुख्यत 'उत्तराध्ययन मूत्र' पर हुए ५१ प्रवचनो का समावेश है, साथ ही तेरापथ, प्रेक्षाध्यान तथा कुछ तुलनात्मक विपयो पर विशिष्ट सामग्री भी इस कृति मे देखी जा सकती है । आज के प्रमादी, आलसी और दिशाहीन मानव के लिए यह पुस्तक पथ-दर्शक का काम करती है। व्यक्तित्व-निर्माण के साथ-साथ जीवन को समग्रता से कैसे जिया जाए, इसका समाधान भी इस ग्रन्थ मे है ।

'शिक्षा के क्षेत्र मे वढ़ता प्रदूषण' आदि कुछ लेख आज की शिक्षा-प्रणाली पर करारा व्यग्य करते हैं। निष्कर्पत यह अपनी संस्कृति एवं सभ्यता से जुडी एक जीवन्त रचना है। लेखक ने हजारो किलोमीटर की पदयात्रा करके इस देश की स्थितियो को वहुत नजदीकी से देखा है और उनको समाधान की रोशनी भी दी है ।

इन लेखो/प्रवचनो मे प्रवचनकार ने अनेक सस्कृत श्लोको, हिन्दी के दोहो तथा सोरठो आदि का भी भरपूर उपयोग किया है तथा प्रतिपाद्य को स्पष्ट करने हेतु अनेक रोचक कथाओ तथा सस्मरणो का समावेश भी इस ग्रन्थ मे किया गया है। कहा जा सकता है कि भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित तथ्यो को आज के साचे मे ढालने का सार्थक प्रयत्न इन आलेखो मे किया गया है ।

जागो ! निद्रा त्यागो !!

मानव जीवन को सूक्ष्मता से देखने, समझने और नया वल देने की परिष्कृत दृष्टि आचार्य तुलसी के पास है । यही कारण है कि उनके प्रवचन-साहित्य मे सामाजिक, नैतिक एव मानवीय पहलुओ के साथ गभीर दार्शनिक चितन के स्वर भी है । प्रस्तुत पुस्तक ऐसे ही ५८ प्रवचनो का संकलन है ।

जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, यह पाठक को जागरण का सदेश देती है । इसमे विविध भावो का समाहार है । आचार, संस्कार, राष्ट्रीय-भावना, साधना, शिक्षा तथा धर्म आदि विपयो से युक्त यह पुस्तक पाठक

की दृष्टि को विशाल एव ज्ञानयुक्त वनाने मे सक्षम है। जीवन और मृत्यु इन दोनो को कलात्मक कैसे वनाया जाए, इसके विविध गुर भी इस कृति मे गुफित है।

इसमे अनेक छोटे-छोटे दृष्टात, उदाहरण, कथानक, रूपक तथा गाथाओ के द्वारा गहन विपय को सरल शैली मे स्पष्ट करने का सुदर प्रयत्न हुआ है। सैद्धातिक दृष्टि से भी यह पुस्तक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वन पडी है क्योकि इसमे सरल भापा मे क्रिया, गुणस्थान, पर्याप्ति आदि का सुंदर विवेचन मिलता है।

आलोच्य पुस्तक प्रवचन-साहित्य की कडी मे वारहवा पुष्प है। तत्त्वजिज्ञासु पाठक इससे जैन तत्त्व एव सिद्धात के कुछ प्रत्ययो की जानकारी प्राप्त कर सकेगे, ऐसा विश्वास है।

जीवन की सार्थक दिशाएं

'जीवन अनन्त संभावनाओ की कच्ची मिट्टी है'—आचार्य तुलसी के ये विचार जीवन के बारे मे एक नयी सोच पैदा करते है। जीवन सभी जीते है, पर सार्थक जीवन जीने की कला वहुत कम व्यक्ति जान पाते हैं। प्रस्तुत पुस्तक सामाजिक, राष्ट्रीय और वैयक्तिक जीवन की अनेक सार्थक दिशाएं उद्घाटित करती है। ३३ आलेखो के माध्यम से प्रस्तुत कृति मे व्यापक सदर्भों में नवीन आध्यात्मिक मूल्यो का प्रकटीकरण हुआ है।

इस पुस्तक में कुछ आलेख व्यक्तिगत अनुभूतियो से संवधित है तो कुछ समाज, परिवार एवं राष्ट्र से जुड़ी विसंगतियों एवं विकृतियो पर भी मार्मिक प्रहार करते है। 'धर्मसंघ के नाम खुला आह्वान' लेख विस्तृत होते हुए भी आधुनिकता के नाम पर पनप रही भोगविलास एवं ऐश्वर्यवादी मनोवृत्ति पर करारा व्यंग्य करता है तथा लेखक की मानसिक पीड़ा का सजीव चित्रण प्रस्तुत करता है।

प्रस्तुत कृति मानव जीवन से जुड़ी सच्चाइयो की सच्ची अभिव्यक्ति है। इसे पढते समय व्यक्ति अपना चरित्र सामने महसूस करता है। समीक्ष्य कृति मे लीक से हटकर कुछ कहने का तथा लोगो की मानसिकता को झकझोरने का सघन प्रयत्न हुआ है। यह कृति हर वर्ग के पाठक को कुछ सोचने, समझने एवं वदलने के लिए उत्प्रेरित करेगी तथा अहिंसक समाज-संरचना की दिशा मे एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करेगी, यह विश्वास है।

जैन तत्व प्रवेश भाग-१,२

जैन दर्शन के सिद्धात रूढ नही, अपितु विज्ञान पर आधारित है। इसकी तत्त्व-मीमासा भी समृद्ध है। इसमे जहा विश्व-व्यवस्था पर गहन चिंतन है, वहा आत्म-विकास के लिए उपयोगी तत्त्वों का भी गहन विवेचन

हुआ है। 'जैन तत्त्व प्रवेश भाग-१,२' मे नवतत्त्व, कर्मवाद, भाव, आत्मा आदि की प्राथमिक जानकारी मिलती है तथा अन्य स्फुट विषयो का ज्ञान भी इसमे प्राप्त होता है।

इसके दूसरे भाग मे—लेश्या, भाव, गुणस्थान आदि का विवेचन है। साथ ही आचार्य भिक्षु के मौलिक सिद्धात दान, दया आदि को भी आधुनिक भापा मे प्रस्तुत किया गया है।

जैन तत्त्व ज्ञान मे प्रवेश पाने के लिए ये दोनो कृतिया प्रवेश द्वार कही जा सकती है। दार्शनिक और तात्त्विक विवेचन को भी इसमे सरल एव सहज भाषा मे प्रस्तुत किया गया है। ये कृतिया आचार्य भिक्षु द्वारा रचित 'तेरह द्वार' के आधार पर निर्मित की गयी है। आज भी सैकड़ो मुमुक्षु और तत्त्वजिज्ञासु इन दोनो कृतियो को सस्कृत श्लोको की भांति शव्दश: कठस्थ करते है तथा इनका पारायण करते है।

जैन तत्त्व विद्या

तत्त्वज्ञान जहा हमारी दृष्टि को परिमार्जित करता है, वहा जीवन रूपातरण मे भी सहयोगी वनता है। आचार्य तुलसी का मतव्य है कि वड़े-वडे सिद्धातो का मूल्य वौद्धिक समुदाय तक सीमित रह जाता है किंतु 'जैन तत्त्व विद्या' पुस्तक मे सामान्य तत्त्वज्ञान को वहुत सरल और सुवोध शैली मे प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत कृति शिक्षित और अल्पशिक्षित दोनो वर्गों के पाठको के लिए उपयोगी है।

यह कृति 'कालू तत्त्व शतक' की व्याख्या के रूप मे लिखी गयी है। जैन विद्या के लगभग १०० विपयो का विश्लेपण इस ग्रन्थ मे है। आकार में छोटी होते हुए भी यह कृति ज्ञान का आकर है, इसमें कोई सदेह नही है। जैन विद्या का प्रारम्भिक ज्ञान कराने मे यह पुस्तक वहुत उपयोगी है।

जैन दीक्षा

भारतीय सस्कृति मे सन्यस्त जीवन की विशेप प्रतिष्ठा है। वडे-वडे चक्रवर्तियो ने भी भौतिक सुखो को तिलाञ्जलि देकर साधना के वीहड पथ पर चरण वढाए है। जैन परम्परा मे तो दीक्षित जीवन का विशेप महत्त्व रहा है। कुछ भौतिकवादी व्यक्ति दीक्षा को पलायन मानते है पर आचार्य तुलसी ने इस पुस्तिका के माध्यम से यह स्पष्ट किया है कि दीक्षा कोई पलायन या कर्त्तव्यविमुखता नही, अपितु स्वय, समाज व राप्ट्र के प्रति अधिक जागरूक होने का एक महान् उपक्रम है।

पुस्तिका मे दीक्षा का स्वरूप, दीक्षा ग्रहण के कारण, दीक्षा-ग्रहण की अवस्था आदि अनेक विपयो का स्पष्टीकरण है। इस पुस्तिका मे मूलत: वालदीक्षा के विरोध मे उठने वाली शंकाओ का समाधान देने वाले विचारो

का संकलन है। यह पुस्तिका अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यो को अपने में समेटे हुए है।

ज्योति के कण

अणुव्रत आंदोलन के माध्यम से आचार्य तुलसी ने भारतीय जनता को रचनात्मक एवं सृजनात्मक जीवन का प्रेरक एव उपयोगी संदेश दिया है। यह आदोलन जहा गरीब की झोपड़ी से राष्ट्रपति भवन तक पहुंचा, वहा सामान्य अनपढ़ ग्रामीण से लेकर प्रबुद्ध शिक्षाविद् भी इससे प्रभावित हुए बिना नही रह सके। 'ज्योति के कण' पुस्तिका अणुव्रत के स्वरूप एवं उसके विभिन्न पक्षो का सुन्दर विश्लेषण करती है। यह लघु कृति अणुव्रत की ज्योति को जन-जन तक पहुंचाने मे समर्थ रही है।

ज्योति से ज्योति जले

"शरीर पर जितने रोम है, उससे भी अधिक आशा और उम्मीद युवापीढी से की जा सकती है। उसे पूरा करने के लिए युवकों को इच्छाशक्ति और सकल्पशक्ति का जागरण करना होगा"—आचार्य तुलसी का यह उद्बोधन आज की दिशाहीन और अकर्मण्य युवापीढी को एक नया बोधपाठ पढ़ाता है। ऐसे ही अनेक बोधपाठों से युक्त समय-समय पर युवकों को प्रतिबोध देने के लिए दिए गए वक्तव्यो एव निबन्धों का सकलन ग्रन्थ है—'ज्योति से ज्योति जले।' यह पुस्तक युवको के आत्मबल और नैतिकबल को जगाने की प्रेरणा तो देती ही है साथ ही 'श्रमण संस्कृति की मौलिक देन' तथा 'चंद्रयात्रा : एक अनुचिन्तन' आदि कुछ लेख सैद्धांतिक एवं आगमिक ज्ञान भी प्रदान करते है। पुस्तक में गुम्फित छोटे-छोटे प्रेरक उद्बोधनो से प्रेरणा पाकर युवासमाज निश्चित ही रचनात्मक एवं सृजनात्मक दिशा मे गति कर सकता है।

तत्त्व क्या है ?

'तत्त्व क्या है ?' 'ज्ञानकण' की शृंखला मे प्रकाशित होने वाला महत्त्वपूर्ण पुष्प है। इसमे धर्म के संदर्भ में फैली कई भ्रांतियो का निराकरण है। प्रस्तुत पुस्तिका मे धर्म का क्रान्तिकारी स्वरूप अभिव्यक्त हुआ है। इसमें अध्यात्म को भौतिकता से सर्वथा भिन्न तत्त्व स्थापित किया गया है। लेखक का मानना है—"भौतिकता स्वार्थमूलक है, स्वार्थ-साधना मे संघर्ष हुए बिना नही रहते। आध्यात्मिकता का लक्ष्य परमार्थ है—इसलिए वहां संघर्षो का अन्त होता है।" उनका यह कथन अनेक भ्रातियो को दूर करने वाला है।

धर्म और राजनीति को सर्वथा पृथक् नही किया जा सकता अतः धर्म के विविध पक्षो को उजागर करते हुए आचार्य तुलसी राजनीतिज्ञों को

चेतावनी देते हुए कहते हैं—"मै राजनीतिज्ञो को भी एक चेतावनी देता कि हिंसात्मक क्राति ही सब समस्याओ का समुचित साधन है, इस को निकाल फेके अन्यथा उन्हे कटु परिणाम भोगना होगा। आज हिंसक से कल का हिंसक अधिक क्रूर होगा, अधिक सुख-लोलुप होगा।' यह प्रेरक वाक्य इस ओर इंगित करता है कि राजनीति पर धर्म का अंकुश अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार आकार मे छोटी होते हुए भी यह पुस्तिका वैचारिक खुराक की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

तत्त्व-चर्चा

भारतीय संस्कृति मे तत्त्वज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। महावीर ने मोक्ष मार्ग की प्रथम सीढी के रूप मे तत्त्वज्ञान को स्वीकार किया है।

आचार्य तुलसी महान् तत्त्वज्ञ ही नही, वरन् तत्त्व-व्याख्याता भी है। समय-समय पर अनेक पूर्वी एव पाश्चात्य विद्वान् आपके चरणो मे तत्त्व-जिज्ञासा लिये आ जाते है। हर प्रश्न का सही समाधान आपकी औत्पत्तिकी बुद्धि मे पहले से ही तैयार रहता है।

तत्त्वचर्चा पुस्तक मे दक्षिण भारत के सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डा० के० जी० रामाराव व आस्ट्रिया के यशस्वी पत्रकार डा० हर्बर्ट टिसि की जिज्ञासाओ का समाधान है। इसमे दोनो विद्वानो ने आत्मा, जीव, कर्म, पुद्गल, पुण्य आदि के बारे मे तो प्रश्न उपस्थित किए ही है, साथ ही साधु-जीवन की चर्या से सबधित भी अनेक प्रश्नो का उत्तर है।

यह पुस्तिका जैन तत्त्वज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अत: तत्त्वज्ञान मे रुचि रखने वालो के लिये पठनीय एव मननीय है।

तीन संदेश

'तीन सदेश' पुस्तिका मे आचार्य तुलसी के तीन महत्त्वपूर्ण सदेश सकलित है। प्रथम 'आदर्श राज्य' जो एशियाई कान्फ्रेस के अवसर पर प्रेपित किया गया था। दूसरा 'धर्म सदेश' अहमदाबाद मे आयोजित 'धर्म परिपद्' मे पढ़ा गया था तथा तीसरा 'धर्म रहस्य' दिल्ली मे एशियाई कान्फ्रेस के अवसर पर 'विश्व धर्म सम्मेलन' मे प्रेषित किया गया। लगभग ४७ वर्ष पूर्व लिखित ये तीनो सदेश आज भी धर्म और राजनीति के बारे मे अनेक नई धारणाओ और विचारों को अभिव्यक्त करने वाले है। इन सदेशो में कुछ ऐसी नवीनताएं है, जो पाठको को यह अहसास करवाती है कि हम ऐसा क्यो नही सोच पाए? प्रस्तुत कृति युग की ज्वलंत समस्याओ का समाधान है तथा [illegible] लोकचेतना को झकझोरने मे भी कामयाब रही है।

[illegible]य दर्शन एव सस्कृति के विषय मे नया दृष्टिकोण

तथा गाधीजी के रामराज्य की आदर्श कल्पना का प्रायोगिक रूप प्रस्तुत करने वाली है।

तेरापंथ और मूर्तिपूजा

तेरापथ मूर्तिपूजा मे विश्वास नही करता। वह किसी भी व्यक्तिगत उपासना-पद्धति का खडन या आलोचना नही करता, पर सही तथ्य जनता तक पहुचाने मे उसका एव उसके नेतृत्व का विश्वास रहा है। समय-समय आचार्य तुलसी के पास मूर्तिपूजा को लेकर अनेक प्रश्न उपस्थित होते रहते है। उन सब प्रश्नो का सटीक एव तार्किक समाधान इस पुस्तिका में दिया गया है। आगमिक आधार पर अनेक नए तथ्यो को प्रकट करने के कारण यह पुस्तिका अत्यन्त लोकप्रिय हुई है तथा लोगो के समक्ष धर्म का सही स्वरूप प्रस्तुत करने मे सफल रही है।

दायित्व का दर्पण : आस्था का प्रतिबिम्ब

यह पुस्तक दूधालेश्वर महादेव (मेवाड) मे युवको को सबोधित कर प्रेपित किए गए सात प्रवचनो का सकलन है। युवक अपनी क्षमता को पहचानकर शक्ति का सही नियोजन कर सके इसी दृष्टि से दूधालेश्वर मे साप्ताहिक शिविर का आयोजन हुआ। आचार्यश्री की प्रत्यक्ष सन्निधि न मिलने के कारण वाचिक सन्निधि को प्राप्त कराने के लिए सात प्रवचनो को ध्वनि-मुद्रित किया गया। वे ही सात प्रवचन इस कृति मे सकलित है।

ये प्रवचन भारतीय संस्कृति, जैनदर्शन, तेरापथसघ तथा श्रावक की आचार-सहिता की विशद जानकारी देते है। आकार-प्रकार मे छोटी होने पर भी यह कृति भापा, भाव एव शैली की दृष्टि से काफी समृद्ध है। इसमे आधुनिक विकृत जीवन-शैली तथा पाश्चात्य सस्कृति के अधानुकरण पर तो प्रहार किया ही है, साथ ही चरित्रहीनता एव आस्थाहीनता को समाप्त कर नैतिक एव प्रामाणिक जीवन जीने का सदेश भी दिया गया है।

अहिसा के परिप्रेक्ष्य मे कई मौलिक एव आधुनिक प्रश्नो का सटीक समाधान भी इस कृति मे प्रस्तुत है। उदाहरण के लिए इसकी कुछ पक्तिया पठनीय है— "कई वार भावावेश मे आकार युवावर्ग कह वैठता है—"नही चाहिए हमे ऐसी अहिसा और शाति, जो समाज को दब्बू और कायर वनाती है युवावर्ग ही क्यो, मै भी कहता हू मुझे भी नही चाहिए ऐसी अहिसा और शाति, जो समाज को कायर बनाती है।"

यह कृति युवापीढी की उखडती आस्था को पुन:स्थापित करने मे अपनी विशिष्ट भूमिका निभाती है।

दीया जले अगम का

'दीया जले अगम का' ठाण सूत्र के आधार पर दिए गए प्रवचनो का सकलन है। यह योगक्षेम वर्ष मे हुए प्रवचन-साहित्य की शृंखला मे चौथा पुष्प है। इस पुस्तक के ४१ आलेखो मे सैद्धातिक, दार्शनिक, व्यावहारिक, मनोवैज्ञानिक आदि अनेक दृष्टियो से नए तथ्य प्रकट हुए है। आचार्य तुलसी के शब्दो में — "इस पुस्तक मे कही धर्म और राजनीति की चर्चा है तो कही पर्यावरण-विज्ञान का प्रतिपादन है, कही क्रियावाद और अक्रियावाद जैसे दार्शनिक विषय है तो कहीं स्वास्थ्य की आचार सहिता है। कही चक्षुष्मान का स्वरूपबोध है तो कही व्यक्तित्व की कसौटियो का निर्धारण है। कही अहिंसा की मीमांसा है तो कही मरने की कला का अवबोध है। कुल मिलाकर मुझे लगा कि इस पुस्तक की सामग्री जीवन को अनेक कोणो से समझने मे सहयोगी बन सकती है। महावीर-वाणी के आधार पर प्रज्वलित यह अगम का दीया चेतना की सत्ता को आवृत करने वाले अंधेरे से लड़ता रहे, यही इस पुस्तक के सकलन, सपादन और प्रकाशन की सार्थकता है।"

प्रस्तुत कृति निषेधात्मक भावो के स्थान पर विधायक भाव, भौतिक शक्तियो के स्थान पर आध्यात्मिक शक्तियो का साक्षात्कार कराने में सार्थक भूमिका निभाती है। इसके आलेख हैवान से इन्सान तथा इन्सान से बेहतर इन्सान बनाने की दिशा मे अपना सफर जारी रखेंगे, ऐसा विश्वास है।

दोनों हाथ : एक साथ

आचार्य तुलसी ने अपने आचार्यकाल मे नारी-जागरण के अनेक प्रयत्न किए है। उनका मानना है कि स्त्री को उपेक्षा या सकीर्ण दृष्टि से देखना रूढिगत मानसिकता का द्योतक है। महिला जाति को दिशादर्शन देने के साथ-साथ उन्होने युवाशक्ति को भी प्रतिबोध देकर उसे रचनात्मक दिशा मे अग्रसर किया है। 'दोनो हाथ : एक साथ' पुस्तक मे आचार्य तुलसी द्वारा समय-समय पर युवको एव महिलाओ को सम्बोधित कर लिखे गए लेखो का संकलन है।

पुस्तक के प्रथम खड मे २३ निबध नारी-शक्ति से सम्बन्धित है। तथा दूसरे खंड के २२ निबंधो मे युवाशक्ति को दिए गए प्रेरक उद्बोधन समाविष्ट है।

प्रथम खड मे नारी जीवन से जुडी पर्दाप्रथा, दहेज, अशिक्षा जैसी विसगतियों एवं विकृतियों पर करारा प्रहार किया गया है। नारी की आंतरिक शक्ति को जागृत करने की प्रेरणा देते हुए लेखक यहा तक कह देते है—"समाज मे लक्ष्मी और सरस्वती का जितना महत्त्व है, दुर्गा का भी

उससे कम महत्त्व नही है। केवल लक्ष्मी और सरस्वती वनने से महिलाओ का काम नही चलेगा, उन्हें दुर्गा भी वनना होगा।" इस खड के सभी लेख नारी-जीवन के विभिन्न पहलुओ को छूने वाले है तथा उसकी सोयी अस्मिता को जगाने वाले हैं।

यह पुस्तक स्वस्थ समाज-सरचना मे महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। पुस्तक मे प्रतिपादित क्रातिकारी विचार आने वाली शताब्दियो तक भी युवापीढी को दिशादर्शन देते रहेगे, ऐसा विश्वास है।

धर्म : एक कसौटी : एक रेखा

भारतीय सस्कृति के कण-कण मे धर्म की चर्चा है, इसलिए यहा अनेक धर्म और धर्माचार्य प्रादुर्भूत हुए। समय के अतराल मे धर्म जैसे निखालिस तत्त्व मे भी कुछ अन्यथा तत्त्वो का समावेश हो जाता है, इस-लिए उसकी कसौटी की आवश्यकता हो जाती है।

आचार्य तुलसी ने धर्म को वुद्धि, तर्क और श्रद्धा की कसौटी पर कसकर उसका शुद्ध रूप जनता के समक्ष प्रस्तुत किया है। 'धर्म : एक कसौटी : एक रेखा' पुस्तक मे उन्होने इसी परिप्रेक्ष्य में चिंतन किया हैं। इसकी प्रस्तुति मे वे कहते है—"धर्म की कसौटी है—मानवीय एकता की अनुभूति। हृदय और मस्तिष्क पर अभेद की रेखा खचित होते ही धर्म परीक्षित हो जाता है। अहिंसा का आधार अभेद वुद्धि है। मानवीय एकता की अनुभूति इसी की एक लय हैं। इसी लय मे मैंने अनेक समस्याओ का समाधान देखा है।"

सम्पूर्ण पुस्तक तीन अध्यायो मे विभक्त हैं। प्रथम अध्याय मे अध्यात्म के विविध परिप्रेक्ष्यो की चर्चा है। दूसरा अध्याय जैन धर्म से संवंधित है तथा तीसरा अध्याय 'विविधा' के रूप मे है। इसके प्रथम खंड मे 'पत्र एवं प्रतिनिधि' शीर्षक के अन्तर्गत अनेक शहरो मे हुई पत्रकार-वार्ताओ का समावेश है। द्वितीय खंड 'व्यक्ति' मे अनेक गणमान्य एवं प्रसिद्ध व्यक्तियो, श्रावको के वारे मे आचार्यश्री के उद्गार संकलित है। तृतीय 'मत-अभिमत' मे लगभग ११ पुस्तको के वारे मे लेखक की सम्मति प्रकाशित है। चतुर्थ 'संस्थान' खंड मे विभिन्न संस्थानो एवं सम्मेलनो के लिए दिए गए सदेशो एवं विचारो का संकलन है। इनमे कुछ सदेश संस्कृत भापा मे भी हैं।

पंचम 'पर्व' खंड मे कुछ विशेप उत्सवो के वारे मे तथा अंतिम 'नैतिक संदर्भ' खंड में एक, दो आदि शीर्पकों से नैतिक विचारो का समावेश है। पुस्तक मे समाविप्ट लेखो मे वेधकता तो है हीं, कुछ नया सोचने की प्रेरणा भी है।

मुनि दुलहराजजी द्वारा संपादित इस पुस्तक मे विविध विधाओं मे

विचारो का प्रस्तुतीकरण हुआ है। यह पुस्तक दक्षिण यात्रा के परिव्रजन काल की कुछ सामग्री हमारे सामने प्रस्तुत करती है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह पुस्तक अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। क्योकि अनेक व्यक्तियो के बारे मे इस पुस्तक मे आचार्य तुलसी के विचारो का सकलन है।

अहिंसा मे आस्था रखने वाले पाठक को यह पुस्तक नया आलोक देगी, ऐसा विश्वास है।

धर्म और भारतीय दर्शन

आचार्य तुलसी की इस पुस्तिका मे 'भारतीय दर्शन परिषद्' के रजत जयती समारोह के अवसर पर कलकत्ते मे पठित एक विशेष लेख का सकलन है। यह लेख धर्म के शुद्ध स्वरूप का बोध तो कराता ही है साथ ही धर्म क्यो, इस पर भी दार्शनिक दृष्टि से विवेचन प्रस्तुत करता है। प्रस्तुत निबन्ध तथाकथित धार्मिको को कुछ नए सिरे से सोचने को मजबूर करता है।

धर्म : सब कुछ है, कुछ भी नहीं

इस पुस्तिका मे दिल्ली मे जनवरी, सन् १९५० मे हुए 'सर्वधर्म सम्मेलन' मे आचार्य तुलसी का प्रेषित प्रवचन संकलित है। इस लेख का शीर्षक ही आकर्षक नही है अपितु इसमे वर्णित धर्म का स्वरूप भी मार्मिक, हृदयस्पर्शी और नवीनता लिए हुए है। आचार्य तुलसी का मतव्य है कि यदि धर्म इस जन्म मे शाति और सुख नही देता है तो उससे पारलौकिक शाति की कल्पना व्यर्थ है। इसलिए उन्होने उपासना-परक और क्रियाकांडयुक्त धर्म को महत्त्व न देकर धर्म के सदेश को जीवन मे उतारने की बात जनता के समक्ष रखी है। इसी तथ्य की पुष्टि प्रवचन के उपसंहार मे इन शब्दो मे होती है—"मै तो यही कहूगा कि यदि धर्म का आचरण किया जाए तो वह विश्व को सुखी करने के लिए सर्वशक्तिमान् है और यदि धर्म का आचरण न किया जाए तो वह कुछ भी नही कर सकता है।"

धर्म-सहिष्णुता

अणुव्रत के माध्यम से धर्मक्रांति का जो स्वर आचार्य तुलसी ने बुलन्द किया है, वह भारत के इतिहास में अविस्मरणीय है। उनके ओजस्वी विचारो ने मृतप्राय. धार्मिक क्रियाकांडो को नवीनता प्रदान कर उन्हें जीवत करने का प्रयत्न किया है। साप्रदायिकता एवं धार्मिक असहिष्णुता को मिटा कर सर्वधर्मसमन्वय का वातावरण बनाया है।

धार्मिक सकीर्णता के दुष्परिणामो को देखकर अपनी पीडा की अभिव्यक्ति लेखक ने पुस्तिका की भूमिका मे इन शब्दो मे की है—"सब धर्मो

का समन्वय मेरा प्रिय विषय है। जब मै धर्मों में परस्पर टकराव देखता हू तो मुझे वेदना होती है। धर्म की पृष्ठभूमि मैत्री है, अहिंसा है और करुणा है।"

इसमे आचार्य तुलसी ने साहित्यिक शैली मे अनेक रूपकों द्वारा धार्मिक उदारता को प्रस्तुति दी है। उसका एक निदर्शन द्रष्टव्य है—"समुद्र मेरे लिए है पर वह केवल मेरे लिए नही है क्योकि वह महान् है, असीम है। मेरा घडा केवल मेरा हो सकता है, क्योंकि वह लघु है, ससीम है।"

इस पुस्तक मे अठारहवे अखिल भारतीय अणुव्रत सम्मेलन का दीक्षांत प्रवचन भी समाविष्ट है। इस अवसर पर प्रदत्त मोरारजी देसाई का भाषण भी इसमे सम्मिलित है। इस प्रकार यह पुस्तिका अहिंसा के विषय में नए विचारों को प्रकट करने वाली महत्त्वपूर्ण कृति है।

धवल समारोह

जैन परम्परा की प्रभावक आचार्य-शृंखला मे आचार्य तुलसी का आचार्यकाल एक कीर्तिमान् है। उनका नेतृत्व ही दीर्घकालीन नही, अपितु उस काल मे हुये नवोन्मेषो की शृखला भी बहुत लम्बी है। उनके आचार्यकाल के २५ वर्ष पूरे होने पर समाज ने 'धवल समारोह' की आयोजना की। इस अवसर पर उनका एक विशिष्ट प्रवचन 'धवल समारोह' के नाम से प्रकाशित हुआ। इस लेख का तेरापंथ इतिहास की दृष्टि से ही महत्त्व नही, वरन् सम्पूर्ण मानवजाति को भी इसमे नया मार्गदर्शन दिया गया है। वे समाज से क्या अपेक्षा रखते है, इसका निर्देश इस आलेख मे स्पष्ट भाषा मे है। लेख के अन्त मे वे स्वय अपने संकल्प की अभिव्यक्ति इन शब्दो मे करते है—"मै सकल्प करता हू कि मैने जो किया, उससे और अधिक करूं। मैंने जो पाया, उससे और अधिक पाऊं। मुझसे जनता को जो मिला, उससे और अधिक मिले। मेरा जीवन अपने गण, राष्ट्र और समूचे विश्व के लिये हितकर हो, यही मेरी मगलकामना है।"

सम्पादित होने के बाद इस ऐतिहासिक प्रवचन का कथ्य इतना सशक्त हो गया है कि दर्पण की भाति तेरापथ समाज इसमे अपने चहुंमुखी विकास का दर्शन कर सकता है। ३५ साल पूर्व दिया गया यह प्रवचन आज भी उतना ही प्रासगिक एवं महत्ता लिये हुये है। इस विस्तृत प्रवचन में एक युग, एक जीवन और एक राष्ट्र अपने आपमे पूर्ण रूप से विद्यमान है।

नया मोड़

अणुव्रत आदोलन के अन्तर्गत नए मोड़ के द्वारा आचार्य तुलसी

ने समाज मे एक नयी क्राति लाने का प्रयास किया है। एक हाथ के घूघट मे रहने वाली महिलाओ ने 'नए मोड' के माध्यम से नयी करवट लेकर समाज मे अपनी नयी पहचान बनायी है।

'नया मोड' पुस्तिका मे आचार्य तुलसी ने सामाजिक कुरूढियो की ओर समाज का ध्यान आकृष्ट किया है तथा जन्म, विवाह, मृत्यु के अवसर पर होने वाले आयोजन को जैन सस्कृति के अनुसार सयम से कैसे मनाए, इसका दिशानिर्देश दिया है। इस पुस्तक मे सामाजिक परम्पराओ मे आई जडता को तोड़कर उनमे नवप्राण फूकने का कार्य किया गया है।

पुस्तक का वैशिष्ट्य है कि यह केवल उपदेश ही नही देती, बल्कि जन्म-संस्कार, विवाह-सस्कार एव मृत्यु-सस्कार का प्रायोगिक रूप भी प्रस्तुत करती है। इस पुस्तक से प्रेरणा पाकर समाज आडम्बर एव प्रदर्शनमुक्त जीवन जीने की प्रेरणा ले सकेगा तथा नए समाज की संरचना हो सकेगी, ऐसा विश्वास है।

नयी पीढ़ी : नए संकेत

आचार्य तुलसी की आशाओ का केन्द्रविन्दु है—'युवा समाज'। उनका मानना है कि युवको के हाथ मे यदि मशाल प्रज्वलित हो तो सामाजिक जीवन चमत्कृत हो उठता है। युवापीढी को अनुशासित और सयमी बनाए रखने के लिए वे समय-समय पर दिशाबोध देते रहते है। 'नयी पीढी नए संकेत' पुस्तक दिल्ली मे आयोजित युवक-प्रशिक्षण शिविर मे प्रदत्त वक्तव्यो का सकलन है। इसमे ७ वक्तव्यो के अन्तर्गत धर्म, तेरापथ, मानसिक शाति, ईश्वर, अनेकात, विसर्जन आदि विषयो का विश्लेषण हुआ है। आकार-प्रकार मे लघु होते हुए भी यह पुस्तक धर्म, दर्शन एव सिद्धात के बारे मे नवीन सामग्री के साथ प्रस्तुत है।

नवनिर्माण की पुकार

आचार्य तुलसी धार्मिक, आध्यात्मिक एवं सास्कृतिक महापुरुष है। अणुव्रत के माध्यम से उन्होने सास्कृतिक चेतना को जागृत कर मानव के नवनिर्माण का बीड़ा उठाया है। राजधानी दिल्ली से लेकर छोटे-बडे गांवों तक हजारो किलोमीटर की पदयात्राएं उन्होने की है। 'नवनिर्माण की पुकार' पुस्तक मे दिल्ली यात्रा के अनुभवो एव कार्यक्रमो का सक्षिप्त विवरण है। कई यात्रा-संस्मरण भी पुस्तक मे अनायास ही जुड गए है। अनेक महान् राष्ट्रीय व्यक्तित्वो के विचारो एव उनके साथ हुए आचार्यश्री के वार्तालापो का समावेश भी इसमे कर दिया गया है।

आचार्य तुलसी के अनेक प्रवचनो का सकलन इसमे ऐतिहासिक क्रम

से हुआ है, अत॰ आचार्यप्रवर के बहुमूल्य विचारो के साथ-साथ ऐतिहासिक दृष्टि से भी इस पुस्तक का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

सम्पूर्ण पुस्तक तीन प्रकरणो मे विभाजित है। प्रथम प्रकरण 'आयोजन' मे अनेक महत्त्वपूर्ण विद्वद् गोष्ठियो की रिपोर्ताज है एव आचार्य श्री के मौलिक विचारो का सकलन है। दूसरा प्रकरण 'प्रवचन' नाम से प्रकाशित है। इसमे लगभग उन्नीस विपयों पर आचार्यश्री के प्रेरक विचारो एवं उद्‌वोधनो का सकलन है। तथा तीसरे प्रकरण 'मंथन' मे पंडित नेहरू, दलाईलामा जैसे ३४ अतर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय व्यक्तियों के साथ हुए वार्तालापो की सक्षिप्त प्रस्तुति हुई है। परिशिष्ट मे आचार्यश्री से सम्वन्धित अनेक प्रेरक संस्मरणो का समावेश है। ३५ साल पूर्व मुद्रित होने पर भी यह पुस्तक साहित्यिक दृष्टि से अपना विशेप महत्त्व रखती है।

नैतिकता के नए चरण

यह 'अणुव्रत विचार माला' का चौथा पुष्प है। इसमें ७ लघु प्रवचनो का संकलन है। इन प्रवचनो/लेखो मे अणुव्रत के विविध पक्षो का नैतिक सदर्भ मे चितन किया गया है। आचार्य तुलसी ने अणुव्रत के माध्यम से नैतिक क्राति की अलख जगाई है। उनकी उदग्र उत्कठा है कि धर्म और नैतिकता का गठवधन हो। यदि धार्मिक होकर व्यक्ति नैतिक नही है तो वह भुलावामात्र है। अपनी इसी उत्कंठा को वे इस पुस्तक मे इन शव्दो मे व्यक्त करते है—"नैतिक पुनर्निर्माण की परिकल्पना मुझे वहुत प्रिय है। उसकी क्रियान्विति को मै अपने ही लक्ष्य की क्रियान्विति मानता हू।"

अतिम 'भयमुक्ति' प्रवचन मे भय से मुक्त होने के ९ उपाय निर्दिष्ट हैं। वे उपाय आध्यात्मिक होने के साथ-साथ मनोवैज्ञानिक भी है। लघुकाय होते हुए भी यह पुस्तिका अणुव्रत और नैतिकता की सक्षिप्त झांकी प्रस्तुत करने मे समर्थ है।

नैतिक-संजीवन भाग-१

मूर्च्छित मानव के लिए सजीवनी प्राणदायिनी होती है, वैसे ही मूर्च्छित मानवता नैतिक-सजीवन से ही पुनरुज्जीवित हो सकती है। आचार्य तुलसी ने अणुव्रत के माध्यम से मानवता के पुनरुद्धार का वीड़ा उठाया है। 'नैतिक सजीवन' पुस्तक इसी की फलश्रुति है। आचार्य तुलसी अपने आत्मकथ्य मे इस पुस्तक की प्रस्तुति इन शव्दो मे प्रकट करते है—नैतिक ऊर्ध्व सचार के लिए जो एक संयमप्रधान आचार संहिता प्रस्तुत की गई, उसे लोगो ने 'अणुव्रत आदोलन' कहा और उसी उद्देश्य से जो प्रेरक विचार मैं देता रहा, वह 'नैतिक संजीवन' वन गया।"

प्रस्तुत कृति मे अणुव्रत आंदोलन के वार्षिक अधिवेशनो पर प्रदत्त मगल प्रवचन एवं समापन-समारोह के उद्बोधन संकलित हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे प्रवचनो का संकलन भी है, जो अणुव्रत के विशेप समारोहो के अवसर पर दिये गए है। इस छोटी-सी कृति में आदोलन के इतिहास, रूपरेखा, उद्देश्य तथा उसकी निष्पत्तियो का ज्ञान हो जाता है। प्राचीन होने पर भी यह पुस्तक भाषा, भाव एव शैली की दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि की है।

इस कृति के सभी आलेख आज की विपम परिस्थितियो मे भी आशा, विश्वास, रचनात्मकता एव मानवता का सदेश देते हैं। जो व्यक्ति प्रतिदिन हजारो पृष्ठ स्याही से रग देते है, जिनमे ढूढने पर भी जीवन-तत्त्व नही मिलता, उन लोगो के लिए आचार्य तुलसी की यह कृति प्रेरणा-दीप का कार्य करेगी तथा जीवन की उर्वर भूमि मे आध्यात्मिक वर्पा कर चरित्र की पौध लहलहा सकेगी।

प्रगति की पगडंडियां

लगभग ३७ साल पूर्व दिए गए प्रवचनो का एक लघु सस्करण है-- 'प्रगति की पगडडिया'। इस पुस्तिका के १३ आलेखो मे नैतिकता, शाति, अनुशासन और अहिसा की आवश्यकता पर प्रकाश डाला गया है, साथ ही इन्हें जीवन मे उतारने की प्रेरणा भी है। इसमे औपदेशिक भाषा का प्रयोग अधिक है, फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्धितत्त्व और हृदयतत्त्व दोनो का समन्वित रूप प्रस्तुत हुआ है।

प्रज्ञापर्व

आचार्य तुलसी प्रायोगिक जीवन जीने मे विश्वास करते है। उनके जीवन का एक वहुत वड़ा सामूहिक प्रयोग का वर्ष था—'योगक्षेमवर्प' जिसे 'प्रज्ञापर्व' के रूप मे मनाया गया। इस वर्प का प्रयोजन था - मौलिकता की सुरक्षा के साथ धर्मसघ को आधुनिकता के साथ जोड़ना तथा आध्यात्मिक वैज्ञानिक व्यक्तित्व का निर्माण करना। इस पूरे वर्प मे सैकड़ो साधु-साध्वियो एवं श्रावक-श्राविकाओ को प्रशिक्षण दिया गया।

प्रशिक्षण देने की दृष्टि से प्रशिक्षुओ को अनेक वर्गो मे वाटा गया। जैसे—स्नातक वर्ग, प्रबुद्ध वर्ग, तत्त्वज्ञ वर्ग तथा वोधार्थी वर्ग आदि। पूरे वर्ष मे साप्ताहिक, पाक्षिक और मासिक प्रशिक्षण का क्रम भी चला, जिसमे अनेक कार्यकर्ताओ तथा प्रेक्षाध्यान के प्रशिक्षको के प्रशिक्षण का कार्यक्रम भी रखा गया। इस वर्प का प्रतीक था - 'पण्णा समिक्खए'—प्रज्ञा से देखो। साप्ताहिक बुलेटिन विज्ञप्ति मे 'पण्णा समिक्खए' स्तम्भ के अन्तर्गत आचार्य तुलसी के विशेप सदेश एव विचार प्रकाशित होते रहे। उन्ही विचारो को

सुरक्षित रखा गया है—'प्रज्ञापर्व' पुस्तक मे। इसमें अनेक सामयिक विपयो पर सुन्दर प्रकाश डाला गया है।

इन निबन्धों का सकलन मुनिश्री सुखलालजी ने तैयार किया है। पुस्तक के परिशिष्ट मे इस वर्ष के सम्पूर्ण इतिहास को भी सुरक्षित कर दिया है। लगभग १५ शीर्षको में 'योगक्षेमवर्ष' के पूरे इतिहास का लेखा-जोखा इसमे प्रस्तुत है। यह पुस्तक आचार्यवर के नाम से प्रकाणित है अतः यह परिशिष्ट कुछ अलग-थलग सा लगता है।

४५ लघु निवन्धो से युक्त यह पुस्तक अनेक दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक लेख आधुनिक संदर्भ मे जीवन की समस्याओ से जूझता-सा प्रतीत होता है। यह पुस्तक निःसंदेह दीर्घकाल तक लोगो को प्रज्ञापर्व की स्मृति दिलाती रहेगी तथा अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय की सार्थक प्रतीति कराती रहेगी।

प्रज्ञापुरुष जयाचार्य

तेरापथ की तेजस्वी आचार्य-परम्परा मे जयाचार्य चतुर्थ आचार्य थे। उन्होने अपने नेतृत्वकाल मे अनुशासन और मर्यादा के विविध प्रयोग किए। राजस्थानी भाषा मे इतने विशाल साहित्य का निर्माण उनकी अनूठी प्रत्युत्पन्न मेधा का परिचायक है। जयाचार्य का जीवन वहुमुखी प्रवृत्तियो का केन्द्र था। उनके विशाल व्यक्तित्व को शब्दो की परिधि मे बांधना असंभव नही, तो दुःसभव अवश्य है। पर आचार्य श्री की उदग्र आकाक्षा ने उनकी जीवन-यात्रा को प्रस्तुत करने का निर्णय लिया और वह 'प्रज्ञापुरुष जयाचार्य' के रूप मे रूपायित हो गई।

लगभग ४४ अध्यायो मे विभक्त यह जीवनी-ग्रथ जयाचार्य के समग्र व्यक्तित्व की सक्षिप्त प्रस्तुति देने वाला है। जयाचार्य ने अपने धर्मसंघ को सविभाग और अनुशासन का उदाहरण कैसे वनाया, इसके विविध प्रयोग भी इसमे दिए गए है। इस ग्रंथ मे उनकी योग-साधना, साहित्य-साधना और संघ-साधना की त्रिवेणी वही है। यह त्रिवेणी निश्चय ही पाठको की मानसिक शुद्धि मे उपयोगी वनेगी।

यह पुस्तक आचार्य तुलसी और युवाचार्य महाप्रज्ञ की सयुक्त कृति है। सपादन-कला मे कुशलहस्त मुनि दुलहराजजी इसके संपादक है। यह कृति जयाचार्य निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष्य मे लिखी गयी है। जयाचार्य के योगदान की झलक को प्रस्तुत करने वाली यह कृति जीवनी साहित्य मे अपना विशिष्ट स्थान रखती है तथा जयाचार्य के व्यक्तित्व एव कर्तृत्व को समझने मे अहभूमिका निभाती है।

प्रवचन डायरी भाग १-३

आचार्य तुलसी एक तेजस्वी धर्मसघ के अनुशास्ता है। उनके लाखो अनुयायी है। लगभग ६० वर्षो से वे अनवरत प्रवचन दे रहे हैं। पदयात्रा के दौरान तो दिन मे चार-चार वार भी जनता को उद्‌वोधित किया है। यदि उन सबका सकलन किया जाता तो आज एक विशाल वाङ्मय तैयार हो जाता। फिर भी सकलित प्रवचन-साहित्य विशाल मात्रा मे उपलब्ध है।

सन् ५३ से ५७ तक के प्रवचनो का सपादन श्री श्रीचदजी रामपुरिया ने 'प्रवचन डायरी' के रूप मे किया है। आचार्य तुलसी ने इन प्रवचनो मे अन्तरात्मा की आवाज को मानवता के हित मे नियोजित करने का सत्प्रयास किया है। उनके विचारो का मूल है कि व्यक्ति-सुधार ही समष्टि-सुधार का मूल है अत· व्यक्ति-सुधार की विविध प्रेरणाए इन प्रवचनो मे निहित है।

प्रवचन डायरियो मे अणुव्रत आंदोलन के विविध पक्षो का वर्णन भी वड़े प्रभावी ढग से किया गया है। विपय का स्पष्टीकरण अनेक उद्‌वोधक कथाओ से हुआ है अत· ये प्रवचन अधिक सरस वन गए है। आचार्य तुलसी ने अपने प्रवचनो मे धर्म के सार्वभौम स्वरूप को उजागर किया है। इन प्रवचनो मे वर्णित धर्म किसी सम्प्रदाय की सीमा मे वन्धा हुआ नही है। 'प्रवचन डायरी' मे संकलित अनेक प्रवचन स्कूल एव कालेजो मे हुए है अत. इनमे शिक्षा से जुडी विसगतियो तथा धर्म एव अध्यात्म के नाम पर पनपती विकृतियो की तस्वीर को यथार्थ रूप से प्रस्तुत कर उनका स्थायी समाधान भी प्रस्तुत किया गया है।

इन प्रवचनो मे भारतीय सस्कृति की आत्मा छिपी हुई है, इसलिए इस साहित्य की मौलिकता एवं महत्ता पर कभी प्रश्नचिह्न नही लग सकता। जव कभी इनको पढ़ा जायेगा, पाठक नयी प्रेरणा एव आध्यात्मिक खुराक प्राप्त करेगा। आचार्य तुलसी ने इनमे तर्क को नही, अपितु श्रद्धा और आंतरिक प्रतिध्वनि को अभिव्यक्ति दी है। इसलिए ये प्रवचन सीधे अंतर्मन को छूते है।

प्रवचन डायरी के प्रथम भाग मे सन् ५३ एव ५४ के, द्वितीय भाग मे सन् ५५,५६ के तथा तृतीय भाग मे सन् ५७ के प्रवचनो का संकलन है।

द्वितीय सस्करण मे प्रवचन डायरी की सामग्री 'प्रवचन-पाथेय' भाग-९ तथा ११', 'भोर भई,' 'सूरज ढल ना जाए', 'सभल सयाने !' एवं घर का रास्ता' मे परिवर्धित एव परिष्कृत रूप मे प्रकाशित हुई है।

प्रवचन-पाथेय भाग १-११

प्रवचन साहित्य जनमानस को नैतिकता एव अध्यात्म की ओर प्रेरित करने का सफल उपक्रम है। आचार्य तुलसी के प्रवचन किसी पूर्वाग्रह या सकीर्णता से बंधे हुए नही होते है, अतः उनमे सत्य, शिवं, सुन्दरं की समन्विति सहज ही हो जाती है। इन प्रवचनो मे ऐसी शक्ति निहित है, जो मोहाविष्ट चेतना को जगाने मे सक्षम है।

आचार्य तुलसी के प्रवचन-साहित्य की एक लम्बी शृखला जैन विश्व भारती लाडनू (राज०) से प्रकाशित हुई है, जो प्रवचन-पाथेय के नाम से संकलित है। महाश्रमणी साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी उनके प्रवचनो के बारे मे अपनी टिप्पणी प्रस्तुत करते हुए कहती है—"उनके प्रवचनों मे एक ओर सत्य की गहराई रहती है तो दूसरी ओर व्यवहार का धरातल भी बहुत प्रशस्त रहता है। आचार्यश्री की बहुश्रुतता हर प्रवचन मे झांकती है।"

यह प्रवचन-साहित्य जीवन के विविध पहलुओ से सम्बन्धित समस्याओ को उठाता ही नही, बल्कि समाधान भी देता है। पहले उनके प्रवचनो का संकलन 'बूद बूंद से घट भरे', भाग-१,२ 'मजिल की ओर' भाग-१,२ 'सोचो समझो' भाग १-३ इन नामो से प्रकाशित हुआ था। प्रवचन साहित्य को एकरूपता देने के लिए इन्हे "प्रवचन-पाथेय" नाम से कई भागो मे प्रकाशित किया गया, जिसकी सूची इस प्रकार है—

प्रवचन-पाथेय भाग-१	बूद-बूद से घट भरे भाग-१
प्रवचन-पाथेय भाग-२	बूद-बूद से घट भरे भाग-२
प्रवचन-पाथेय भाग-३	मजिल की ओर भाग-१
प्रवचन-पाथेय भाग-४	सोचो ! समझो !! भाग-१
प्रवचन-पाथेय भाग-५	सोचो ! समझो !! भाग-२
प्रवचन-पाथेय भाग-६	सोचो ! समझो !! भाग-३
प्रवचन-पाथेय भाग-७	मजिल की ओर भाग-२
प्रवचन-पाथेय भाग-८	स्वतत्र
प्रवचन-पाथेय भाग-९	प्रवचन डायरी भाग-१
प्रवचन-पाथेय भाग-१०	स्वतत्र
प्रवचन-पाथेय भाग-११	प्रवचन डायरी भाग-१

आचार्यश्री ने इन प्रवचनो मे उन अनछुए पहलुओ का स्पर्श किया है, जिनका सम्बन्ध आज समग्र विश्व मे व्याप्त व्यक्तिगत, पारिवारिक, धार्मिक, सामाजिक एव राजनैतिक समस्याओ से है। लेखक की पैनी दृष्टि से शायद ही कोई मुद्दा छूटा हो, जिन पर उनके विचार प्रवचन के माध्यम से हमारे सामने न आए हो। किसी भी विषय का विश्लेषण करते समय वे जहा अतीत मे खो जाते है, वही उन्हे वर्तमान का भी भान रहता है, साथ ही भविष्य के

प्रति भी सावधान रहते है । नि संदेह प्रवचन-साहित्य की यह लम्बी शृखला हर घर मे ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित कर 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' का संदेश देती है। प्रवचन साहित्य की यह लम्बी शृखला जीवन की विसगतियो को दूर करके व्यक्ति-चेतना को जगाने मे महत्त्वपूर्ण कडी का कार्य करेगी, ऐसा विश्वास है।

प्रश्न और समाधान

प्रश्नोत्तरो के माध्यम से दिया गया बोध पाठक के लिए अधिक सहज एव हृदयग्राही होता है। 'प्रश्न और समाधान' पुस्तक मे जिज्ञासा करने वाले है—मुनिश्री सुखलालजी तथा समाधानकर्त्ता है—आचार्य तुलसी। इसमे प्रश्नोत्तरो के माध्यम से अहिंसा, सत्य आदि व्रतो का स्वरूप विश्लेषित हुआ है। लगभग प्रश्न अणुव्रत आंदोलन के नियमो को व्याख्यायित करते हैं।

यह कृति साम्प्रदायिक मनोभूमिका से दूर हटकर घृणा, हिसा आदि के दलदल से उबार कर मानव जाति को अखण्ड आत्मविश्वास और मैत्री के साम्राज्य मे ले जाती है। इस पुस्तक मे समाज के सच्चे चित्र को उकेरकर समष्टिगत चेतना को जगाने के उपाय निर्दिष्ट है।

प्रेक्षा : अनुप्रेक्षा

प्रेक्षा अपने द्वारा अपने को देखने की ध्यान की विशिष्ट पद्धति है। यह अशात विश्व को शाति की राह बताने का महान उपक्रम है। प्रेक्षा की प्राथमिक जानकारी देने हेतु आचार्य तुलसी ने 'प्रेक्षासगान' की सरचना की, जिसमे ३०० पद्यो के माध्यम से प्रेक्षाध्यान की विधि, स्वरूप तथा महत्त्व को स्पष्ट किया है। इन पद्यो पर प्रश्नोत्तरो के माध्यम से व्याख्या लिखी गई, वही 'प्रेक्षा: अनुप्रेक्षा' पुस्तक के रूप मे रूपायित हुई हैं। इसमे लगभग ५१ आलेखो मे प्रेक्षाध्यान के उदभव का इतिहास, उसका आधार लेश्याध्यान आदि का विस्तार से वर्णन है तथा अन्त मे 'पुलिस अकादमी', जयपुर मे हुए कुछ प्रवचनो का सकलन है।

पूरी पुस्तक प्रेक्षाध्यान की परिक्रमा करते हुए चलती है। प्रश्नोत्तरो का क्रम भी सरल एवं सुबोध है। 'प्रेक्षासगान' के पद्यो की अनुप्रेक्षा करते समय ऐसा महसूस होता है, मानो गागर मे सागर भर दिया गया हो।

प्रस्तुत कृति अस्तित्व को समझने का नया दृष्टिकोण प्रस्तुत कर आत्मशक्ति को जगाने के सूत्रो को व्याख्यायित करती है। साथ ही यह आज के परिवेश मे व्याप्त तनाव, अशाति एव कुण्ठा की सलवटों को दूर करने तथा भौतिक एव पदार्थवादी मनोवृत्ति के अन्धकार को प्रकाश मे रूपान्तरित करने का एक रचनात्मक, सृजनात्मक एव प्रायोगिक उपक्रम है।

प्रेक्षाध्यान : प्राणविज्ञान

प्रेक्षाध्यान के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए "जीवन विज्ञान ग्रंथ माला" की शृंखला में अनेक पुष्प प्रकाशित हुए हैं। उन्ही पुष्पो मे एक पुष्प है—'प्रेक्षाध्यान : प्राणविज्ञान'। इसमे प्राणशक्ति का महत्त्व तथा उसको जगाने के विविध प्रयोगों की चर्चा हुई है। आकार मे लघु होते हुए भी यह पुस्तिका अनेक नए रहस्यों को प्रकट करने वाली है।

बीति ताहि विसारि दे

आचार्य तुलसी की यह उदग्र आकाक्षा है कि संसार को अध्यात्म का एक ऐसा आलोक मिले, जिससे संपूर्ण मानव जाति आलोकित हो उठे। आज हर व्यक्ति अतीत के झूले मे झूल रहा है। इसका फलित है—तनाव। मानव को इस दुविधा से मुक्त करने के लिए 'बीति ताहि विसारि दे' पुस्तक अनुपम पाथेय वन कर सामने आई है। जिनका अथक श्रम इस पुस्तक के संपादन मे लगा है, वे महाश्रमणी साध्वीप्रमुखाजी पुस्तक की प्रस्तुति मे कहती हैं—'बीति ताहि विसारि दे' आचार्यश्री द्वारा समय-समय पर प्रदत्त और लिखित प्रवचनों एवं निबंधो का संकलन है। इसमें युवको और महिलाओ के सम्बन्ध मे जो सामग्री है, वह सोद्देश्य तैयार की गयी है। यह युवापीढ़ी को दिशाबोध देने वाली है और महिला जाति को उसकी अस्मिता की पहचान करवाकर उसके पुरुषार्थ की लौ को प्रज्वलित करने वाली है……परिश्रम के पसीने से पनपी धान की सुनहरी वाली जितनी मोहक होती है, उतनी ही मोहक है आचार्यश्री की यह कृति, जिसमें नैतिक और आध्यात्मिक विचारो का अखूट पाथेय भरा पड़ा है।"

इसमें योगसाधना, धर्म, भगवान् महावीर, युवक, नारी आदि अनेक विषयों पर मार्मिक एव हृदयस्पर्शी प्रस्तुति हुई है। ३८ आलेखो से संयुक्त यह कृति सत्य का साक्षात्कार कराने तथा महान् वनने की दिशा मे एक अनुपम प्रेरणा-पाथेय है।

बूंद-बूंद से घट भरे, भाग—१,२

आज के वैज्ञानिक युग मे वक्ताओं की कमी नही है, पर प्रवचनकार दुर्लभ है। आचार्य तुलसी धर्माचार्य है, पर रूढ प्रवक्ता नही। उनके प्रवचन में धर्म, दर्शन, विज्ञान, समाज, राजनीति एव मनोविज्ञान आदि अनेक विषयो का समावेश होता है। सन् ६० मे 'प्रवचन डायरी' के प्रकाशन के बाद प्रवचन-साहित्य की प्रथम कडी 'बूद-बूद से घट भरे' भाग १ और २ प्रकाश मे आई।

इन पुस्तको मे सन् ६५ और ६६ के प्रवचनो का संकलन है। इन प्रवचनो मे विषयो की विविधता है पर लक्ष्य एक ही है कि व्यक्ति की

चेतना को अध्यात्म की ओर उन्मुख किया जाए ।

"सुधरे व्यक्ति, समाज व्यक्ति से, राष्ट्र स्वय सुधरेगा" आचार्यश्री द्वारा दिया गया यह उद्घोष पुस्तक के नाम की सार्थकता प्रकट करता है, जैसे बूद-बूद से घट भरतो है, वैसे ही व्यक्ति-सुधार से समाज, राष्ट्र एव विश्व का सुधार अवश्यंभावी है ।

लगभग प्रवचन जैन आगमो की परिक्रमा करते हुए प्रतीत होते है, अत. इनको महावीर-वाणी का आधुनिक प्रस्तुतीकरण कहा जा सकता है । इसमे भृगुपुरोहित आदि आगमिक आख्यानो के माध्यम से त्याग, सयम, अनासक्ति और सादगी आदि भावों को जागृत करने की प्रेरणा दी गयी है ।

पुस्तक मे समाविष्ट आध्यात्मिक सामग्री इतनी सरल एवं सरस शैली मे गुम्फित है कि पाठक कभी भी इसे पढकर अपने अशांत मन को शाति की राहो पर अग्रसर कर सकता है । सपादिका महाश्रमणी साध्वीप्रमुखाजी का विश्वास भी इन शब्दो को दोहराता है कि "जिस प्रकार एक-एक बूद को सोखता सहेजता माटी का घडा एक दिन पूरा भर जाता है, वैसे ही आचार्यप्रवर के उपदेशामृत की इन बूदो को पीते-पीते हमारे जीवन का घट भी भर जाएगा ।" इसके प्रथम भाग मे ५३ तथा द्वितीय भाग मे ५१ प्रवचनो का समाहार है । प्रवचन-पाथेय की शृखला मे भी ये भाग १ एव भाग २ के नाम से प्रसिद्ध है ।

बूंद भी : लहर भी

कथा वह माध्यम है, जिसके द्वारा आम जीवन से जुडी बात सहज और सरल ढग से कही जा सकती हैं । कथा सुनने मे जितनी सुखद है, समझने मे उतनी ही सहज होती है । सुप्त चैतन्य के जागरण मे कथा का प्रभाव विलक्षण है । आचार्य तुलसी का यह कथा-सकलन जीवन-मूल्यो एवं नैतिक प्रेरणाओं से सवलित है ।

ऐतिहासिक, पौराणिक, काल्पनिक, सामाजिक एव आगमिक कथाओ से युक्त यह कथाग्रथ जीवन के समग्र परिवेश को प्रस्तुति देने वाला है । ये कथाए लोक-सस्कृति को उजागर करने वाली तथा नई प्रेरणा एव आदर्श भरने वाली है । मानव को मानव होने का वार-वार अहसास करवाकर व्यस्त जीवन मे भी अध्यात्म की ओर प्रेरित करती है ।

प्रस्तुत कहानी-सग्रह आज की कथाओ की भाति केवल भावनाओ को जगाने वाला या सस्ता प्रेम-प्रदर्शन करने वाला नही, अपितु त्याग, स्नेह, सहानुभूति, स्वावलम्बन और सहिष्णुता का स्पर्श करने वाला है ।

आचार्यश्री द्वारा कही गयी कथाओ को शब्दो का परिधान महाश्रमणी साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी ने दिया है । वे इस पुस्तक के वारे मे आश्वस्त

है कि इस कृति के माध्यम से पाठक सत्य की राह मे गतिशील बनेंगे और स्वय सत्य का साक्षात्कार कर सकेंगे।

बैसाखियां विश्वास की

आज के यान्त्रिक युग मे मानव जिस भाग-दौड़ की जिदगी जी रहा है, उसमे ऐसे उद्बोधनो की अपेक्षा है, जिसमे सक्षेप मे गंभीर एवं उपयोगी तत्त्व का निरूपण हो। 'बैसाखियां विश्वास की' पुस्तक में लेखक ने गागर मे सागर भरने का प्रयत्न किया है। अतः यह पुस्तक उन लोगों के लिए विशेष उपयोगी है, जिनके पास समय की समस्या है।

आज देश मे ऐसे धर्माचार्यो की सख्या नगण्य है, जो व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की समस्याओ पर चिन्तन करते है और समस्या का मूल पकड़कर उसको समाहित करने का प्रयत्न करते है। यह पुस्तक इस बात की साक्षी है कि इसमे विविध समस्याओ को उठाकर उसका आधुनिक सदर्भ मे समाधान दिया गया है।

इस कृति मे राष्ट्रीय, सामाजिक एव व्यक्तिगत जीवन मे नैतिक मूल्यो की प्रतिष्ठा करने की बात बार-बार दोहरायी गयी है। आज जन-जीवन मे जो अनैतिकता, अप्रामाणिकता, चरित्रहीनता और भ्रष्टाचार फैलता जा रहा है, उसे अणुव्रत के माध्यम से मिटाकर व्यक्ति के जीवन को सृजनात्मक एवं रचनात्मक रूप मे बदलने का आह्वान किया गया है। इसके अधिकाश लेख सम-सामयिक है।

पुस्तक मे समाविष्ट प्राय सभी शीर्षक आकर्षक एवं रहस्यमय है। शीर्षक पढ़कर ही पाठक लेख पढ़ने के लोभ का सवरण नही कर सकता। जैसे—'सपना . एक नागरिक का, एक नेता का', 'देश की बागडोर थामने वाले हाथ' 'फूट आईने की या आसपास की' आदि।

आचार्य तुलसी ने अपने जीवन से आत्मविश्वास की एक नई मशाल प्रस्तुत की है। यही कारण है कि उनके जीवन के शब्दकोश मे असम्भव जैसा कोई शब्द है ही नही। उनके लेखों मे आत्मविश्वास की जो ज्योति विकीर्ण हुई है, वह पग-पग पर देखी जा सकती है। ये लेख निराशा से प्रताडित व्यक्ति मे भी नयी आशा का सचार करने वाले है।

आचार्य तुलसी स्वयं इस पुस्तक के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए कहते है—"अनैतिकता बढ रही है, यह चिन्ता का विषय है। इससे भी बड़ी चिन्ता है, नैतिक मूल्यो के प्रति विश्वास समाप्त होता जा रहा है। लोक-जीवन मे उस विश्वास को उच्छ्वसित रखने के लिए समय-समय पर कुछ छोटे-छोटे आलेख लिखे गए। उन्ही आलेखो का सकलन है—बैसाखिया विश्वास की। इस संकलन को पढकर कुछ लोग भी यदि नैतिक मूल्यो के प्रति

अपना विश्वास जगा पाए तो इसमें लगे क्षणो की सार्थकता है

इन आलेखो में आध्यात्मिक मूल्यों को पुनरुज्जीवित क की तड़प दर्शनीय है। ये प्रेरक सन्देश भटके व्यक्तियो को भ. पर ले जाने मे सक्षम है तथा आज की भ्रष्ट राजनीति को ए देने वाले है।

११३ आलेखो का यह संकलन जन-जन के विश्वास को . ही, साथ ही साथ शाश्वत और सम-सामयिक विपयो पर हमारी की वृद्धि भी करेगा।

भगवान् महावीर

महापुरुप देश, काल की सीमा से परे होते है। वे समय साथ वहाकर ले जाने की क्षमता रखते है तथा अपने दर्शन से जन एक नई स्फूर्ति भरने का कार्य करते है। भगवान् महावीर भारत . अवतरित एक ऐसे महापुरुप थे, जिनके व्यक्तित्व मे विकास की ऊच विचारो की गहराई एक साथ संक्रांत थी। उनका अपार्थिव चिन्तन आ। हिंसा से आक्रात भूली-भटकी मानवता को नया दिशा-दर्शन दे रहा है

भगवान् महावीर के जीवन पर आज तक अनेको ग्रन्थ प्रक आ चुके है। उसी शृंखला में जन्म से परिनिर्वाण तक की .न संक्षिप्त शैली मे 'भगवान् महावीर' पुस्तक मे उभारा गया है। यह वहुत सीधी-सरल भाषा मे महावीर के जीवन-दर्शन को प्रस्तुत करती हजारो पृष्ठों मे जो वात नही समझाई जा सकती, वह इस पुस्तक के १ पृष्ठों मे समझा दी गयी है। अत महावीर के तेजस्वी व्यक्तित्व ; कर्तृत्व को समझने में यह जीवनीग्रंथ आवालवृद्ध के लिए उपयोगी है।

भोर भई

श्रीचन्द रामपुरिया को आचार्यश्री के प्रवचनो का प्रथम सकलनकर्त्ता कह सकते है। उन्होने सन् ५३ से ५७ मे हुए प्रवचनो को 'प्रवचन डायरी, भाग-१, २, ३' मे सकलित किया है। 'भोर भई' प्रवचन डायरी भाग-२ का द्वितीय संस्करण है। इस द्वितीय सस्करण मे प्रवचन के शीर्षको मे भी अनेक परिवर्तन हुए है तथा सामग्री को भी परिवर्धित एव परिष्कृत कर समय के अनुरूप वनाया गया है। यह पुस्तक 'प्रवचन-पाथेय' की शृंखला का चौदहवा पुष्प है।

इन प्रवचनो में जो सजीवता, कलात्मकता एवं सुवोधता उभरी है, उसका कारण है—उनकी गहरी साधना, अनुभूति की क्षमता एवं जन्मजात संवेदनशील मानस।

आचार्य तुलसी के चिन्तन में भारत की आध्यात्मिक एवं सास्कृतिक चेतना प्रतिविम्वित है, इसलिए उनके प्रवचन अध्यात्म की परिक्रमा करते रहते है। विविध विषयो से सम्वन्धित ये ८३ प्रवचन लोगो के आतरिक शक्ति-जागरण मे निमित्त वन सकेगे तथा मनुष्य के खोए देवत्व को पुनः स्थापित करने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर पाएगे।

भ्रष्टाचार की आधारशिलाएं

मन मे उत्पन्न विचार जव भापा का परिधान पहनकर जनता के समक्ष उपस्थित होते है, तव वे प्रवचन, लेख या निवन्ध का रूप धारण कर लेते है। भिन्न-भिन्न विपयो पर आचार्य तुलसी की चिन्तनधारा कभी मौखिक रूप से तो कभी लिखित रूप से जनता के समक्ष अभिव्यक्त होती रही है। 'भ्रष्टाचार की आधारशिलाए' उनका ऐसा कालजयी हस्ताक्षर है, जिसकी उपयोगिता कभी धूमिल नही हो सकती। क्योकि हर युग में भ्रष्टाचार अपना रूप वदलता है और विविध रूपो मे अपना प्रभाव वताता है।

इस आलेख मे समाज, राष्ट्र एव व्यक्तिगत जीवन में नैतिक मूल्यों की स्थापना एव उसकी उपयोगिता पर खुलकर चर्चा हुई है। समाज एव देश मे जो जडता है, भ्रष्टाचार है उसे दूर कर सुन्दर समाज की कल्पना का चित्र इस आलेख मे प्रस्तुत किया गया है। अतः यह पुस्तिका राष्ट्र को सवारने, समाज को दिशादर्शन देने एव व्यक्ति को नई सोच देने मे समर्थ है।

मंजिल की ओर, भाग-१,२

मजिल की खोज हर व्यक्ति को अभीष्ट है पर उसके लिए कुशल-मार्गदर्शक, सही राह तथा सही चाह की आवश्यकता रहती है। 'मंजिल की ओर' भाग-१,२ सचमुच मजिल की ओर ले जाने वाली महत्त्वपूर्ण कृतिया है। ये दोनो पुस्तके विवेक-जागृत कराने मे मार्गदर्शक का कार्य करती हैं। आचार्य तुलसी कुशल प्रवचनकार है। उनके प्रवचन केवल औपचारिक नही, अपितु अनुभव की गहराइया लिए हुए होते है, इसीलिए उनके प्रवचन मे एक सामान्य व्यक्ति जितना आनन्दविभोर होता है, उतना ही एक विद्वान् भी। वच्चे यदि प्रसन्न होते है तो वृद्ध भी भाव-विभोर हो उठते हैं।

'मजिल की ओर, भाग-१' मे १०४ तथा द्वितीय भाग मे ८८ प्रवचनो का सकलन है। समाज, धर्म, नीति, राजनीति आदि विविध विषयो से सम्वन्धित आलेख इनमे समाविष्ट है। इन दोनो पुस्तको मे आगम के अनेक सूक्तो तथा आख्यानो की सरल, सुवोध एवं सरस शैली मे व्याख्या हुई है।

'तीन लोक से मथुरा न्यारी' इस लोकोक्ति के पीछे छिपे नए इतिहास

को नए परिप्रेक्ष्य मे जनता के समक्ष प्रस्तुत किया गया है। तात्त्विक ज्ञान की दृष्टि से भी ये दोनो पुस्तके अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वन पडी है। इन पुस्तको में सन् ७६ से ७८ तक के प्रवचन सकलित है। ये दोनो पुस्तके धर्म और अध्यात्म की नई दिशाएं उद्घाटित कर हरेक व्यक्ति को मजिल की ओर ले जाने मे सक्षम है। इन दोनो पुस्तको का सपादन साध्वीश्री जिनप्रभाजी ने किया है।

मनहंसा मोती चुगे

साहित्य प्रकाश का रूपातर है। अन्त'प्रकाश को प्रकट करने वाली "मनहंसा मोती चुगे" पुस्तक योगक्षेम वर्प के प्रवचनो की शृखला मे पाचवी और अन्तिम पुस्तक है। इसमे ४६ प्रवचनो का सकलन है। प्रारम्भ के छह प्रवचन नमस्कार मंत्र का दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत करते हैं। कुछ लेख जीवन के व्यावहारिक विषयो का प्रशिक्षण देने वाले है।तो कुछ अणुव्रत एव प्रेक्षाध्यान की पृष्ठभूमि को अभिव्यक्त करते है। कुछ अध्यात्म की नई दिशाए उद्घाटित करते है तो कुछ समाज की बुराइयों की ओर भी इगित करते है। कुल मिलाकर इस कृति मे पाठक को मिलेगा सत्य का साक्षात्कार तथा जीवन को सजाने-संवारने के मौलिक सूत्र।

पुस्तक का नाम जितना आकर्षक एवं नवीन है, तथ्यो का प्रतिपादन भी उतनी ही सरल एवं नवीन-शैली मे हुआ है। व्यक्तित्व रूपान्तरण एव विधायक दृष्टिकोण का निर्माण करने के इच्छुक पाठको के लिए यह कृति दीपशिखा का कार्य करेगी।

महामनस्वी आचार्यश्री कालूगणी : जीवनवृत्त

साहित्यिक विधाओ मे जीवनी-साहित्य का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। जीवनी साहित्य पढने मे तो सरस होता ही है, साथ ही जीवन्त प्रेरणा भी देता है। आचार्य तुलसी ने अपने दीक्षागुरु के जीवन-पसंग को सस्मरणात्मक शैली मे लिखा है, जिसका नाम है—'महामनस्वी आचार्यश्री कालूगणी जीवनवृत्त।'

कालूगणी का जीवन ज्ञान, दर्शन और चारित्र की त्रिवेणी मे अभिस्नात था। उनका वाह्य व्यक्तित्व जितना आकर्षक और चुम्वकीय था, आतरिक व्यक्तित्व उससे हजार गुणा अधिक निर्मल और पवित्र था। वे व्यक्तित्व-निर्माता थे। तेरापन्थ मे उन्होने सैकडो व्यक्तित्वो का निर्माण किया। यही कारण है कि वे तेरापन्थ धर्मसंघ को आचार्य तुलसी जैसा महनीय एव ऊर्जस्वल व्यक्तित्व दे पाए।

इस पुस्तक मे आचार्यश्री ने सर्वत्र इस वात का ध्यान रखा है कि भापा कही जटिल नही होने पाए। इसके अध्याय भी इतने छोटे हैं कि

पाठक कहीं ऊबता नही। पुस्तक का प्रकाशकीय इस ग्रंथ की महत्ता इन शब्दों मे प्रकट करता है—"प्रस्तुत पुस्तक एक महापुरुष के जीवन के विविध पक्षो का सक्षिप्त लेखा-जोखा है, जिसमे अध्यात्म की ज्योत्स्ना, साधना की आभा और ज्ञान की ज्योति सर्वत्र अनुस्यूत है। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' के अनुसार शैशव से ही निखरता आचार्यश्री कालूगणी का असाधारण व्यक्तित्व किस प्रकार उत्तरोत्तर विराट् बनता गया, युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी ने अपनी सिद्ध लेखनी द्वारा प्रस्तुत किया है।" जीवनी साहित्य मे इस ग्रंथ का महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योकि अनेक दिलचस्प घटनाओ के कारण यह ग्रन्थ इतना रोचक बन गया है कि पाठक बार-बार इसको पढने की इच्छा रखेगा।

मुक्ति : इसी क्षण मे

"मोक्ष केवल पारलौकिक ही नही है, वर्तमान जीवन मे भी जितनी शाति, जितना आनन्द और जितना चैतन्य स्फुरित होता है, वह सब मोक्ष का ही अनुभव है"। इन विचारो को अभिव्यक्ति देने वाली लघुकाय पुस्तक है—'मुक्ति : इसी क्षण मे।'

यह कृति शारीरिक, मानसिक और वैचारिक कुठाओ, तनावो एव विकृतियो को दूर करने का सक्षम माध्यम बनी है। इससे सत्य से साक्षात्कार तथा मोक्ष से तादात्म्य स्थापित करने के लिए सहज मार्गदर्शन प्राप्त होता है।

द्वितीय संस्करण मे इस कृति के अधिकाश आलेख 'मंजिल की ओर' भाग २ पुस्तक मे समाविष्ट कर दिए गए है। २३ प्रवचनों/लेखो से युक्त यह लघुकाय पुस्तक जीवन की अनेक सार्थक दिशाओ का उद्घाटन करती है।

मुक्तिपथ

साहित्य मनुष्य को जीवन की खुराक देता है। जो साहित्य केवल शब्दजाल मे गुम्फित होता है, वह जीवन को विशेष रूप से प्रभावित नही कर सकता पर जो जीवन-चर्या को रूपातरण की प्रेरणा देकर जीवन के सही आचार का वर्णन करता है, वही साहित्य जनभोग्य हो सकता है। 'मुक्तिपथ' एक ऐसी ही कृति है, जो गृहस्थ जीवन के सामने आगमिक धरातल पर ऐसे छोटे-छोटे आदर्शो को प्रस्तुत करती है, जिससे वह सफल एव शांत जीवन जी सके।

वर्तमान के स्वच्छदताप्रिय युग मे यह कृति व्रतो का नया आलोक फैलाने वाली है तथा अहिंसा, सत्य आदि का आधुनिक सन्दर्भ में विश्लेषण करती है। यह जैन तत्त्व के अनेक पहलू जैसे अनेकात, रत्नत्रयी, सप्तभंगी, आत्मा, भाव आदि का सहज, सरल एव सक्षिप्त शैली मे विवेचन करती है।

पुनर्मुद्रण मे यही पुस्तक 'गृहस्थ को भी अधिकार है धर्म करने का' इस नाम से प्रकाशित हुई है। इसके नाम-परिवर्तन के वारे मे आचार्य तुलसी कहते है—'मुक्तिपथ' नाम अच्छा ही था पर नाम पढते ही यह ज्ञात नही होता था कि यह पुस्तक गृहस्थ समाज को तत्त्व-वोध देने की दृष्टि से लिखी गयी है। ' अतः पुनर्मुद्रण मे इसका नाम रखा गया है 'गृहस्थ को भी अधिकार है धर्म करने का।'

मुखड़ा क्या देखे दरपन में

अपने जीवन के ७५वे वर्ष के उपलक्ष्य मे आचार्य तुलसी ने किसी वडे समारोह का आयोजन न करके अन्तर्मुखता जगाने, दृष्टिकोण का परिमार्जन करने तथा आध्यात्मिक वैज्ञानिक व्यक्तित्व का निर्माण करने हेतु साधु-साध्वियो, श्रावक-श्राविकाओ को प्रशिक्षित करने का सजीव उपक्रम चलाया। 'मुखडा क्या देखे दरपन मे' पुस्तक मे योगक्षेम वर्ष मे हुए ७१ प्रवचनो का सकलन है, जिसमे अन्त चेतना जगाने के लिए दिए गये दिशा-वोध एव दिशादर्शन है।

आचार्य तुलसी की यह कृति व्यक्ति को भाषा और तर्क मे न उलझाकर भावो की गहराई मे ले जाने मे सक्षम है। प्रस्तुत पुस्तक व्यक्ति को अपने वारे मे सोचने, अन्तःकरण मे झाकने एव स्वय का मूल्याकन करने के लिए विवश करती है। इसमे सहनशीलता एव सवेदनशीलता का ऐसा स्रोत वहा है, जो समाज के सभी कूडे-कर्कट को वहा ले जाने मे सक्षम है।

पुस्तक मे महावीर के जीवन एवं दर्शन के सम्बन्ध मे भी महत्त्वपूर्ण जानकारिया दी गयी हैं। लेखक ने आध्यात्मिक और वैज्ञानिक इन दो धाराओ को जोड़ने का जो प्रयत्न किया है, वह नि सन्देह भारत के सास्कृतिक एव चिन्तन के क्षितिज पर एक नया सूर्य उगाएगा। आज मूल्याकन का हर पैमाना वैज्ञानिक है। इस परिप्रेक्ष्य मे विज्ञान को अध्यात्म से जोड़ने का सशक्त प्रयास वास्तव में स्तुत्य है, दूरदर्शिता का परिचायक है और वर्तमान के अनुकूल है। यह कृति हर वर्ग के पाठक को अभिभूत और चमत्कृत करने मे सक्षम है।

मेरा धर्म : केन्द्र और परिधि

आचार्य तुलसी ऐसे साहित्यकार है, जिन्होने देश और काल की सीमा से परे होकर सार्वभौम सत्य की प्रतिष्ठा करके मानवता का पथ आलोकित किया है। वे सुलझे हुए चिन्तक हैं। उन्हें समाज मे

जो बात ठीक नही लगती, उसका वे बेहिचक प्रतिवाद करते हैं। फिर चाहे उन्हे कितना ही विरोध सहना पड़े। 'मेरा धर्म : केन्द्र और परिधि' कृति धर्म के उस रूप को प्रकट करती है, जो क्रियाकाडों एवं जड़ उपासना पद्धति से अनुबंधित नही, अपितु जीवन को भौतिकता की चकाचौध से निकालकर अध्यात्म की गहराइयो में ले जाने मे सक्षम है। सांप्रदायिकता का जहर आज मानवता को मृतप्राय: बना रहा है। इस साम्प्रदायिक समस्या को समाधान देते हुए आचार्य तुलसी इस पुस्तक मे कहते हैं "सम्प्रदाय उपयोगी है यदि वह धर्म का प्रतिबिम्बग्राही हो। जब सम्प्रदाय कोरा सम्प्रदाय रह जाये, उसमे धर्म का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की क्षमता न रहे तो वह अनिष्टकर हो जाता है।" इस प्रकार साम्प्रदायिकता और धर्मान्धता के विरुद्ध यह कृति ऐसा वातावरण तैयार करती है, जो धर्म या मजहब के नाम पर मानवीय एकता को तोड़ने वाली शक्तियों को सबक दे सके।

अड़तीस लेखो के इस संकलन मे लेखक ने धर्म और सम्प्रदाय के सम्बन्ध मे न केवल अपनी अवधारणाओं को स्पष्ट किया है। बल्कि पाठको के बीच बनी धर्म एव सम्प्रदाय सम्बन्धी भ्रांतियो का निराकरण भी किया है। इसके अतिरिक्त "हिन्दू : नया चिन्तन, नयी परिभाषा" में हिन्दू शब्द की नयी व्याख्या प्रस्तुत की है, जो हमारी राष्ट्रीय अखण्डता को बनाए रखने मे सक्षम है।

"धार्मिक समस्याएं . एक अनुचिन्तन" लेख मे धर्म के नाम पर फैली अशिक्षा, अन्धविश्वास एव रूढिवादिता पर करारा व्यग्य किया है। तेरापंथ से सम्बन्धित अनेक लेख तेरापन्थ के इतिहास एव उसके दर्शन की समग्र जानकारी देते है। इसके अतिरिक्त विश्वशांति, नि:शस्त्रीकरण जैसे अन्य सामयिक विषयो का भी इसमे सुन्दर आकलन किया गया है। यह पुस्तक नास्तिक व्यक्ति को भी धर्म एवं अध्यात्म की ओर उन्मुख करने मे समर्थ एव सक्षम है।

नि:सन्देह कहा जा सकता है कि इसमें समझदार, संवेदनशील एवं सस्कारवान् पाठक को जीवन की नई दिशा देने का सार्थक एवं रचनात्मक प्रयास हुआ है।

राजधानी मे आचार्यश्री तुलसी के सन्देश

आचार्य तुलसी का दिल्ली मे प्रथम प्रवास सन् १९५० में हुआ। यह प्रवास अनेक दृष्टियो से ऐतिहासिक और प्रभावकारी रहा। आचार्य तुलसी ने इस प्रवास मे अपने उपदेशो द्वारा अहिंसक क्राति उत्पन्न करने का अभिनव प्रयास किया। अणुअस्त्रो मे ही शाति का दर्शन करने वाले विश्व-मानस का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया कि अणुबम और उद्जनबम के

सहार का प्रतिकार करने वाली महाशक्ति वाहरी साधनो मे नही, मानव के अन्तर् मे ही निहित है। उसको उसी मे से जगाना होगा। इस दिव्य ध्वनि ने संसार को अपनी ओर आकृष्ट किया और ससार को कुछ सोचने के लिए मजवूर किया।

अणुवम की विभीषिका से त्रस्त मानव को अणुव्रत के सजीवन से पुनरुज्जीवित करने का सत्प्रयास आचार्य तुलसी ने किया है। दिल्ली के दो मास के अल्पप्रवास मे उन्होने अज्ञान की निद्रा में सोते मानव को झकझोर कर खडा कर दिया। इस छोटे से प्रवास मे आचार्यश्री के सैकडो प्रवचन हुए पर इस पुस्तक मे केवल सात क्रातिकारी एव महत्त्वपूर्ण प्रवचनो को संकलित किया गया है। इन सात प्रवचनो मे प्रथम एव अन्तिम प्रवचन स्वागत एवं विदाई का है। इस पुस्तक के सपादक सत्यदेव विद्यालंकार कहते है—"राजधानी के पहले भाषण की प्रभात वेला मे यदि आचार्य तुलसी ने अपने काम की रूपरेखा उपस्थित की थी तो अन्तिम विदाई के भाषण की पुण्यवेला मे अपने कर्त्तव्य का प्रतिपादन किया। आदि और अन्त तथा मध्य मे दिए गए समस्त भाषणो का समन्वय किसी एक शब्द मे किया जा सकता है तो वह है 'अहिंसा।'

आज से ४४ साल पूर्व प्रदत्त इन प्रवचनो मे राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सभी समस्याओं का हल है। आचार्य तुलसी के प्रवचनों का यह प्रथम लघु प्रवचन सकलन है। पुस्तक की भाषा प्रवचन की शैली मे न होकर साहित्यिक शैली मे गुम्फित है। ये सातो प्रवचन आचार्य तुलसी के अमर सदेश कहे जा सकते है। इनको जव कभी पढ़ा जाएगा, दिग्भ्रमित मानव समाज एक नई प्रेरणा-प्राप्त करेगा।

राजपथ की खोज

समय-समय पर लिखे गए ५४ लेखो एवं ७ वार्ताओ से युक्त यह पुस्तक वैचारिक दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध और ज्ञानवर्धक है। प्रस्तुत पुस्तक चार खण्डो में विभाजित है। इसके प्रथम खण्ड 'महावीर : जीवन सौरभ' मे भगवान् महावीर के जीवन एवं उनके शाश्वत विचारो से सम्बन्धित १३ लेख संकलित हैं। ये लेख महावीर के सिद्धांत को नवीन परिप्रेक्ष्य में अभिव्यक्ति देते है। दूसरे 'शाश्वत स्वर' खण्ड मे १४ लेखो के अन्तर्गत अहिंसा, अनेकात तथा गाधीजी के जीवन-दर्शन के वारे मे अमूल्य विचारो को संकलित किया गया है। 'जीवन-मूल्य' नामक तृतीय खण्ड लोकतन्त्र-चुनाव, अध्यात्म और धर्म आदि के विषय में नई सोच उपस्थित करता है। अंतिम खंड 'प्रश्न और समाधान' मे दर्शन और सिद्धात सम्बन्धी अनेक प्रश्नो का सटीक समाधान दिया गया है।

प्रस्तुत कृति आज की घिनौनी राजनीति पर तो व्यंग्य करती ही है साथ ही लोकतन्त्र को स्वस्थ एवं तेजस्वी बनाने के सूत्रो का भी विश्लेषण करती है। सत्ता के इर्द-गिर्द विकृतियो को दूर कर राजनीति के क्षितिज को रचनात्मक दिशा देने का सार्थक प्रयास प्रस्तुत कृति मे हुआ है। साथ ही ऐसे स्वच्छ एवं प्रेरक राजनैतिक व्यक्तित्व की छवि उकेरी गयी है, जो लोकतन्त्र के सुदृढ़ आधार बन सके।'

बहुविध विषयो को अपने भीतर समेटे हुए यह पुस्तक एक विशिष्ट कृति के रूप मे उभरी है। क्योंकि इसमे वर्तमान ही नही, आने वाला कल भी प्रतिबिम्बित है अत ऐसी कृतियो की महत्ता सामयिक नहीं, अपितु त्रैकालिक है।

यह पुस्तक 'विचार दीर्घा' एव 'विचार वीथी' मे मुद्रित सामग्री का ही नया संस्करण है।

लघुता से प्रभुता मिले

हर व्यक्ति प्रभुता सम्पन्न बनना चाहता है। आचार्य तुलसी कहते है—"प्रभुता पाने का रास्ता है—प्रभुता पाने की लालसा का विसर्जन। क्योंकि जब तक यह लालसा मनुष्य पर हावी रहती है, वह अपने करणीय के प्रति सचेत नही रह सकता।" अतः लघुता ही एकमात्र उपाय है—प्रभुता पाने का। प्रस्तुत पुस्तक मे प्रभुता सम्पन्न बनने की अनेक दिशाओ एव प्रयोगो का उद्घाटन हुआ है। समीक्ष्य ग्रंथ में पुराने सन्दर्भो, मूल्यो एव आदर्शो को नए सन्दर्भो एव नए मूल्यो के साथ प्रकट किया गया है।

इस पुस्तक मे आचाराग के सूक्तो की गम्भीर एवं सरस व्याख्या है। सम्पादन-कुशलता के कारण इन प्रवचनों ने निबन्ध का रूप ले लिया है। 'आयारो' ग्रन्थ पर आधारित ये ५१ प्रवचन विविध विषयो को अपने भीतर समेटे हुए है। ये सभी प्रवचन वार्तमानिक समस्याओ से सम्बद्ध हैं तथा आगमो के आलोक मे समाधान की नई दिशा प्रस्तुत करते हैं।

इस कृति के बारे मे महाश्रमणी साध्वीप्रमुखाजी का विचार है कि इस पुस्तक के द्वारा आचार्यवर ने जन-साधारण और प्रबुद्ध—दोनो वर्गों को समान रूप से उपकृत किया है ... । ऐसी भास्वर कृतियो के अध्ययन-मनन से हमारे अज्ञान तिमिर की उम्र कुछ तो घटेगी ही।

यह पुस्तक योगक्षेम वर्ष में हुए प्रवचनों का तृतीय संकलन है, साथ ही साहित्यिक, आध्यात्मिक एवं सास्कृतिक लेखो का उपयोगी संग्रह है।

विचार दीर्घा

'विचार दीर्घा' कृति आचार्यश्री के विभिन्न सन्दर्भो मे व्यक्त विचारो का सकलन है। इस पुस्तक मे राजनैतिक परिवेश में व्याप्त अनैतिक स्थितियो

पर खुलकर चर्चा के साथ-साथ मर्यादा एवं अनुशासन की आवश्यकता पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इसमे भगवान् महावीर के विचारों का आधुनिक सन्दर्भ मे प्रस्तुतीकरण है और जैन-दर्शन के कुछ प्रमुख सिद्धातो को मूल्यो के सन्दर्भ मे व्याख्यायित किया गया है। इस प्रकार ४७ निबधो से युक्त यह संकलन अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसकी भाषा सहज, सरल एवं स्पष्ट है। सामान्य पाठक भी इसमे अवगाहन कर अमूल्य रत्नो को प्राप्त कर सकता है।

विचार-वीथी

वैचारिक क्रांति मे साहित्य अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। आचार्य तुलसी समय-समय पर प्रवचनो और लेखों के माध्यम से अपने क्रांतिकारी विचार जनता तक पहुंचाते रहते हैं। उनके साहित्य की लम्बी कडी मे बहुरगी विषयो से युक्त 'विचार वीथी' पुस्तक अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। विध्वंसात्मक कार्यों की ओर बढ़ते मानव को संरचनात्मक दृष्टिकोण देने व शक्ति को सही दिशा में नियोजित करने मे यह पुस्तक काफी उपयोगी है। इसमें भगवान महावीर, अणुव्रत, महिला समाज तथा तेरापन्थ आदि अनेक विपयों पर संक्षिप्त एवं मार्मिक ५१ लेख समाविष्ट हैं। राष्ट्रीय एकता की भावना को जागृत करने एवं नैतिकता से ओत-प्रोत जीवन जीने की प्रेरणा देने वाली इस पुस्तक मे आधुनिक समस्याओ के सदर्भ मे नए सिरे से चिन्तन किया गया है। दूसरे संस्करण में 'विचारदीर्घा' एव 'विचार वीथी' के अधिकांश लेख 'राजपथ की खोज' में सम्मिलित कर दिए गए हैं।

विश्वशांति और उसका मार्ग

यह ऐतिहासिक लेख शांति निकेतन मे होने वाले 'विश्व शाति सम्मेलन' (१९४९) मे प्रेषित किया गया था। इस लेख मे अशाति के हेतु और उसके निराकरण पर महत्त्वपूर्ण चर्चा की गयी है। इसके साथ ही सुधार का केन्द्र व्यक्ति है या समाज, इस पर गम्भीर चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। अन्त में शाति प्राप्त करने के १३ उपाय इस पुस्तिका मे निर्दिष्ट हैं, जो आज के अशात मानस को शाति की राह दिखाने मे सक्षम है।

इस आलेख मे कम शब्दों मे समाज, देश और राष्ट्र को अध्यात्म की नई स्फुरणा एव विश्वशाति के महत्त्वपूर्ण पहलुओ पर चर्चा मिलती है।

व्रतदीक्षा

व्रत मानव समाज की रीढ है अत. भगवान् महावीर ने श्रावक के लिए व्रती जीवन की महत्ता प्रतिष्ठित की। उन्होने श्रावक के लिए १२ व्रत

तथा उनके खण्डित होने के कारणो का भी वैज्ञानिक विश्लेपण किया है। "व्रत दीक्षा" पुस्तिका मे आचार्य तुलसी ने २५०० वर्ष पूर्व दिए गए इन व्रतों को विस्तार से आधुनिक भापा मे प्रकट करने का प्रयत्न किया है तथा वच्चो को भी व्रत-दीक्षा से दीक्षित करने की विधि का संकेत किया है।

यह लघु पुस्तिका सयम की महत्ता को प्रकट कर वालको को आत्मानुशासन का वोधपाठ देने वाली है।

शांति के पथ पर (दूसरी मंजिल)

'शांति के पथ पर' (दूसरी मंजिल) सर्वोदय ज्ञानमाला का पाचवा पुष्प है। ५८ छोटे-छोटे आलेखो एव प्रवचनो से युक्त यह पुस्तक विविध विषयो का संस्पर्श करती है। लगभग ४० साल पूर्व हुए प्रवचनो को इस पुस्तक मे सकलित कर सांस्कृतिक, आध्यात्मिक एवं साहित्यिक परम्पराओं का सुन्दर प्रस्तुतीकरण किया गया है। यह पुस्तक त्याग और संयम की सस्कृति को उज्जीवित रखने की प्रेरणा देती है, साथ ही आज के अशात वातावरण मे शातिपूर्ण जीवन कैसे जीया जा सके, इसका अववोध भी हमे इससे मिलता है। प्रवचनो मे प्रयुक्त दोहे, श्लोक सुग्राह्य एवं गहरे अर्थ लिए हुए हैं।

इस कृति के विचार वौद्धिक स्तर पर ही नही, अनुभूति के स्तर पर लिखे एवं वोले गए हैं इसलिए यह और अधिक मूल्यवान् कृति वन गई है।

श्रावक आत्मचिन्तन

आचार्य तुलसी आत्मद्रष्टा ऋषि हैं। वे चाहते है कि उनके अनुयायी भौतिकता मे रहकर भी आत्मा की परिधि मे रहे। आत्मद्रष्टा वनने के लिए आत्म-चिन्तन अनिवार्य है। 'श्रावक आत्मचिन्तन' कृति मे आत्म-चिन्तन के कुछ महत्त्वपूर्ण विन्दुओ का निर्देश है। ये चिन्तन-विन्दु आध्यात्मिक, नैतिक व लौकिक इन तीन भागों मे विभक्त हैं। यदि इन प्रेरक विन्दुओं पर व्यक्ति प्रतिदिन आत्म-चिंतन करे तो सुख और शाति स्वत जीवन मे अवतरित हो जाएगी।

इस कृति मे आत्म-चिन्तन के साथ-साथ व्यसन, मास, मदिरा वेश्यागमन, निरपराध हिंसा, चोरी, परस्त्रीगमन आदि विपयों पर प्रेरक सूक्तियां भी सकलित हैं। ये सूक्तिया सप्तव्यसनों से मुक्त जीवन जीने की प्रेरणा देती हैं।

इस लघुकाय पुस्तिका मे नवसूत्री तथा तेरहसूत्री योजना का उल्लेख भी है, जो चरित्रनिष्ठ जीवन जीने के आदर्श सूत्र हैं। अन्त मे कुछ प्रेरक गीत भी पुस्तिका मे संकलित हैं।

श्रावक सम्मेलन में

'श्रावक सम्मेलन में' पुस्तिका आचार्य तुलसी के क्रांतिकारी विचारों का महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। यह आचार्यश्री का ऐतिहासिक प्रवचन है, जो लगभग ४००० श्रावकों के मध्य हांसी में दिया गया। इसमे तेरापन्थ धर्मसंघ में किए गए अनेक परिवर्तनों का स्पष्टीकरण है तथा उनकी युगीन महत्ता को स्पष्ट किया गया है। तेरापन्थ के विकास-क्रम का इतिहास इस पुस्तिका के माध्यम से भलीभांति जाना जा सकता है। मौलिक सिद्धांतों को सुरक्षित रखते हुए लेखक ने जिन युगीन परिवर्तनों का सूत्रपात किया है, वह क्रांतिकारी एवं सामयिक है।

इस प्रवचन मे एक धर्मनेता का अमित आत्मवल और साहस मुखर हो रहा है। चूहे-विल्ली के रूप मे प्रसिद्ध तेरापन्थ आज जैन धर्म का पर्याय वन गया है, इसका राज भी इसमें विश्लेषित है। आचार्यश्री ने धर्मसंघ मे किए गए महत्त्वपूर्ण परिवर्तनो का स्पष्टीकरण भी इसमे किया है।

संदेश

'सन्देश' आत्मदर्शन माला का दूसरा पुष्प है। इसमे तत्त्वज्ञान तथा भारतीय संस्कृति के तत्त्वो को उजागर किया गया है। इस कृति मे धर्म के कुछ मौलिक सिद्धांतों का विश्लेषण भी है। पुस्तक के परिशिष्ट मे कवि सम्मेलन मे हुआ आचार्य तुलसी का उद्घाटन भापण तथा अन्य साधु-साध्वियों की संस्कृत आशु कविताए हिंदी अर्थ के साथ प्रकाशित हैं। अतः संस्कृत भापा के प्रेमी लोगो के लिए भी यह पुस्तक विशेष महत्त्व रखती है। अन्त मे स्वाधीनता दिवस पर गाए गए गीतो का सकलन है।

आकार मे लघू होने पर भी यह कृति हमारी ज्ञान-पिपासा को शांत करने मे सक्षम है।

संभल सयाने !

आचार्य तुलसी के प्रवचन ज्ञान और भावना - इन दोनो गुणो से समन्वित हैं। ज्ञानप्रधान प्रवचन जहां कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, उचित-अनुचित का वोध कराते है, वहा भावनाप्रधान प्रवचन पाठक के मन मे वल और पौरुष का सचार करते है।

'सभल सयाने !' एक ऐसा ही प्रवचन सकलन है, जिसमे वुद्धि और हृदय का समन्वय हुआ है। इसमे सन् १९५४ मे ववई मे हुए प्रवचनो का सकलन है। यह कृति अपने प्रथम संस्करण मे प्रवचन डायरी, भाग-२ के रूप मे प्रकाशित थी।

समीक्ष्य कृति मे समाज, देश एव राष्ट्र को नया दिशावोध तथा

अनेक विषयो पर चिन्तन-मनन प्रस्तुत किया गया है। प्रवचनों का संकलन होने के कारण पुस्तक की शैली औपदेशिक अधिक है तथा आकार मे भी कई प्रवचन अत्यन्त लघु और कई अत्यन्त विस्तृत है। अधिकांश प्रवचनो मे स्थान एवं दिनाक का निर्देश है, इस कारण ऐतिहासिक दृष्टि से भी इस कृति का विशेष महत्त्व है।

११५ प्रवचनो से सवलित यह कृति समाज के विभिन्न वर्गों का मार्ग-दर्शन करने मे सक्षम है। विशेष रूप से इसमे अणुव्रत आंदोलन का स्वर अधिक मुखरित हुआ है, क्योंकि इसी आंदोलन के माध्यम से आचार्यश्री ने देश के आध्यात्मिक एवं नैतिक उत्थान का बीडा उठाया है। ४० साल पुराने होते हुए भी ये प्रवचन आज भी समीचीन एवं पाठक की चेतना को उद्बुद्ध करने में उपयोगी बने हुए हैं।

सफर : आधी शताब्दी का

'सफर : आधी शताब्दी का' पुस्तक मे आचार्य तुलसी ने अपनी पचास वर्ष की उपलब्धियो एवं अनुभूतियो का सरस आकलन किया है। इसके अतिरिक्त सामाजिक, राष्ट्रीय, धार्मिक एव राजनैतिक अनेक समस्याओ का समाधान भी प्रस्तुत किया है। 'रचनात्मक प्रवृत्तिया' जैसे कुछ लेखों मे उन्होने अपने भावी कार्यक्रमो का विवरण प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त युवकों एवं महिलाओं को लक्ष्य करके लिखे गये कुछ प्रेरक लेख भी इसमे समाविष्ट है। इस पुस्तक मे 'राजस्थान की जनता के नाम' शीर्षक आलेख एक नए समाज एवं राज्य की संरचना के सूत्र प्रस्तुत करता है तथा राजस्थान की जनता की सुप्त चेतना को जागृत करने की अर्हता रखता है।

यह पुस्तक लेखक के जीवन, चिंतन, दर्शन एव उपलब्धियो का महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। इसमे कुल ३७ लेखों मे जैन-धर्म के मूलभूत सिद्धांत तथा भारतीय संस्कृति के अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यो का अनावरण हुआ है। संक्षेप मे कहें तो इसका सिंहावलोकन वर्तमान का पर्यालोचन एवं भविष्य का दिशानिर्धारण है। 'अमृत-सदेश' के प्राय सभी लेखो का समाहार इस पुस्तक मे कर दिया गया है।

समण दीक्षा

'समण दीक्षा' आचार्य तुलसी के क्रातिकारी अवदानो की एक महत्त्वपूर्ण कडी है। इसे आधुनिक युग का नया सन्यास कहा जा सकता है। सन् १९८० मे आचार्य तुलसी ने विलक्षण दीक्षा देने की उद्घोषणा की। इस नए पथ पर चलने का साहस छह वहिनो ने किया। दीक्षा के अवसर पर इस श्रेणी का नाम 'समण श्रेणी' रखा गया। 'समण दीक्षा' पुस्तिका मे

समण दीक्षा की पृष्ठभूमि, उसका इतिहास तथा आचार-संहिता का वर्णन है। इसके परिशिष्ट में मुमुक्षु श्रेणी की आचार-संहिता भी संलग्न है।

लघुकाय होते हुए भी यह पुस्तिका समण दीक्षा के प्रारम्भिक इतिहास की जानकारी देने मे पर्याप्त है। इस पुस्तक में समण दीक्षा का स्वरूप साहित्यिक शैली मे प्रस्तुत किया गया है। इसके कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है—

- समण दीक्षा है, अपने आप की पहचान का एक अमोघ सकल्प।
- समण दीक्षा है, मन को निर्ग्रन्थ बनाने का एक छोटा-सा उपक्रम।
- समण दीक्षा है, जीवन का वह विराम, जहा से एक नए छंद का प्रारम्भ होता है।
- समण दीक्षा है, अध्यात्मविद्या को सीखने और मुक्तभाव से बाटने का एक नया अभिक्रम।
- समण दीक्षा है, समय के भाल पर उदीयमान नये निर्माण का एक सकेत।

अनेक ऐतिहासिक चित्रो से युक्त यह कृति आचार्य तुलसी की नयी सोच एवं क्रियान्विति की साक्षी बनी रहेगी।

समता की आंख : चरित्र की पांख

'उद्बोधन' का तृतीय सस्करण 'समता की आख . चरित्र की पाख' के रूप मे प्रकाशित है। नए सस्करण मे कुछ लेखो को और जोड दिया गया है। इस पुस्तक मे अति सक्षिप्त शैली मे छोटी-छोटी घटनाओ, सस्मरणो, रूपको या कथाओ के माध्यम से अणुव्रत के विभिन्न पहलुओ को स्पष्ट किया गया है तथा नैतिक सन्दर्भो का समाज के साथ कैसे सामंजस्य बिठाया जा सकता है, इसका सरस और व्यावहारिक विवेचन है। पुस्तक मे प्रयुक्त प्राय· कथाएं और घटनाए ऐतिहासिक, सामाजिक एव लोक-जीवन से जुडी हुई है। अनेक कथाओ मे जीवन की किसी समस्या एव उसके समाधान का निरूपण है। इन कथाओ का उपयोग केवल मनोरजन हेतु नही, अपितु सरलता से तत्त्वबोध कराने के लिए हुआ है। ये जीवन्त कथाएं व्यक्ति को नए सिरे से सोचने के लिए बाध्य करती हैं।

पुस्तक को पढकर ऐसा लगता है कि आचार्यश्री ने मौखर्य या विस्तार की अपेक्षा मौन को अधिक महत्व दिया है। इसे अभिव्यक्ति का सयम कहा जा सकता है। इसमे कम शब्दो में बहुत कुछ कहने का अद्भुत कौशल प्रकट हुआ है। सम्पूर्ण कृति विविध शीर्षकों मे गुम्फित होते हुए भी अणुव्रत-दर्शन से प्रभावित है तथा उसे ही व्याख्यायित करती है।

समाधान की ओर

जिज्ञासा व्यक्ति को सत्य की यात्रा करवाती है और समाधान लक्ष्य-प्राप्ति का साधन है। 'समाधान की ओर' पुस्तक मे युवको की जिज्ञासाएं एवं आचार्यश्री तुलसी के सटीक समाधान गुम्फित है। यह पुस्तक युवापीढी से जुडी समस्त समस्याओ के समाधान का अभिनव उपक्रम है। प्रश्नोत्तरों मे धर्म की वैज्ञानिक परिभाषा एवं आज के सन्दर्भ में उसकी उपयोगिता पर भी खुलकर चर्चा की गई है। समाधायक आचार्य तुलसी ने उत्तर मे सर्वत्र अनेकात शैली का प्रयोग किया है अत. समाधान मे कही भी ऐकातिकता का दोप नही दिखाई पड़ता।

आचार्य तुलसी का मंतव्य है कि समस्याए मनुष्य की सहजात है। अत. समस्याए रहेंगी, पर उनका रूप वदलता रहेगा। कोई भी समस्या ऐसी नही है, जिसका समाधान प्रस्तुत न किया जा सके। 'समाधान की ओर' पुस्तक इसी बात की पुष्टि करती हुई केवल व्यक्तिगत ही नही, सम्पूर्ण मानव जाति के सामने खड़ी समस्याओ का समाधान करती है। इसमे जीवन के व्यावहारिक पथ को समाधान की वर्णमाला मे पिरोने का प्रशस्य प्रयत्न किया हैं अतः वहुविध समस्या एव समाधानों को अपने भीतर समेटे हुए यह पुस्तक विशिष्ट कृति के रूप मे समाज को प्रकाश दे सकेगी।

साधु जीवन की उपयोगिता

देश के नैतिक और चारित्रिक उत्थान मे साधु-सस्था का विशेप योगदान रहता है। वह देश सम्पन्न होते हुए भी विपन्न है, जहां साधु-सस्था के प्रति जन-मानस मे सम्मान का भाव नही होता। पुस्तक मे साधु-संस्था का सामाजिक और राष्ट्रीय महत्त्व प्रतिपादित है, साथ ही वैयक्तिक स्तर पर जीवन-निर्माण की बात भी साधु-संस्था द्वारा ही संभव है, यह तथ्य भी स्पष्ट हुआ है।

इस कृति मे आचार्य तुलसी ने साधु-संस्था को भार समझने वाले लोगो के समक्ष यह स्पष्ट किया है कि देश के विकास मे केवल कृपि उत्पादन ही महत्त्वपूर्ण नही, चरित्रबल का उत्थान अधिक आवश्यक है। साधु देश के चरित्रवल को ऊंचा उठाते है। अतः देश मे उनकी सर्वाधिक आवश्यकता है। एक सच्चा साधु मौन रहकर भी अपने आभामण्डल के शुद्ध परमाणुओं से जगत् के विकृत वातावरण को शुद्ध बना सकता है अतः साधु-संस्था की उपयोगिता के सामने कभी प्रश्नचिह्न नही लग सकता।

सूरज ढल ना जाए

आचार्य तुलसी ने राजनेता की भाति केवल वाह्य परिस्थितियो

को ही अभिव्यक्ति नही दी अपितु 'गहरे पानी पैठ' इस आदर्श के साथ विचारो को प्रस्तुति दी है। 'सूरज ढल ना जाए' ऐसे ही १४८ महत्त्वपूर्ण प्रवचनों का संकलन है।

यह पुस्तक सन् १९५५ मे विविध स्थानो में दिए गए प्रवचनो/वक्तव्यो का सकलन है। आचार्य तुलसी यायावर है अत. प्रतिदिन नए-नए श्रोताओं के लिए उनके प्रवचन विविधता लिए हुए होते हैं। प्रस्तुत संकलन मे अणुव्रत से सम्वन्धित लेख अधिक है। आचार्य तुलसी ने गाव-गाव, नगर-नगर घूमकर अणुव्रत आदोलन द्वारा देश के कोने-कोने मे व्याप्त अन्धभक्ति, व्यसन, दुराचार, भ्रष्टाचार आदि विकृतियो को दूर कर स्वस्थ समाज-सरचना की प्रेरणा दी है। इस प्रकार प्रस्तुत कृति में भारतीय सस्कृति एवं आध्यात्मिक मूल्यो को जीवन्त वनाए रखने का भरसक प्रयास किया गया है।

ये प्रवचन आध्यात्मिक क्षितिज पर खडे होकर समूची दुनिया और उससे जुडी परिस्थितियो को गम्भीरता से समझने मे सहयोगी वनते है। प्रवचन अति प्राचीन होने पर भी सीधे हृदय का स्पर्श करते है।

यह ग्रन्थ प्रवचन डायरी, भाग २ का नवीन सस्करण है तथा प्रवचन पाथेय के १५ वे पुष्प के रूप मे प्रकाशित है।

सोचो ! समझो !! भाग-१-३

मानव और पशु के वीच एक महत्त्वपूर्ण भेदरेखा है— सोचना और समझना। प्रकृति द्वारा प्रदत्त इस क्षमता को पाकर भी व्यक्ति उसका सही उपयोग नही करता। सोचो ! समझो !! के तीनो भाग व्यक्ति की दृष्टि को परिमार्जित कर उसे नए ढग से सोचने-समझने एव करने की प्रेरणा देते है। जीवन को उन्नत वनाने वाले मूल्यो का जीवन मे अवतरण कैसे करे, इसका सुन्दर विवेचन इन कृतियो मे मिलता है।

द्वितीय सस्करण मे सोचो ! समझो !! भाग १ प्रवचन-पाथेय भाग ४ के रूप मे, सोचो ! समझो !! भाग दो प्रवचन पाथेय भाग ५ के रूप मे तथा सोचो ! समझो !! भाग तीन स्वतंत्र रूप से भी प्रकाशित है तथा प्रवचन-पाथेय की श्रृंखला मे यह भाग ६ के रूप मे प्रसिद्ध है।

अनेक प्रवचनो से सवलित ये कृतिया अनेक कथाओ एव रूपको से सबद्ध होने के कारण वालक, युवा एव वृद्ध सवके लिए पठनीय वन गयी है।

संकलित एवं संपादित साहित्य

आचार्य तुलसी के साहित्य से सकलन किया गया साहित्य भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। यहां हम उन पुस्तकों का परिचय दे रहे है, जो निबंध या प्रवचन के रूप मे प्रकाशित नही है, वरन् दूसरों के द्वारा सकलित सपादित है। साथ ही आचार्यश्री के नाम से प्रकाशित उन पुस्तको का परिचय भी दिया जा रहा है, जिनमे विचारों की अभिव्यक्ति स्फुट रूप से हुई है जैसे हस्ताक्षर, सप्त व्यसन आदि। शैक्षशिक्षा आचार्यश्री की स्वोपज्ञ कृति नही है, वरन् सकलन के रूप मे इसका प्रणयन किया गया है अतः इसे मूल साहित्य के परिचय के अन्तर्गत नही दिया है।

अणुव्रत अनुधारता के साथ

इसमे मुनि सुखलालजी ने २६ विषयो पर आचार्य तुलसी के साथ हुई वार्ताओ का सकलन किया है। इसमे प्रश्नकर्त्ता मुनि सुखलालजी है। उत्तर आचार्य तुलसी के है पर उनको भाषा मुनिश्री ने दी है अतः संकलित एवं सपादित ग्रंथ सूची में इसका परिचय दे रहे हैं।

समाज, राष्ट्र, धर्म, शिक्षा एवं संस्कृति आदि से सम्बन्धित अनेक व्यावहारिक जिज्ञासाओ का सटीक समाधान इसमे प्रस्तुत है। प्रश्नोत्तरों के माध्यम से आचार्यश्री के मौलिक विचारों की अवगति देने वाली यह पुस्तक अनेक दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है।

अनमोल बोल आचार्य तुलसी के

मुनि मधुकरजी द्वारा संकलित इस लघु पुस्तिका मे यद्यपि सूक्तो की संख्या बहुत कम है पर इन सुभाषितो मे एक वक्रता है, जिससे उनमे मर्म-भेदन की कला प्रकट हो गयी है। उक्ति-वैचित्र्य के कारण ये सभी वाक्य मानव को कुछ सोचने, समझने एव बदलने को मजबूर करते है।

लघु आकार की इस पुस्तिका को हर क्षण अपना साथी बनाया जा सकता है तथा तनाव से बोझिल मन को शात करने के लिए कभी भी पढकर शाति प्राप्त की जा सकती है।

एक बूंद : एक सागर (भाग १-५)

साहित्य के मूल्यपरक, दिशासूचक एवं सारपूर्ण वाक्य का नाम सूक्ति है। सूक्तियो मे मर्म का स्पर्श करने की शक्ति होती है। सूक्ति साहित्य का प्राचीन काल से अपना विशिष्ट महत्त्व रहा है, क्योकि इसमे नीति और

उपदेश की प्रेरणा गागर मे सागर की भांति निहित रहती है। सूक्त/सुभाषित की एक बूंद मे भी चेतना का अथाह सागर लहराता है, जो अन्तर् एवं वाह्य को आमूलचूल बदलने की क्षमता रखता है। रामप्रताप त्रिपाठी का मतव्य है कि विधाता की इस मानव-सृष्टि मे सूक्तियां कल्पतरु के समान है। इनकी सुविस्तृत सघन छाया मे जीवनपथ की थकान को ही दूर करने की शक्ति नही, प्रत्युत् भविष्य की दुर्गम यात्रा को सुखपूर्वक सम्पन्न करने का अक्षय तथा दैवी सम्वल इनमे निहित रहता है।

आचार्य तुलसी अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग की दिव्य मशाल है। उन्होने प्रयत्नपूर्वक सूक्तियां नही लिखी पर उनकी तपःपूत एव अनुभवपूत वाणी ने स्वतः ही सूक्तियों का रूप धारण कर लिया है। इनमे उनके जीवन के अनुभवो का अमृत निहित है। वे ६० वर्षो से अनवरत प्रवचन दे रहे हैं। अनेक संदेश एवं पत्र भी उन्होने प्रदत्त किए है। उन सव प्रवचनो/लेखो/संदेशो एवं काव्यो का स्वाध्याय कर पाच खडो मे लगभग २२०० पृष्ठो मे सूक्तियो का सकलन तैयार गया किया है, जिसका नाम है—एक बूद : एक सागर। आज के तीव्रगामी युग मे इतने विशाल वाङ्मय का समग्र अध्ययन सबके लिए सभव नही है अतः पाच खंडो मे प्रकाशित यह सूक्ति-संकलन पाठको की इस समस्या का हल करने वाला है। इसकी हर बूद मे पाठक को अस्तित्व की पूर्णता का अनुभव होगा तथा साथ ही आचार्यवर की वहुश्रुतता का दिग्दर्शन भी।

किसी अन्य लेखक ने ४००० से अधिक विषयो पर ज्ञानामृत की वर्षा की हो, विषय की आत्मा का स्पर्श कर उसे जनभोग्य एव विद्वद्भोग्य वनाया हो, यह शोध का विषय है। किसी एक ही लेखक की २५ हजार सूक्तियो का संकलन भी आश्चर्य का विषय है।

इसके प्रत्येक खड मे मूर्धन्य विद्वान् एव समालोचक का मंतव्य भी प्रकाशित है। इसके प्रथम खड मे विजयेन्द्र स्नातक कहते है—"आचार्य तुलसी के सार्थक प्रयोगो को संकलित करने का समणी कुसुमप्रज्ञाजी ने स्तुत्य प्रयास किया है। यह प्रयास असाधारण है, श्रमसाध्य है, मंगलमय है, स्थायी महत्त्व का है। यह ग्रंथ केवल पढ़ने और मनोरंजन का विषय न होकर मननीय, विचारणीय, वदनीय, संग्रहणीय और दैनन्दिन जीवन के पग-पग पर हमारा पथ प्रशस्त करने वाला है। मैंने इस ग्रंथ की एक-एक बूद में जीवन-ज्योति का प्रकाश विकीर्ण होते देखा है। एक-एक विन्दु मे अमृत-विन्दु का आह्लाद रस पाया है। जीवन-जागृति, वल और वलिदान की भावना का जैसा आलोक इस ग्रंथ की पक्ति-पंक्ति मे समाया हुआ है, वैसा मुझे अन्यत्र सुलभ नही हुआ।"

दूसरे खड मे आचार्य विद्यानदजी तथा डा० रामप्रसाद मिश्र, तीसरे

मे पंडित दलसुखभाई मालवणिया, चौथे खंड में विश्वम्भरनाथ पांडे तथा पांचवें खंड मे डा० नागेन्द्र तथा डा० निजामुद्दीन की समालोचना संलग्न है।

ये पांचो खड सभी वर्गों के व्यक्तियों को जीवन की खुराक दे सकेंगे, ऐसा विश्वास है।

तुलसी-वाणी

आचार्य तुलसी के प्रवचनो से मुनिश्री दुलीचदजी ने एक सकलन तैयार किया, जिसका नाम है—'तुलसी वाणी'। इस पुस्तक में लगभग ६८ शीर्षकों पर विचार सकलित हैं। सकलयिता ने न इसे सूक्ति का आकार दिया है और न पूरे प्रवचन का, पर विचारो की दृष्टि से यह पुस्तक छोटी होते हुए भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। इन प्रवचनाशों मे विशुद्ध अध्यात्म की पुट है तो साथ ही सामयिक समस्याओ का समाधान भी है।

पथ और पाथेय

पथ पर चलने वाले हर पथिक को पाथेय की अपेक्षा रहती है। छोटी सी यात्रा मे भी पथिक अपने पाथेय के साथ चलता है फिर ससार के अनंत पथ को पार करने के लिए तो पाथेय की अनिवार्यता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

'पथ और पाथेय' पुस्तक मुनिश्री श्रीचंदजी द्वारा सकलित की गयी है। इसमें लगभग २३ विषयों पर आचार्य तुलसी की सूक्तियो एवं प्रेरक वाक्यों का संकलन है। पॉकेट बुक के रूप मे इस पुस्तक को पाठक हर वक्त अपना साथी बनाकर प्रेरणा प्राप्त कर सकता है। आचार्य तुलसी की आध्यात्मिक गगरी से छलकने वाली ये बूंदें पाठक के लिए पाथेय का कार्य करती रहेंगी।

सप्त व्यसन

व्यसन जीवन के लिए अभिशाप है। एक व्यसन भी जीवन के सारे सुखो को लील जाता है फिर सात व्यसनो से ग्रस्त मनुष्य का तो कहना ही क्या ? आचार्य तुलसी पिछले ६० सालो से व्यसनमुक्ति का अभियान छेड़े हुए हैं और उसमे कामयाबी भी हासिल की है।

'सप्त व्यसन' नामक लघु पुस्तिका मे सात व्यसनो के ऊपर प्रेरक सूक्तियों का संकलन है। यह निबन्ध के रूप में स्वतंत्र रचना नहीं, अपितु संकलनात्मक है। अत्यन्त प्राचीन संग्रह होने पर भी इसके वाक्य भाषा की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध एवं प्रेरक हैं। उदाहरण के लिए निम्न सूक्तो को प्रस्तुत किया जा सकता है—

१. व्यसन आत्मा का अभिशाप है।

२. जुआ एक अग्नि है, उसकी ज्वाला व्यक्ति को साय-साय कर जला देती है ।
३. मांस-भक्षण आत्मदुर्बलता का सूचक है ।
४. शराब एक व्यसन है, जिससे मनुष्य अपने ज्ञान और चेतना सव कुछ खो देता है ।

सीपी सूक्त

साहित्य जीवन के अनुभवो की सरस अभिव्यक्ति है । आचार्य तुलसी के साहित्य मे अनेक ऐसे वाक्य है, जिन्हे प्रेरक, मर्मस्पर्शी और जीवन्त कहा जा सकता है । उनके साहित्य से सूक्ति-संकलन का कार्य अनेक रूपो मे प्रकाशित हुआ है । उन्ही मे एक प्राचीन संकलन है—सीपी सूक्त ।

ये सूक्तियां किसी एक विषय से सम्वन्धित नही, पर समय-समय पर सन्त-मन मे उठने वाले विचारो की अभिव्यक्तिया हैं । इन वाक्यो मे मानवता का दिव्य सदेश है । ये विचार पाठक की सवेदनाओ को तो जागृत करते ही हैं साथ ही जनता को उद्‌वोधित करने का व्यग्य भी इनमे समाहित है ।

हस्ताक्षर

'हस्ताक्षर' आचार्य तुलसी के विचारो का नवनीत है । इसमे प्रतिदिन लिखे गए प्रेरक वाक्यो का सकलन है । ये विचार दिनाक एवं स्थान के साथ प्रस्तुत हैं, इसलिए इस पुस्तक का ऐतिहासिक महत्त्व भी वढ जाता है । इसमें मुख्यत: सन् ७०,७१,८३,८४ एव ८५ मे लिखे गए अनुभूत वाक्यों का समाहार है । अनेक वाक्य महावीर एव आचार्य भिक्षु की वाणी के अनुवाद है—

खण जाणाहि—क्षण को पहचानो (वालोतरा ९ अग १९८३)
तिण्णो हु सि अण्णवं महं, किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ ?
महान् समुद्र को तर गया तो फिर तीर पर आकर क्यो रुका ?
(रायपुर, १० सित० १९७०)

कही कही सस्कृत के सुभाषितो को भी प्रतिदिन के विचार मे लिख दिया गया है । जैसे—

अग्निदाहे न मे दुःखं, न दुःखं लोहताड़ने ।
इदमेव महद्दुःखं, गुन्जया सह तोलनम् ।।
(पर्वतसर १८ जन० १९७१)

अवर वस्तु में भेल हुवै, दया में हिंसा रो नहिं भेलो ।
पूरब नै पश्चिम रो मारग, किणविध खावै मेलो रे ।।
(भादलिया, २१ जन० १९७१)

इस प्रकार इसमे विविधमुखी सूक्तियों का सकलन है। इस कृति का महत्त्व इसलिए अधिक बढ जाता है चूकि यह आचार्यप्रवर के हाथ से लिखे गए सूक्तो का सकलन है, किसी अन्य व्यक्ति द्वारा चयनित सूक्त उसमें नही है।

शैक्षशिक्षा

आचार्य तुलसी एक जागरूक अनुशास्ता है। अपने अनुयायियों को विविध प्रेरणाएं देने के लिए वे नई-नई विधाओं मे साहित्य-सर्जना करते रहते है। उन्होने लगभग १००० व्यक्तियो को अपने हाथो से संन्यास के मार्ग पर प्रस्थित किया है। अतः नवदीक्षित साधु-साध्वियो को सयम, अनुशासन, सहिष्णुता आदि जीवन-मूल्यो की प्रेरणा देने हेतु उनकी एक महत्त्वपूर्ण सकलित कृति है—'शैक्षशिक्षा'।

सोलह अध्यायो मे विभक्त इस कृति मे आगम तथा आगमेतर अनेक ग्रथो के पद्यो का सानुवाद उद्धरण है तथा आचार्य भिक्षु, जयाचार्य द्वारा रचित महत्त्वपूर्ण गेय गीतो का समावेश भी है। इस ग्रंथ मे अनेक विषयों से सम्बन्धित जानकारी भी एक ही स्थान पर मिल जाती है। जैसे स्वाध्याय से सम्बन्धित प्रकरण मे स्वाध्याय, उसके भेद, स्वाध्याय का महत्त्व आदि। अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों का समाहार होने से यह संकलित कृति प्रवचनकारो के लिए भी महत्त्वपूर्ण वन गयी है।

यह अप्रकाशित कृति जीवन को सुन्दर वनाने एव मानवीय मूल्यो को लोकचित्त मे संचरित करने मे अपना विशिष्ट स्थान रखती है।

पद्य एवं संस्कृत साहित्य

(इस पुस्तक में हमने आचार्य तुलसी के गद्य साहित्य का ही परिचय एवं पर्यवेक्षण प्रस्तुत किया है। किंतु आचार्य तुलसी उत्कृष्ट कोटि के कवि ही नहीं, मधुर संगायक भी है। चरित काव्य एव गीति काव्य की दृष्टि से इस शताब्दी के कवियों मे उनका नाम शीर्ष पर रखा जा सकता है। विभिन्न प्रसंगो पर आशुकवित्व के रूप मे निःसृत हजारो पद्य तो अभी अप्रकाशित ही पडे है। यहां हम पाठकों की जानकारी हेतु उनकी काव्य कृतियों एवं संस्कृत-भाषा मे लिखित ग्रथो का नामोल्लेख मात्र कर रहे है।)

पद्य-साहित्य

अग्नि परीक्षा
अणुव्रत गीत
अतिमुक्तक आख्यान (अप्रकाशित)
आचार बोध
कालूयशोविलास
चदन की चुटकी भली
चदनबाला आख्यान (अप्रकाशित)
जागरण (सकलित)
डालिम चरित्र
तेरापथ प्रबोध
थावच्चापुत्र आख्यान (अप्रकाशित)

नंदन निकुज[1]/
पानी मे मीन पियासी
भरत मुक्ति
मगन चरित्र
मा वदना
माणक महिमा
योगक्षेम वर्ष व्याख्यान
शासन सगीत
(अप्रकाशित)
श्रद्धेय के प्रति
श्री कालू उपदेश वाटिका
सस्कार बोध
सेवाभावी
सोमरस[2]

संस्कृत साहित्य

कर्त्तव्य षट्त्रिंशिका
कालूकल्याणमन्दिर
जैन सिद्धान्त दीपिका
पंचसूत्रम्

भिक्षुन्यायकर्णिका
मनोनुशासनम्
शिक्षाषण्णवतिः
सघषट्त्रिंशिका

---

१. श्री कालूउपदेशवाटिका का परिवर्धित एवं परिष्कृत संस्करण।
२. 'श्रद्धेय के प्रति' का परिवर्धित एव परिष्कृत संस्करण।

आचार्य तुलसी के जीवन की कुछ महत्त्वपूर्ण तिथियां

२० अक्टूबर १९१४ : जन्म, लाडनूं (राज०)
५ दिसम्बर १९२५ : दीक्षा, लाडनूं (राज०)
२१ अगस्त १९३६ : युवाचार्यपद, गंगापुर (राज०)
२७ अगस्त १९३६ . आचार्यपद, गंगापुर (राज०)
२ मार्च १९४९ . अणुव्रत-प्रवर्त्तन, सरदारशहर (राज०)
१२ अप्रैल १९४९ : अणुव्रत यात्रा-प्रारंभ, रतनगढ़ (राज०)
८ जुलाई १९६० : तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह, केलवा (राज०)
१८ सितम्बर १९६१ : धवल-समारोह, बीकानेर (राज०)
८ फरवरी १९६५ : मर्यादा महोत्सव शताब्दी, बालोतरा (राज०)
४ फरवरी १९७१ : युगप्रधान आचार्य के रूप में सम्मान, बीदासर (राज०)
१९७२ : प्रेक्षाध्यान का शुभारभ, जयपुर (राज०)
१३ जनवरी १९७२ : साध्वीप्रमुखा मनोनयन, गंगाशहर (राज०)
१६ नवम्बर १९७४ : षष्टिपूर्ति समारोह, दिल्ली
१८ नवम्बर १९७४ महावीर पचीसौवी निर्वाण शताब्दी, दिल्ली
२३ दिसम्बर १९७५ : पचासवा दीक्षा-कल्याणक, लाडनू (राज०)
२० फरवरी १९७७ कालू जन्म शताब्दी, छापर (राज०)
४ फरवरी १९७९ उत्तराधिकारी का मनोनयन, राजलदेसर (राज०)
९ नवम्बर १९८० जैन शासन मे संन्यास की अभिनव श्रेणी—समण-दीक्षा,
११ फरवरी १९८१ जयाचार्य निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष में अनुशासन वर्ष का प्रारम्भ, सरदारशहर (राज०)
२६ अगस्त १९८१ : जयाचार्य निर्वाण शताब्दी समारोह, दिल्ली
२२ सितम्बर १९८५ . अमृत महोत्सव
१४ फरवरी १९८६ भारत ज्योति अलकरण, राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिह द्वारा राजस्थान विद्यापीठ उदयपुर का सर्वोच्च अलंकरण
२१ फरवरी १९८९ से ११ जनवरी १९९० योगक्षेमवर्ष, लाडनू (राज०)
१९९२-९३ : भिक्षु चेतना वर्ष
१४ जून १९९३ : वाक्पति अलकरण
३१ अक्टूबर १९९३ इंदिरा गांधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार
१९९३-९४ : अणुव्रत चेतना वर्ष
१८ फरवरी १९९४ . आचार्यपद का विसर्जन, नए आचार्य की नियुक्ति

पुस्तक संकेत-सूची

प्रयुक्त संदर्भ-ग्रंथ-सूची

अणुविभा (स-सोहनलाल गाधी, अणुव्रत विश्व भारती, १९८९)
अणुव्रत (पाक्षिक) (अखिल भारतीय अणुव्रत समिति)
अणुव्रत अनुशास्ता के साथ (मुनि सुखलाल, आदर्श साहित्य संघ)
अमरित वरसा अरावली मे (साध्वी प्रमुखा कनकप्रभा, आदर्श साहित्य सघ)
अमृत महोत्सव, स्मारिका (सं०-महेन्द्र कर्णावट, अमृत महोत्सव राष्ट्रीय समिति)
आचार्य तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ (श्री जैन श्वेतावर तेरापथी महासभा)
आधुनिक गद्य एव गद्यकार (जेकव पी० जार्ज, कानपुर ग्रथम्, रामवाग)
आधुनिक निवध (रामप्रसाद किचलू, द्वादश स १९७४ राजकिशोर प्रकाशन)
आह्वान (आचार्य तुलसी, जैन विश्व भारती, लाडनू)
एक बूद · एक सागर (सं०- समणी कुसुमप्रज्ञा, जैन विश्व भारती, लाडनू)
कवीर (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन. दिल्ली)
कवीर साहित्य का सास्कृतिक अध्ययन (डा० आर्या प्रसाद त्रिपाठी, किताव घर-दिल्ली)
कला और सस्कृति (डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, साहित्य भवन, प्रयाग)
जव महक उठी मरुधर माटी (सा० प्रमुखा कनकप्रभा, आदर्श साहित्य सघ)
जैन भारती[1] (पत्रिका) (श्री जैन श्वेतावर तेरापथी महासभा)
तुलसीदास (डॉ० माताप्रसाद गुप्त, हिंदी परिपद्, प्रयाग विश्वविद्यालय)
तेरापथ टाइम्स (समाचार पत्र) (अखिल भारतीय तेरापंथ युवक परिपद्)
तेरापंथ दिग्दर्शन (सं०-मुनि सुमेरमल, जैन विश्व भारती)
दिनकर के पत्र (स०-कन्हैयालाल फूलफगर, दिनकर शोध सस्थान)
दक्षिण के अंचल मे (साध्वी प्रमुखा कनकप्रभा, आदर्श साहित्य संघ)
धर्म और भारतीय दर्शन (श्री जैन श्वेतांवर तेरापंथी महासभा)
धर्मचक्र का प्रवर्तन (युवाचार्य महाप्रज्ञ, अमृत महोत्सव राष्ट्रीय समिति)
पथ और पाथेय (सं०-मुनि श्रीचंद, अजंता प्रिंटर्स, जयपुर)
पाव-पाव चलने वाला सूरज (साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा, आदर्श साहित्य सघ)
प्रवचन डायरी (आचार्य तुलसी, श्री जैन श्वेतांवर तेरापंथी महासभा)

---

१ सन् १९८४ तक यह पत्रिका साप्ताहिक थी, किंतु अब [illegible] है।

प्रेमचंद (नरेन्द्र कोहली, वाणी प्रकाशन, दिल्ली)
प्रेमचंद के कुछ विचार (प्रेमचंद)
Problems of style (M. Murre)
वहता पानी निरमला (साध्वी प्रमुखा कनकप्रभा, आदर्श साहित्य संघ)
भरतमुक्ति (आचार्य तुलसी, आदर्श साहित्य सघ, द्वितीय स० १९९०)
मा वदना (आचार्य तुलसी, आदर्श साहित्य संघ)
मेरे सपनो का भारत (महात्मा गांधी)
युवादृष्टि (पत्रिका) (अखिल भारतीय तेरापंथ युवक परिषद्)
रश्मियां (मुनि श्रीचंद 'कमल', आदर्श साहित्य संघ)
रसज्ञ रजन (महावीरप्रसाद द्विवेदी)
रामराज्य (पत्रिका) (कानपुर से प्रकाशित)
विचार और तर्क (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी)
विचार और विवेचन (डॉ० नगेन्द्र)
विज्ञप्ति (समाचार वुलेटिन) (आदर्श साहित्य संघ)
विवरणपत्रिका (पत्रिका) (श्री जैन श्वेतांवर तेरापन्थी महासभा)
व्यावहारिक शैली विज्ञान (डॉ० भोलानाथ तिवारी, शब्दकार, दिल्ली)
सस्मरणो का वातायन (साध्वी कल्पलता, आदर्श साहित्य संघ)
समीक्षात्मक निवंध (विजयेन्द्र स्नातक, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली
साहित्य और समाज (सं० जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी, राज्यपाल एण्ड सन्स)
साहित्य का उद्देश्य (प्रेमचद)
साहित्य का मर्म (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी)
साहित्य का श्रेय और प्रेय (जैनेन्द्र कुमार)
साहित्य विवेचन (क्षेमचन्द्र सुमन तथा योगेन्द्र कुमार मल्लिक)
साहित्य · समाज शास्त्रीय संदर्भ (सं०-डा० विश्वम्भरदयाल गुप्ता)
साहित्यालोचन (डा० श्यामसुन्दरदास इंडियन प्रेस लि० प्रयाग)
सिद्धांत और अध्ययन (वावू गुलावराय)
हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली भाग-७ (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली)
हस्ताक्षर (आचार्य तुलसी, आदर्श साहित्य संघ)
हिंदी साहित्य का इतिहास (आचार्य रामचद्र शुक्ल)
हिंदी साहित्य मे राष्ट्रीय काव्य (डा० के० के० शर्मा)